चाणक्य और चन्द्रगुप्त

हरिनारायण आप्टे

शिक्षा भारती

प्राक्कथन
चाणक्य और चन्द्रगुप्त

हिमालय सब पर्वतों का राजा माना जाता है। शिखर की ऊँचाई, उस की वनस्पतियाँ, भव्य शोभा, महानदियों का उद्‌गम, उसका विस्तृत क्षेत्र, वहाँ रहने वाले हिंसक जीव, गगनचुम्बी वृक्ष आदि इसकी महानता के उदाहरण हैं। इस पर्वत के वन गहन तथा भयंकर हैं। सर्दी के कारण यहाँ के पशुओं की खाल भी मोटी तथा गर्म होती है, और जो मनुष्य वहाँ रहते हैं वे इन्हीं पशुओं को मारकर इनकी खाल का उपयोग वस्त्र रूप में करते हैं।

कितना ही भयंकर और दुर्गम स्थान हो, ऐसा कभी नहीं हुआ कि मनुष्य वहाँ अपने रहने का प्रबन्ध न कर सके। जहाँ मनुष्य की रहने की इच्छा होती है वह घर बना ही लेता है; और नहीं तो तरह-तरह के पत्तों आदि से ही वह अपना निवास-स्थान तैयार कर लेता है। इसी न्याय के अनुसार इस पर्वत में जहाँ-जहाँ संभव है रानटी, खासिया, भील आदि जंगली तथा गुराखिया आदि अन्य जातियों के कुछ लोग रहते हैं। जहाँ रहने योग्य स्थान होगा वहाँ मनुष्य न रहता हो, ऐसा कहीं देखने में नहीं आएगा। इसके अतिरिक्त काश्मीर से लगे हुए पर्वत के भाग और पूर्व के पठारों में भी मनुष्य रहते हैं। जिस काल का वर्णन हम करने जा रहे हैं उन दिनों वहाँ के निवासी अपने जानवरों को इस पर्वत पर हाँक कर ले जाते और वहाँ उन्हें स्वतन्त्र करके सुन्दर बाजे बजाते अथवा वन-पुष्पों की मालाएँ बनाते थे। वे मालाएँ वे अपने मित्रों, माता-पिताओं और स्वपालित पशुओं के गले में भी पहनाते थे। कभी-कभी वे स्वयं भी ऐसी मालाएँ धारण करते थे। खाने का समय आने पर सब मित्र एकत्रित होते और साथ ही खाते थे।

जिन दिनों की चर्चा हम कर रहे हैं, मगध देश और गंगा की सीमा के कुछ उत्तर में रहने वाले मनुष्य पहाड़ पर गये हुए थे। गर्मी के दिन थे। सूर्य भगवान् इस ऋतु में सब स्थानों को थोड़ा-बहुत प्रकाश प्रदान करते हैं। पर्वत-शिखरों पर अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक समय तक रंग-बिरंगी किरणें खेलती रहती हैं। वहाँ की सर्दी से भी इस मौसम में कष्ट नहीं होता, बल्कि वहाँ के निवासियों को तो इस ऋतु में आनन्द ही प्राप्त होता है। इसी सुहावने समय में ऊपर वर्णित प्रांत में वहाँ के लोग पहाड़ों पर से अपने पशुओं को लेकर नीचे उतर रहे थे। नीचे अपने रहने के स्थान पर जब ये लोग पहुँचे तो पशु इधर-उधर तितर-बितर हो गये। एक मनुष्य एक पशु के माथे पर हाथ फेरने लगा। पशु इससे आनन्दित हुआ। धीरे-धीरे सब पशु उसी मनुष्य के पास एकत्रित हो गये। उस व्यक्ति ने सब पशुओं को बाँध दिया। वह

अन्दर जाना ही चाहता था कि एक वृद्ध पुरुष उसके पास आया और उससे बातचीत करने लगा। इतने में ही एक और वृद्ध आ गया। फिर एक चौथा मनुष्य भी आया। ऐसे ही धीरे-धीरे 8-10 वृद्धों की मण्डली जम गई। इस समय सूर्यास्त हो गया और सर्दी बढ़ने लगी। पूर्णिमा की रात थी, इसलिए चांदनी छिटकी हुई थी। सब वृद्ध बैठे थे। वृद्ध लोगों की मण्डली में क्या बातें होंगी? वे अपनी युवावस्था की कोई कहानी कहेंगे–और क्या? पर आज वैसी चर्चा नहीं हुई। एक वृद्ध ने कहा, मगध का राजा गृहपति जो यवनों के साथ युद्ध कर रहा था, लड़ाई के मैदान से भाग गया और उसकी पत्नी को मैंने मगध की ओर भागकर जाते देखा है। इस घटना से सबको दुःख हुआ और यवनों की ही चर्चा करने लगे। यवनों ने कई स्थानों पर आक्रमण कर शान्ति भंग कर दी है और पर्वतेश को हराकर यवन गंगा-तट तक के सब प्रदेश जीत लेने के उद्योग में हैं। ये बातें भी वृद्धों ने कहीं। इन सब बातों ने उनके मन में घोर असन्तोष पैदा कर दिया। वह पहला मनुष्य, जो गुराखी जाति का था, बोला–"जो समय बीत गया, सो तो बीत ही गया। अब संसार में हमारे जैसों के लिए सुख नहीं है। यदि ऐसी भविष्यवाणी किसी ने की होती कि हमारा देश इन यवनों की चपेट में आ जाएगा, तो मैं इन लोगों को इस भूमि पर पैर रखते ही चीर डालता। पर आज जब वह प्रसंग प्रत्यक्ष रूप में आंखों के सम्मुख आ गया, तो हम सब केवल उसकी कहानियां ही कह रहे हैं। पर्वतेश का नाश हो जाए और सो भी हम लोगों के रहते! इससे अच्छा तो यह होता कि हम अपने प्राण दे देते।"

जब वृद्ध ये बातें कह रहा था तो उसका शरीर काँप रहा था। उसका एक-एक शब्द उसके अन्त:करण को चीरता हुआ निकल रहा था।

उसकी वाणी ने अन्य वृद्धों के दिल पर भी पर्याप्त प्रभाव डाला। यद्यपि उन्हें अपने काम से काम था–उनको इन सब बातों की बहुत कम पहचान रहती थी कि कौन राजा कहां से आया और कहां गया। जब वे हिमालय के एकदम पूर्व भाग में होते तो उन्हें यह सूचना न मिलती कि पश्चिम में क्या हो रहा है? परन्तु सिकन्दर की स्थापित की हुई पंजाब और मगध की सीमा के उत्तर में इन बेचारों को यवनों द्वारा विशेष कष्ट पहुँचने लगा था। सिकन्दर हिन्दुस्तान में बीस ही महीने रहा था। परन्तु पंजाब के राजा को पूरी तरह हराने के पश्चात् उसकी राज्य जीतने की इच्छा और भी प्रबल हो गई। इसलिए उसने गंगा की सीमा लांघकर मगध पर हमला करने की इच्छा की। उसकी इस इच्छा के कारण ही ऊपर वर्णित मध्य-प्रदेशों के लोगों को बहुत कष्ट पहुँचा। उसकी सेना जानवरों को मारती, कभी-कभी स्त्रियों को भगाकर ले जाती और इसी तरह के अन्य भी कितने ही दुष्टतापूर्ण कार्य करती। लोग उसके इन आक्रमणों से इतने ऊब गये कि उन्होंने अपने जानवरों तथा प्राणियों को लेकर हिमालय के अन्दर तथा गहन प्रदेश में रहना श्रेयस्कर समझा। जंगली जानवरों को मार खा लेते तो कुछ हानि नहीं, पर इन दुष्टों का भार सहन नहीं किया जा सकता। यही इन सबके विचार थे। ऐसा अनुभव उन्हें एक बार हो चुका था, इसलिए यवनों का नाम सुनकर उनका रक्त खौल उठना स्वाभाविक ही था। ये बातें बतला देने के बाद गुराखी लोगों के ऊपर बताये गये विचार पाठकों को अनुचित नहीं प्रतीत होंगे। उन्होंने एक के बाद दूसरी कितनी ही स्वानुभूत अथवा सुनी हुई कहानियां ग्रीक अर्थात् यवनों के जुल्म के बारे में सुनाईं। ग्रीक लोगों का वृषभ-यज्ञ करना तथा बलि चढ़ाना अर्थात् विजय होने पर किसी

का हृष्ट-पुष्ट बैल लाकर बलि चढ़ा देना आदि बातें उन लोगों ने कहीं। इन सब दुःखों से वे बहुत ही मर्माहत हुए। इन यवनों पर शासन करने के लिए कोई बलशाली व्यक्ति पैदा होगा कि नहीं, वे सदा ईश्वर से यही प्रार्थना करते थे। ईश्वर ने उनकी विनती सुनी हो, अब तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला।

ऊपर यह चर्चा हो रही थी, कि उस वृद्ध की लड़की दौड़ी हुई आई और बोली–'पिताजी, कपिला के नये बच्चे का पता नहीं है। आज पहली बार वह अपनी मां के पीछे-पीछे गया था। अभी दूध दुहने के समय मैं उस बच्चे को ढूँढ़ने लगी तो कहीं मिला नहीं। वह कितना सुन्दर बछड़ा था!"

अन्तिम शब्द बड़े ही दुःख के साथ उच्चारित किये गये थे, और उसकी आंखों में अश्रु भी दृष्टिगोचर हुए। उनके यहां पशुओं की संख्या कम न थी, परन्तु उनमें से एक का भी कम होना उनके लिए दुखदायी था। जिस गाय का बछड़ा आज खो गया था, उस गाय तथा उसके बछड़े पर इनका विशेष स्नेह था। उस समय पशु ही धन थे। इसलिए जिसके पास जितने अधिक जानवर होते वह उतना ही बड़ा धनी समझा जाता था तथा एक विशेष प्रकार की गाय जिसके पास होती थी वह बड़ा ही भाग्यशाली समझा जाता था। खोया हुआ बछड़ा उसी विशेष प्रकार की गाय से उत्पन्न हुआ था। इसलिए उस वृद्ध का मन बहुत विचलित हुआ। वह इस मण्डली से उठ खड़ा हुआ। यवन लोग किस तरह उनके जानवरों को चुराकर ले जाते हैं, यह उसने अभी ही सुना था। इसलिए अपने बछड़े का खो जाना उसे एक बुरा चिह्न प्रतीत हुआ। उसने सोचा, कदाचित् बछड़ा पीछे ही रह गया हो और कोई यवन उसे लेकर चला गया हो। उसने इस बछड़े की खोज आरम्भ कर दी। उसने इस बात की खोज की कि उसके जानवर कितनी दूर तक गये थे, चरवाहों की दृष्टि उस बछड़े पर कितनी दूर तक थी; उस बछड़े को और किस-किसने देखा था; अन्त में उस बछड़े को किसने देखा, इसी तरह नाना प्रकार की खोज उसने की। इससे उसे मालूम हुआ कि बछड़ा पहाड़ पर था। मगर नीचे जब जानवरों को लौटाया गया तो किसी ने उसे नहीं देखा। लोगों का विचार था कि या तो वह बछड़ा कहीं भटक गया होगा अथवा किसी सिंह या अन्य हिंसक पशु ने उसे चट कर लिया होगा। परन्तु वह वृद्ध इस तर्क को सुनकर हाथ पर हाथ रखकर बैठने वाला न था। उसने यह निश्चित कर लिया कि वह बछड़े का पूरी तरह पता लगाये बिना अन्न ग्रहण नहीं करेगा। उसने अपना शस्त्र ले लिया और यह कहता हुआ कि जो मेरे साथ आना चाहे आये, पहाड़ पर चढ़ने लगा।

ऊपर यह बात तो कही ही जा चुकी है कि वह पूर्णिमा की रात्रि थी। ग्रीष्म ऋतु होने के कारण आकाश एकदम निर्मल था। चन्द्रमा की शीतल किरणों में आकाश मुस्करा रहा था। ऊपर हिमाच्छादित चोटियाँ चन्द्रमा के प्रकाश में बड़ी भली प्रतीत हो रही थीं। ऐसा ज्ञात होता था कि आकाश-गंगा पृथ्वी पर उतर आई है। हिमालय पर रहने वाले समस्त वन्य पशु भी इस शीतल शोभा से मानो शान्त-से हो गये थे।

यह शोभा थी तो अवश्य आकर्षक, पर इस वृद्ध ब्राह्मण का मन अपने सुलक्षणयुक्त बछड़े की ओर लगा था। उसके नेत्र बछड़े को खोज रहे थे, और उसके कान उस बछड़े की आवाज़ सुनने के लिए व्याकुल हो रहे थे। उस वृद्ध के साथ कई तरुण भी उस पहाड़ पर चढ़

रहे थे। पर उनके पैरों में वह तेज़ी न थी जो कि इस वृद्ध के पैरों में थी। विशिष्ट चोटी पर पहुँचकर उसने सब साथियों को अलग-अलग मार्ग से जाकर बछड़े की खोज करने के लिए कहा और स्वयं भी एक मार्ग पर अग्रसर हुआ। उस मार्ग में उसने एक-एक झाड़ी और गड्ढे आदि खोज डाले; पर सब व्यर्थ। बछड़े का कहीं पता न लगा। निराश होकर वह एक ऐसे मार्ग से नीचे उतरने लगा जो बहुत ही दुर्गम था। वह बछड़ा खोजने की धुन में इतना लीन था कि उसने यह भी न सोचा कि इस मार्ग से उतरना ठीक होगा या नहीं। वह कितनी ही बार ऊपर-नीचे चढ़ा-उतरा था, परन्तु वह मार्ग इतना दुर्गम था कि रास्ते में उसे अड़चनें आने लगीं। होते-होते तीन चौथाई रास्ता तय हो गया और एक चौथाई ही शेष रहा। जब वह शेष एक चौथाई रास्ते पर पहुँचा तो वहाँ एक रास्ता और भी फूट निकला जो मगध देश जाता था। यहाँ पहुँचकर वह दुविधा में पड़ गया। इसी रास्ते से, जिससे उतर रहा हूँ, उतरा चलूँ या उस नये फूटे हुए मार्ग से चलूँ? यही उसकी समस्या थी। बड़ी देर तक वह विचार में पड़ा रहा; पर कुछ निश्चित न कर पाया। अन्ततः वह जिस मार्ग से उतर रहा था उसी से उतरना निश्चित किया। अभी वह थोड़ा ही नीचे उतरा था कि उसे किसी छोटे बच्चे के रोने का स्वर सुनाई पड़ा। पर उसे जल्दी विश्वास न हुआ कि उस गहन वन में बच्चा कहाँ से आयेगा? उसने अपने कानों की भूल समझी और नीचे उतरने लगा, पर बच्चे की रोदन-ध्वनि और भी स्पष्ट सुनाई पड़ने लगी। यह क्या चमत्कार है, जानना चाहिए, यह सोचकर वह मगध-देश की ओर जाने वाले रास्ते पर मुड़ा, क्योंकि रोने का आर्त्तरव उसी ओर से आ रहा था।

उस मार्ग पर वह पाँच-सात सौ पग चला होगा कि उसने सुना, एक वट-वृक्ष के नीचे से बच्चे के रोने का स्वर आ रहा है। वह उस ओर तीव्र वेग से दौड़ा। उसने वहाँ एक श्वेत कपड़े में लिपटे हुए बालक को देखा जो चिल्ला-चिल्ला कर रो रहा था। वृद्ध का मन उस बालक को देखकर कुलबुला उठा। उसने उस बालक को उठाकर अपनी छाती से लगा लिया। फिर उसे चाँदनी में लाकर देखा और ज़ोर से बोल उठा–"हे शिवशंकर भगवान्, मैं अपने बछड़े को ढूँढने आया और तुमने मुझे यह बालक प्रदान किया। कैसे होंगे इसके माता-पिता जो इसे इस गहन वन में छोड़ गए। मैं दरिद्र अवश्य हूँ, पर इस बालक का पालन-पोषण जी-जान से करूँगा।"

जो भी हो, बालक किसी का सहारा पाकर चुप हो गया और उस वृद्ध के पेट से और चिपक गया। उस वृद्ध ने इसे भगवान् की देन समझा तथा इस बात में कोई गूढ़ तत्त्व अवश्य होगा, यह सोचकर बालक को ले लिया और अपनी राह नीचे उतर चला। नीचे अन्य साथियों के पास पहुँचकर उसे यह मालूम हुआ कि उसका बछड़ा भी मिल गया है। अब उसके आनन्द का क्या ठिकाना? वह इधर-उधर कहता फिरा–"कैलाश भगवान् की इच्छा मुझे यह बालक प्रदान करने की थी, और मेरे ही हाथों बालक की जान बचवानी थी, इसीलिए उन्होंने मेरे बछड़े को भटका दिया था।" इस वृद्ध ने कितने ही आदमियों को वह बालक दिखाया। सबका यही विचार था कि बालक किसी उच्च वंश का है। लोगों ने उसके अंग पर एक रत्न-जटित रक्षा-बन्धन भी देखा।

ऊपर वर्णित घटना को 15-16 वर्ष हो गये। इस समय तक यवनों ने पंजाब में अपना

पूरा अधिकार जमा लिया था। सिकन्दर ने कितने ही प्रांतों को जीतकर वहाँ अपने प्रतिनिधियों को रख अपने देश का रास्ता नापा था। पर्वतेश को सिकन्दर ने हराया और उसके शरण में आ जाने पर उसी को वह राज्य वापस कर दिया। इतने ही में पर्वतेश अपने को बड़ा भाग्यशाली समझने लगा तथा अपने को यवनों का प्रतिनिधि कहलाने में गर्व का अनुभव करने लगा। वह उस परतन्त्रता में ही अपने को धन्य समझने लगा और इस बात की बाट देखने लगा कि अन्य राजा भी उसी की श्रेणी में आ जायें। अपने को यवनों का प्रतिनिधि समझ कर वह अन्य राज्यों को भी हानि पहुँचाने लगा। उसने अपनी सेना में ग्रीक लोगों को भर्ती किया। स्वयं आर्य होते हुए भी वह म्लेच्छपन करने लगा। सिकन्दर ने कितने ही अधिकारी इसी पर्वतेश के अधिकार में रखे थे। यह बड़प्पन उसने पर्वतेश को ही दिया था। इसी प्रकार जगह-जगह यवनों की भाषा का प्रचार होने लगा और उसके साथ संस्कृत-विद्या का नाश। इससे संस्कृत के पण्डित मन-ही-मन कुढ़े। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सिकन्दर ने स्वयं तथा उनके अन्य अधिकारियों ने आर्य स्त्रियों से अत्याचारपूर्वक विवाह किए। इसी तरह पंजाबी स्त्रियों के सम्बन्ध यवनों से होने लगे। पर साधारण मनुष्यों के मन में उन यवनों के लिए बड़ी घृणा थी, इसलिए वे पंजाब छोड़कर गंगा के उस पार अथवा मगध में जाने लगे।

मगध देश पर उस समय नन्दराज राज्य करते थे। मगध बहुत सम्पन्न था। मगध की राजधानी उस समय पाटलिपुत्र थी। यह राजधानी आर्य-बल, आर्य-बुद्धि तथा आर्य-विद्या का केन्द्र थी।

पंजाब के उत्तर में गान्धार देश की राजधानी तक्षशिला थी। वर्तमान समय में जिसे 'कन्धार' कहते हैं, उसी को प्राचीन काल में 'गान्धार' कहते थे। 'गान्धार' देश प्राचीन काल में बहुत ही प्रसिद्ध था। महाभारत तथा पुराणों में इस नगरी का नाम कितनी ही बार कितने ही कारणों से आया है। कौरवों की माता गान्धारी इसी देश की थी। गान्धार की पददलित करके सिकन्दर ने वहाँ अपना राज्य जमाया था और उस समय तक्षशिला यवनों की विद्या का केन्द्र हो गया था। इसीलिए आर्य पण्डित बहुत असन्तुष्ट थे। ऐसे ही एक पण्डित के आश्रम में अब हम पाठकों को ले चलने वाले हैं।

आश्रम शब्द हमने कह तो दिया, पर उस आर्य विष्णुशर्मा की पर्णकुटी आश्रम कहलाने योग्य न थी। उसमें उसका और उसकी वृद्धा माता का निर्वाह भी बड़ी कठिनाई से हो पाता था। दरिद्रता का तो जैसे वहाँ निवास ही था। सरस्वती और लक्ष्मी में आपस में द्वेष है, यदि यह बात किसी को प्रत्यक्ष रूप में देखनी होती तो वह उस पर्णकुटी में देख पाता। आर्य विष्णुशर्मा बड़ा ही प्रखर विद्वान् तथा वेद को भलीभाँति जानने वाला था, नीतिशास्त्र में कोई उसकी समानता न कर सकता था, धनुर्विद्या में वह द्रोणाचार्य के समान था, उसने अपने शिष्यों को पढ़ाने के लिए नाना प्रकार के ग्रन्थ सुलभ भाषा में, भोजपत्र तथा ताड़पत्रों पर लिखकर अपनी उस नन्हीं-सी पर्णकुटी में किसी प्रकार रख छोड़े थे। उसके पिता उसी के समान विद्वान तथा उसी के समान दरिद्र भी थे। उसके पिता की मरे सात-आठ वर्ष हो गये थे। उसकी माता ने इस शोक से विह्वल हो सांसारिक माया छोड़ दी थी और वह फिर से सांसारिक माया में फँसेगी, इसकी कोई आशा न थी। उस वृद्धा की सेवा

उसी आर्य विष्णुशर्मा को करनी चाहिए थी, और उसने अपनी माता की सेवा के लिए कुछ उठा न रखा था। धीरे-धीरे वृद्धा अत्यन्त अस्वस्थ होती जाती थी और उसकी सेवा के लिए उसे कड़ा परिश्रम करना पड़ता, पर कभी भी उसके मन में यह बात न आई। वृद्धा उसकी इस सेवा से बहुत प्रसन्न होती और उसे हमेशा आशीर्वाद देती रहती। उसको इसी आशीर्वाद में सब कुछ मिल जाता। वह इसी में अपने श्रम का सब फल पा जाता तथा उसे इस बात की चिन्ता न रहती कि चार दिन से गले के नीचे कुछ उतरा है अथवा नहीं। विष्णुशर्मा उन दरिद्रों की श्रेणी का नहीं था जो अपनी दरिद्रता का ढिंढोरा चारों ओर पीटते फिरते हैं। उस ब्राह्मण की बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी और कितने ही विद्यार्थी उसके पास विद्याध्ययन के निमित्त आते थे, पर जब से यवनों की विद्या का प्रचार हो गया था, तब से कोई विरला ही आता था और दूसरे इन दिनों विष्णुशर्मा की माता बहुत बीमार थी, इसलिए उसका सारा समय उसी की सेवाशुश्रूषा में व्यतीत हो जाता। उसे विद्यार्थियों को पढ़ाने का समय ही नहीं मिलता था। कुछ भी हो, यह ब्राह्मण दरिद्र–महादरिद्र था, प्रातःकाल जितना अनाज खाने भर को आवश्यक होता उतना ही जुट पाता था, अधिक नहीं, और संध्या समय राम-भरोसा! धीरे-धीरे एक दिन उसकी वृद्धा माता अधिक बीमार हो गई। इतने दिन से वह बुढ़ापे के गढ़े में पैर लटकाये बैठी थी, पर अब न सँभल सकी। श्वास-रोग बढ़ गया। पुत्र ने उस वृद्धा की सेवा तथा औषधि में कोई कसर उठा न रखी, पर सब व्यर्थ। उसी रात चार घड़ी रात बीते वह बुढ़िया यह कहते हुए चल बसी–"बेटा, तेरा भाग्योदय शीघ्र होगा। तूने मेरी इतनी सेवा की है, वह व्यर्थ नहीं जाएगी।"

पुत्र को यह बात कुछ अच्छी न लगी, उसे बहुत दुःख हुआ। उस समय उसके पास कोई धीरज बंधाने वाला भी न था। बेचारे को अपना दुःख अपने आप शान्त करके बुढ़िया का क्रिया-कर्म करना पड़ा। यह सब काम उस ग़रीब ने कैसे किये और उसके मन की स्थिति उस समय क्या थी, सो तो वही जाने। क्रिया-कर्म हो जाने के पश्चात् तक्षशिला में ही पड़े रहने का कोई कारण उस विद्वान् ब्राह्मण को न मिला। उलटे इस यवन राज में रहने से उसे चिढ़ हो गई, जहाँ उसकी विद्या की अब कोई पूछ न रही थी। उसने सोचा, किसी आर्यराज में चलकर रहना चाहिए जहां विद्या की पूछ हो। और वह अपनी विद्याओं को राजा पर प्रकट कर सके, और उस आर्य राजा को यवनों का नाश करने का प्रोत्साहन भी दे सके। उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि पूर्ववत् यहां एकमात्र आर्यों का राज्य रह जाए। विद्वान् मनुष्यों को स्वदेश से अधिक और क्या प्यारा होता है? जहाँ जन्म हो और जीवन के कुछ दिन बीत जायें वही स्वदेश हो जाता है, इस विचार से तो यवनों का भी यही देश हो जाएगा। तब तो यह देश आर्यावर्त न रहकर म्लेच्छों का देश हो जाएगा। ऐसी अवस्था में इसी स्थान से चिपटकर रहना ठीक नहीं, बल्कि बाहर जाकर अपने देश का उद्धार करने की चेष्टा करनी चाहिए, ऐसा उस ब्राह्मण के मन में आया। जब भिक्षा माँगकर ही पेट भरना है, तो परदेश में जाने से क्या हानि? वहाँ अपनी विद्या और गुण के ग्राहक मिलेंगे इसकी भी सम्भावना है। इन्हीं सब बातों को सोच विष्णुशर्मा ने अपनी वह पर्णकुटी छोड़ना निश्चित कर लिया। पर्णकुटी छोड़ना उसके लिए कठिन न था, पर ताड़पत्र और भोजपत्र पर लिखित ग्रन्थ क्या होंगे? उन ग्रन्थों को उसी कुटी में छोड़ देना उचित न था। पर साथ ले जायें तो कैसे? ग्रन्थों को छोड़ना उसके लिए उतना ही कठिन तथा दुःखदायी था जितना कि माँ जीवित होती

तो उसे छोड़ जाना होता। पर केवल बुरा ही मालूम होने से क्या हो सकता है? कोई-न-कोई रास्ता तो निकालना ही चाहिए। इन्हीं सब विचारों में वह बेचारा फँसा था। भयंकर दुष्काल पड़ने पर जिस तरह दरिद्र माँ-बाप विवश होकर स्वयं भूख से तिलमिलाने पर बच्चों को दूसरे को सौंप देते हैं वैसी ही अवस्था विष्णुशर्मा की हो रही थी। पीठ पर लादकर उन ग्रन्थों को ले जाना सम्भव न था, वाहन खरीदने के लिए पास एक दमड़ी न थी। अगर कोई दानी वाहन दे भी दे तो उस वाहन से नदी-नाले कैसे पार होंगे। अगर मान लें कि नदी-नाले से वाहन ले भी जा सकें तो वाहन देता ही कौन है? तब निराश होकर उसने अपने ग्रन्थ एक मित्र के सुपुर्द किये और मगध देश की दिशा में बढ़ा।

ऊपर कहा ही जा चुका है कि पाटलिपुत्र उस समय बहुत प्रसिद्ध नगर था। उत्तर भारत में आर्यों के थोड़े-बहुत ऐसे राज्य थे जो यवनों के राज्य में नहीं रहना चाहते थे। ऐसे ही लोग पाटलिपुत्र में जाकर रहते और भविष्य में क्या होता है, इसकी राह देखते थे। मगधदेश का राज्य उस समय बहुत विस्तृत था। सिकन्दर के सैनिकों ने गंगा पार कर मगध पर भी अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। पर्वतेश (पोरस) राजा को हराकर पंजाब अपने अधीन कर लेने के बाद सिकन्दर को यहाँ आकर अच्छी चपत लगी। आगे बढ़ने से सिकन्दर के सैनिकों ने स्पष्ट इनकार कर दिया। वे इन लड़ाइयों से ऊब चुके थे। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा–'आगे बढ़कर हम अपना नाश नहीं करवाना चाहते।' अन्त में हारकर सिकन्दर को लौट जाना पड़ा था। मगध देश के वीरों के सामने सिकन्दर और उसके सैनिकों की कुछ न चली। मगध के वीरों ने पहले ही से युद्ध की तैयारी कर ली थी। एकाध झड़प जब सिकन्दर पर पड़ गई, तो उसने निराश होकर स्वदेश का मार्ग पकड़ा।

आज कितने ही वर्षों से पाटलिपुत्र पर महाप्रतापी नन्द का राज था। विष्णुशर्मा जिस समय पाटलिपुत्र आया, उस समय धनानन्द नामक राजा राज्य करता था। यवन राज्यों के समस्त पंडित इसी स्थान पर एकत्रित हुए थे। यहाँ उन्हें यथेष्ट मान और गौरव मिला, जिससे उनके हृदय में मत्सर उत्पन्न हो गया। विष्णुशर्मा के आने से पूर्व ही ऐसे कितने ही पण्डित वहाँ आकर रहने लगे थे। राजा तथा वहाँ के राज-पण्डितों को यह बात पहले तो कौतुकपूर्ण मालूम हुई, पर बाद में मगधराज के दान तथा बड़प्पन की धूम सारे भारत में मच गई। तब अधिकाधिक पंडित आकर मगधराज का आश्रय प्राप्त करने लगे। मगधराज का राज-दरबार विद्वानों का अखाड़ा था। दरबार में बात-बात पर पंडितों का वाद-विवाद होने लगता और राजपंडितों को अपनी हार माननी पड़ती। सब पंडितों में पारस्परिक द्वेष और जलन थी। विष्णुशर्मा जब वहाँ पहुँचे तो अन्य पंडितों की तरह किसी राजकर्मचारी की चापलूसी कर राजदरबार में प्रवेश करना उचित न समझा। जब राजदरबार लगा था तब वह धड़धड़ाते हुए दुर्वासा मुनि की भाँति जा पहुँचे और राजा को आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद में कहे जाने वाले पद उनके स्वरचित थे। उन्होंने जब धीर, गम्भीर तथा उच्चवाणी में वे पद कहे तब सब पंडित आश्चर्यचकित हो उनकी ओर देखने लगे। उनकी इस मुद्रा को देख सब सभा-पंडितों ने जान लिया कि यह अवश्य कोई असाधारण विद्वान् तथा तेजस्वी ब्राह्मण है, तथा इसके इस सभा में रह जाने से हमारी कोई गिनती न रह जाएगी और इसके द्वारा हमारा एक भी काम निकलने का नहीं। ऐसा सोचकर दो-चार अग्रगण्य

पंडित आपस में फुसफुसाने लगे।

इधर राजा धनानन्द पर भी इस ब्राह्मण की वाणी का प्रबल प्रभाव पड़ा। उसने उठकर ब्राह्मण को अपने पार्श्व में स्थान दिया। यह बात सभा-पंडितों को बहुत बुरी लगी। आज तक किसी भी पंडित का राजा ने इतना सम्मान न किया था; अन्य बाहरी पंडितों को तो राज-पंडित लाते और राजा से उसका नाम, ग्राम और काम सुनाया करते, तब राजा उन्हें कोई स्थान देता था। लेकिन इस पंडित को तो राजा ने उठकर अपनी दाहिनी ओर स्थान दिया अर्थात् सब पंडितों के सिर के ऊपर। फिर उन अन्य पंडितों को यह बात भला क्योंकर भाती? वे इस बात की ताक में लगे कि जितना इस पंडित का सम्मान हुआ है उतना ही अपमान हो जाए तो अच्छा। और इसी के लिए वे युक्ति खोजने लगे।

इधर राजा ने उस पंडित से–"आप कहाँ से पधारे ?" आदि प्रश्न पूछे, तथा पंडित ने "मैं तक्षशिला से आया हूँ" आदि उत्तर दिये। यह स्थिति देख एक राजपंडित उठ खड़ा हुआ, और बोला–"राजन्। आये हुए अतिथि का सम्मान करना आप-जैसे पुरुषों के योग्य है ही। पर जिसको आदर और सम्मान दिया जा रहा है वह इस योग्य है भी कि नहीं, इसका विचार करके ही जो कुछ करना हो, किया जाए। ऐसी हम सब शरणागतों की इच्छा है। यवनराज आजकल हमारे राज्य पर आँख गड़ाये बैठे हैं, ऐसी दशा में वे किसको किस उद्देश्य से यहाँ भेजें, इसका कुछ ठिकाना नहीं। हमारे विश्वासघात ने ही यवनों को आर्यावर्त में जमाया है। तक्षशिला पूर्ण रूप से यवनों के अधिकार में है, और ये महाशय वहीं से आये हैं। अभी कल ही एक गृहस्थ तक्षशिला से यवनों के अत्याचार से घबराकर आया है। वह यह कह रहा था कि यवन एक ब्राह्मण भेजकर यहाँ के भेद मालूम करने वाले हैं। इस ब्राह्मण को यहाँ कोई जानता नहीं, न ये ही किसी को पहचानते हैं;–ऐसी दशा में इन पर कैसे भरोसा किया जा सकता है? यह भेदिया ही है, ऐसा हम नहीं कहते। पर मान लीजिए हो ही, तो सर्प को दूध पिलाकर जिस तरह पछतावा करना पड़ता है, उस तरह का प्रसंग न आ सके, इसीलिए मैंने इतनी निर्भयता से यह बात कही।"

हिरण्यगुप्त अर्थात् धनानन्द महादानी अवश्य था; पर इसकी प्रकृति चंचल और संशयी थी। सिकन्दर ने भी कई बार कई राजाओं को ऐसा ही धोखा दिया था, इसलिए उसे उस राजब्राह्मण की बातों में तथ्य मालूम हुआ। यह ब्राह्मण बिना किसी आज्ञा के झोंके के साथ राज-दरबार में प्रविष्ट हुआ है। यह विद्वान् तो प्रतीत होता है, पर इसमें विद्वानों-जैसी नम्रता नहीं है। इस बात को सोचकर राजा ने यह निश्चय किया कि इसके लक्षण तो ठीक नहीं हैं। इसलिए वह बोला–"मेरे सभा-पंडित ने जो बात मुझे सुनाई, वह अक्षरशः सत्य है। आपके अन्दर आने पर मैंने आपका आदर किया। परन्तु आपकी यहाँ किसी से जान-पहचान है?–यह बिना बतलाये आप इस स्थान पर विद्यमान रहें, यह तो मेरे विचार से आपको भी ठीक नहीं जँचेगा। और यह राजनीति के विरुद्ध भी है। इसलिए इस पाटलिपुत्र में आपकी जान-पहचान के किसी विश्वासी व्यक्ति का परिचय आप दें..."

बात सुनकर उस ब्राह्मण का शरीर क्रोध से लाल हो गया। वह एकदम बोला–"अरे राजा, तू कहता क्या है? यवनों के राज्य से ऊबकर किसी आर्य राजा के यहाँ आने और अपने नीति-ज्ञान एवं धनुर्विद्या द्वारा उसका भला करने तथा उस राजा की सहायता से

यवनों का नाश करने की इच्छा से तेरा यश सुनकर तो मैं यहाँ आया, और अब उन्हीं यवनों का मैं भेदिया हूँ, जिनका मैं स्वयं नाश करना चाहता हूँ?"

उसकी यह निर्भीक वाणी सुनकर सभी राजपंडितों को विश्वास हो गया कि अब राजा उस ब्राह्मण से क्षमा माँग उसे अपने दरबार में रहने के लिए कहेगा। पर उसका उत्तर संतोषप्रद नहीं, ऐसा मन में सोचकर अग्रणी बोला–"महाराज, क्या जो भेदिया बनकर आयेगा वह यह कहेगा कि मैं यवनों का भेदिया हूँ, उनसे मुझे प्रेम है? यह बात तो खुली ही है कि वह अपने को यवनों का शत्रु कहेगा और कोई उस पर सन्देह करेगा तो वह क्रोधित भी होगा। पर दूरदर्शी पुरुषों को इनके जाल में नहीं आना चाहिए। अब इनका अपमान हो गया और इन्हें बुरा लगा। पर यदि राज्य ही नष्ट हो जाएगा तो कितना दुःख होगा? महाराज, हम आपका ही अन्न खाते हैं। यह तो हमारा कर्तव्य ही है कि जब आप पर विपत आते देखें तो आपको उससे सावधान कर दें। फिर आप अपनी और हम प्रजाजनों की रक्षा करने में समर्थ हैं ही।"

इस अन्तिम बात ने राजा का संशय और भी बढ़ा दिया। वह ब्राह्मण से बोला–"ब्राह्मणदेव, आप जब तक विश्वास करने योग्य कोई बात उपस्थित न कर सकें तब तक के लिए राज-दरबार से निकल जाए। जब हमें आप पर विश्वास हो जाएगा, तो हम आपका यथेष्ट आदर करेंगे। तब तक के लिए आप आसन छोड़ दें।" यह सुनते ही उस ब्राह्मण का शरीर मारे क्रोध के जल उठा। वह उठकर जाते-जाते यह प्रतिज्ञा करता गया–"यदि मैं सच्चा ब्राह्मण होऊँगा तो इस नन्दवंश का समूल नाश कर डालूँगा और जो मेरे हाथ आयेगा उसी को यहाँ का राजा बनाऊँगा तथा उसी के हाथों यवनों का नाश कराऊँगा।" इतना कहकर उसने अपनी चोटी खोल दी और यह प्रतिज्ञा की–"जब तक मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर लूँगा तब तक इस चोटी को हाथ नहीं लगाऊँगा।" वह ब्राह्मण बड़बड़ाता हुआ राज-सभा से बाहर निकल गया। किसी ने भी उसकी ओर ध्यान न दिया, प्रत्युत लोग उसके बड़बड़ाने पर हँसने लगे।

इधर राजसभा से बाहर निकलकर वह तेजस्वी ब्राह्मण यह भी निश्चय कर बैठा कि मैं इस पाटलिपुत्र में अन्न-जल भी ग्रहण न करूँगा, इसलिए नगर के बाहर चला। वह थोड़ी ही दूर गया होगा कि सूर्य अस्त होने लगा। थोड़ी दूर पर कुछ बालक आपस में खेल रहे थे।

यह गुराखियों के लड़के विचित्र खेल खेल रहे थे। वे इस तरह का नाटक कर रहे थे कि सिकन्दर ने पंजाब पर अधिकार जमा लिया एवं उसके अधिकारी अन्य राज्यों पर भी आँखें गड़ा रहे हैं। कुछ लड़के यवन बने थे, और कुछ आर्य। जो 15-16 वर्ष का लड़का आर्यों का राजा था, वह अपने सरदारों को बड़ी-बड़ी आज्ञाएँ दे रहा था। उस लड़के का तेजस्वी मुख देखकर ब्राह्मण को विश्वास न हुआ कि वह गुराखियों का लड़का है। इसके अन्दर अवश्य कोई छिपी बात है, ऐसा उसके मन में विचार आया और उसने उस बात का पूरी तरह से पता लगाने का निश्चय किया।

लड़कों का खेल बड़ी देर तक होता रहा। उतने ही समय में ब्राह्मण ने उस बालक की नाना प्रकार की परीक्षा कर ली। अन्त में लड़के थककर एक जगह एकत्रित हुए। तब यह ब्राह्मण उनके पास जाकर बोला–"बालक! मेरी इच्छा है कि मैं तेरा हाथ एक बार देखूँ।

मुझे देखने दे।” बालक ने अत्यंत नम्रता के साथ ब्राह्मण को नमस्कार कर अपना दाहिना हाथ उसकी ओर बढ़ा दिया। उस बालक का हाथ देख ब्राह्मण को बहुत आनन्द हुआ। उस पर चक्रवर्ती राजा के सब लक्षण स्पष्ट दिख रहे थे। ऐसे सुलक्षणयुक्त बालक का गुराखी के पेट से जन्म होना अथवा उनके द्वारा पाला जाना अवश्य आश्चर्यपूर्ण था। उस ब्राह्मण ने सामुद्रिक दृष्टि से उस बालक की परीक्षा की। ज्यों-ज्यों उस बालक के सुलक्षण इस ब्राह्मण की आँखों के सामने आने लगे त्यों-त्यों उसकी यह प्रबल इच्छा होती गई कि इसके माँ-बाप के पास जाकर इससे सम्बन्धित बातें पूछूँ, और हो सके तो उनसे इसे माँग लूँ। इस विचार से उसने इस बालक से पूछा–“क्या तू मेरे साथ चलेगा? मेरे साथ चले तो मैं तुझे सब विद्या सिखाऊँगा। शस्त्रास्त्र तथा धनुर्वेद का भी मैंने अभ्यास किया है, वह भी तुझे सिखाऊँगा।”

शस्त्रास्त्र और धनुर्वेद का नाम सुनकर उस बालक को विशेष आनन्द हुआ। वह ब्राह्मण से बोला–“महाराज, अगर आप मुझे यह विद्याएँ सिखायेंगे तो मैं आपका दासानुदास हो जाऊँगा?” इतना कहने के बाद सब लड़के अपने पशु इकट्ठे करने लगे, क्योंकि संध्या हो गई थी, और दिनभर उन्हें चराने के बाद उन बालकों को अपने-अपने घर जाना था। ब्राह्मण भी उन गुराखी बच्चों के साथ उनके घर गया। उस बालक का पिता बड़ा ही सज्जन था और उसे अपने बालक पर मन-ही-मन अभिमान था। अपने बालक की तीक्ष्ण बुद्धि को देखकर एक ब्राह्मण उसके बारे में पूछताछ करने आया है–यह देखकर उसे बहुत ही आनन्द हुआ। रात-भर वहीं ठहरने के लिए उस सज्जन ने ब्राह्मण से विनती की। गाय का दूध दुहने के बाद उस ब्राह्मण से दूध पीने की प्रार्थना की। ब्राह्मण ने उस मनुष्य का इतना प्रेम देख रात-भर वहीं टिकने का निश्चय किया।

दुग्धपान करने के बाद ब्राह्मण उस गुराखी से बोला–“हे वृद्ध गोप! यह तेरा पुत्र विलक्षण प्रतिभावान् और बुद्धिमान् है। इसके बारे में मैं तुझसे कुछ बातें पूछना चाहता हूँ–यदि तू क्रोधित न हो तो पूछूँ।”

ब्राह्मण मुझसे क्या प्रश्न पूछता है, यह अवश्य जानना चाहिए–इस विचार से वह हँसते हुए बोला–“महाराज! आप ब्राह्मण हैं–आपकी बात का क्या बुरा मानना? आपको जो पूछना हो, खुले हृदय से पूछें; मैं खुले दिल से उत्तर दूँगा।”

उत्तर सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हुआ और उसने तुरन्त ही पूछा–“इतना आश्वासन तू देता है तो ठीक ही है। मैं भी खुले दिल से पूछता हूँ। यह लड़का तू अपना बतलाता है, पर यह मुझे तेरे वंश का नहीं मालूम होता। अगर इसके बारे में कोई और बात हो तो मुझसे कह। अगर मेरे तर्कानुसार इसके पीछे और कोई बात होगी तो तू निश्चित समझ कि यह एक चक्रवर्ती राजा होगा।”

ब्राह्मण की यह बात सुन वह गुराखी चिन्तित हुआ। फिर एकाएक बोला–“महाराज! मैं आपके चरणों के पास बैठकर असत्य न बोलूँगा, ऐसा मैंने निश्चित किया है, इसलिए मैं आपसे सच बात कहता हूँ। यह मेरा पुत्र नहीं है। हम गुराखियों के पेट से ऐसे बालक का जन्म कहाँ? यह लड़का मुझे एक चाँदनी रात में बड़ी छोटी अवस्था में पड़ा हुआ मिला था। यह रो रहा था। इसके पास कोई नहीं था। मुझे इसी बात पर आश्चर्य हुआ कि कोई जंगली जानवर उसे क्यों न खा गया। उस दिन पूर्णमासी थी। आकाश में भगवान् चन्द्रमा जैसे इस

बालक को निर्भय पड़े रहने का आदेश दे रहे थे। उस बालक को मैंने तुरन्त उठा लिया और अपने घर ले आया। उस बालक के माता-पिता को खोजने का मैंने भरसक प्रयत्न किया, पर उनका पता न लगा। इसके शरीर पर कोई विशेष वस्त्र न था, एकमात्र रक्षाबन्धन था जो मैंने सँभालकर रख छोड़ा है। लड़का किसका है, कुछ पता न लगा। तब से इसे अपना ही बालक समझकर पालन-पोषण कर रहा हूँ।"

यह सुनने के बाद ब्राह्मण कुछ देर तक चुप रहा। फिर बोला–"वह रक्षाबंधन कहाँ है, देखूँ?"

उस गुराखी ने उस रक्षाबन्धन को निकालकर दिखाया जिसे उसने बड़े सुरक्षित रूप में रख छोड़ा था। पास ही एक दीपक था, उसकी रोशनी में ले जाकर उसने उस रक्षाबन्धन को देखा। उस पर की मुहर देख उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वह ब्राह्मण बोला–"भई, यह लड़का मेरे हस्तगत कर दे। और नहीं तो कुछ समय के लिए मुझे अवश्य सौंप दे। आगे जाकर इसका भाग्य बहुत ही अच्छा है; इसमें संशय नहीं। पर इसे कोई अच्छा गुरु मिलना चाहिए। मुझे सब विद्याएँ आती हैं। मेरा मन भी इस बालक पर आ गया है। इसलिए तू यह बालक मुझे दे दे।"

यह बात सुन वह गुराखी बहुत चिन्तित हुआ। ब्राह्मण उससे फिर बोला–"राजा दशरथ ने राम को विश्वामित्र के हवाले किया था, और उन्होंने बालक राम को जिस प्रकार की शिक्षा दी थी उसी प्रकार तू भी यह बालक मेरे हवाले कर। मैं इसे शिक्षा दूँगा। इसमें तुझे चिन्तित नहीं होना चाहिए। यह बालक राज-वीर्य है।"

यह बातें सुन उस गुराखी को मन-ही-मन बहुत दुःख हुआ। इतने दिनों से पाले हुए बालक को एक ब्राह्मण को कैसे दे दूँ?–इस चिन्ता में वह पड़ा। ब्राह्मण को क्या उत्तर दिया जाए, यह उसे न सूझा। पर उत्तर उस बालक ने ही दे दिया। इस ब्राह्मण तथा उसके बाप में बात हो रही थी तो उस बालक ने न सुना था। परन्तु जब उस ब्राह्मण ने इस बालक को माँगा तो वह बालक सुन रहा था। वह तुरन्त दौड़ा-दौड़ा अपने दरिद्र पिता के पास आया और उससे बोला–"पिताजी! आप मुझे इनके हस्तगत कर दें। आप कुछ भी चिन्ता न करें। आप कहा करते थे कि इन यवनों का कोई नाश करे। यदि मैं ही इनका नाश करूँ तो क्या बुरा? आप कहा करते थे कि मैंने एक राजा को देखा था–उसका वेश ऐसा था, वैसा था। अगर मैं भी आपके आशीर्वाद तथा इन ब्राह्मणदेव की कृपा से पराक्रमी राजा हो जाऊँ तो क्या अच्छा न होगा? मैं उन यवनों को हराकर आर्यावर्त के सारे राज्य उनसे वापस ले लूँगा और एक बड़ा राज्य स्थापित करूँगा। पिताजी! आप निश्चिन्त बैठिए। मैं इन यवनों का नाश कर सचमुच एक ऐसा बड़ा और स्वतन्त्र-राज्य स्थापित करूँगा जैसा मगध राज्य है।"

मगधदेश का नाम सुनते ही ब्राह्मण जल उठा। वह उस बालक से बोला–"अरे, तू 'मगध देश जैसा' राज्य क्यों कहता है–मैं तो तुझे उसी गद्दी पर बैठाऊँगा।"

क्रम

पहला परिच्छेद

प्रमाण

गहन अरण्य–हिमालय का गहन अरण्य–गगनचुम्बी वृक्ष, सो भी कितने प्रकार के? कुछ कहा नहीं जा सकता। हिमालय को सब औषधियों और वनस्पतियों का घर कहते हैं, यह झूठ नहीं। हिमालय पर हर प्रकार के वृक्ष-वनस्पतियाँ और लताएँ हैं। इस के अरण्य एकदम गहन होंगे, यह बताने में कोई नवीनता नहीं। ऐसे ही एक अरण्य में एक सुव्यवस्थित आश्रम था। इस आश्रम को 'चाणक्य आश्रम' कहते थे। ब्रह्मपुत्र से जाकर मिलने वाली एक छोटी-सी नदी के किनारे यह आश्रम था। इस आश्रम का स्वामी चाणक्य नाम का एक महातेजस्वी और क्रोधी ब्राह्मण था। उसके आश्रम में अनेक ब्राह्मण और विद्याध्ययन के लिए आये हुए विद्यार्थी आकर टिके हुए थे। चाणक्य को चारों वेद और उनकी शाखाओं और उपशाखाओं का ज्ञान था। कुलपति बनने-योग्य यदि कोई व्यक्ति था तो वह चाणक्य ही था, यह बात निर्विवाद है। उसके शिष्य नाना प्रकार की शिक्षा के लिए आये हुए थे। उनमें सब ब्राह्मण ही न होकर अस्त्र-विद्या सीखने वाले क्षत्रिय भी थे। सारांश यह कि चाणक्य का आश्रम वाल्मीकि, विश्वामित्र, वशिष्ठ के आश्रमों के समान था। चाणक्य के मन में इस बात का दृढ़ निश्चय था कि मुझमें वशिष्ठ के समान योग्यता है। विश्वामित्र की तरह मैं किसी क्षत्रिय वीर को शिक्षा दूँगा और उससे रामायण में वर्णित पराक्रम करवाऊँगा। एक बड़ा और स्वतन्त्र राज्य स्थापित करवाऊँगा। पृथ्वी-विजय के हेतु अश्वमेध यज्ञ करवाऊँगा और असंख्य हीरे-मोतियों से जड़ित राजमुकुट पहनाऊँगा। राजा राम को विश्वामित्र ने ही इतना योग्य बनाया था कि वे राम-राज्य स्थापित कर सके। पर मैं तो एक ऐसे क्षत्रिय-पुत्र को हाथ में लेकर शिक्षा दूँगा जिसका कोई रहने तक का ठिकाना नहीं तथा जिसके लिए अन्य कोई साधन नहीं–और ऐसे ही क्षत्रिय-पुत्र से एक महान् राज्य स्थापित करवाकर उस पर उसे बिठाऊँगा। जिस मगधराज ने मेरा अपमान किया है, मेरे गुणों की परवाह नहीं की और एक कपटी ब्राह्मण के कहने में आकर मुझे अपमानित करके निकाल दिया, उसका समूल नाश करके इस क्षत्रिय किशोर को गद्दी पर बैठाऊँगा।'' इसी प्रकार के उद्‌गार इस आश्रम के ब्राह्मण के मुँह से सदा निकलते रहते। अपनी बुद्धि के अनुसार ही उसने एक तेजस्वी क्षत्रिय बालक को ढूँढ़ निकाला और उसके साथ-साथ ही हिमालय के भील-कुमारों को भी शस्त्र-विद्या और धनुर्वेद की शिक्षा देने लगा। बालक भी अपने गुरु से प्रेम के साथ शिक्षा ग्रहण करते, और उन बालकों की दिन-प्रतिदिन की प्रगति देख उनके गुरु को भी आनन्द प्राप्त होता। दिन-प्रतिदिन अपना उद्देश्य निकट आता जा रहा है, यह जानकर उसे विशेष प्रकार का आनन्द आता था। अब अगला कार्यक्रम क्या होना चाहिए–इसकी तरफ उसका ध्यान गया। रणांगण में शत्रु के सामने खड़े होकर ये शिष्य किसी भी हालत में जीत नहीं सकते। उसे इस बात का निश्चय था कि मेरे शिष्यों में शौर्य-बल की

कमी नहीं है; पर वे संख्या की दृष्टि से बहुत कम थे। मगधदेश का राजा बड़ा पराक्रमी था और उसके सैन्यबल का कुछ ठिकाना न था। उसके कितने ही सहायक राजा भी थे। इतना सैन्यबल इन वीर-पुत्रों में कहाँ से आये? एक यही विचार उस ब्राह्मण के मन में सदा चक्कर लगाता रहता। नदी-किनारे बैठा वह यही बातें सोचता रहता। आश्रम में इतनी भीड़ रहती कि उसे नदी-किनारे अलग स्थान पर रहना पड़ता। जहाँ गुरु एकान्त में रहते वहाँ जाकर उनसे बातें करना शिष्यों के लिए सम्भव न था। पर गुरु का एक अत्यन्त प्यारा शिष्य, जिसका नाम चन्द्रगुप्त था, जब चाहता तब जाकर गुरु से बातें करता, चाहे वे समाधि की अवस्था में ही क्यों न होते। जिस तरह माँ-बाप के यदि दस पुत्र होते हैं तो उनमें से एक पर ही उनका विशेष प्रेम होता है और उसके अपराध को अपराध नहीं समझते; और अगर समझते भी हैं तो उसको सामान्य समझ क्षमा कर देते हैं, इसी प्रकार का सम्बन्ध चाणक्य और चन्द्रगुप्त का था। गुरु के पास कितने ही शिष्य थे और वे कितनी ही प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते थे, पर चन्द्रगुप्त पर चाणक्य का बहुत प्रेम था।

पाठक तो समझ ही गये होंगे कि पहले बताये हुए दरिद्र ब्राह्मण और हिमालय पर मिला हुआ बालक यही है। चाँदनी रात में मिले हुए उस बालक का नाम उस दरिद्र गुराखी ने चन्द्रगुप्त रखा। उसे विश्वास था कि वह बालक मेरे हाथों पल कर अवश्य कोई बड़ा काम करेगा। उस ब्राह्मण ने भी यह निश्चित कर लिया कि जब तक मैं मगधराज से बदला न ले लूँगा तब तक के लिए अपना पुराना नाम छोड़ दूँगा। और जब हिरण्यगुप्त अर्थात् धनानन्द का नाश कर लूँगा तब पुराने नाम को ग्रहण करूँगा। ब्राह्मण में कार्य करने की शक्ति थी और वह दृढ़ निश्चयी था। उस गुराखी से बालक की माँग लेने के पश्चात् वह ब्राह्मण तक्षशिला न लौटा तथा वहीं हिमालय पर एक पर्णकुटी बनाकर बालक को शस्त्रास्त्र-विद्या सिखाने लगा। उसने उस बालक को बहुत-सी शिक्षाएँ दीं, पर अकेले बालक से मैं क्या कर सकूँगा–यह चाणक्य के मन में आया। परन्तु क्या वह उत्साही ब्राह्मण निराश हो सकता था? जिस तरह भगवान् रामचन्द्रजी ने वानरों की सेना से लंका का नाश किया था, उसी प्रकार उसने हिमालय पर रहने वाले भील, मातंक और चाण्डाल आदि नीच जातियों द्वारा मगध देश के राजा को, जो कि चाण्डालों से भी गया बीता था, हराना निश्चित किया। उसने उन जातियों का हीनत्व मन से निकाल दिया और उन्हें भी शिक्षा देने लगा। उसकी ख्याति चारों तरफ फैल गई और कितने ही ब्राह्मणपुत्र भी शिक्षा के लिये उसके पास आने लगे। इसी प्रकार कुछ दिन बीतते-न-बीतते उस चाणक्याश्रम और उसके संचालक की ख्याति हिमालय के सब प्रदेशों में फैल गई।

वह नदी की ओर जा रहा था। आगे का कार्यक्रम निश्चित करने के लिए चाणक्य व्याकुल रहने लगा। विचार करते हुए बैठे रहने से क्या लाभ? प्रतिज्ञा और कार्यसिद्ध करना हो तो तुरन्त काम में लग जाना चाहिए।–ऐसे ही विचार उस दिन उसके मस्तिष्क में मँडराते रहे। क्या किया जाए? प्रारम्भ कैसे हो?–ये दो विचार विष रूप से उसके मस्तिष्क को दु:ख पहुँचा रहे थे। चन्द्रगुप्त प्रात:काल ही उठकर आखेट की खोज में गया था। समय शांत, पर तेजपूर्ण था। सूर्य भगवान् आकाश के एकदम मध्य में विराज रहे थे। ऐसे समय में पशु-पक्षी अपनी-अपनी माँदों अथवा घौंसलों में विश्राम कर रहे थे। ऊपर से ब्राह्मण भी शांत ही दिख रहा था; पर उसके दिल में तूफान उठ रहा था। जब तक कार्य की सिद्धि न हो तब तक

उसे शांति कहाँ? चाणक्य विचारों में डूबा था कि एकाएक प्रसन्नता की लहर उसके मुख पर दौड़ गई। उल्लसित हो उसने ताली बजाई और एक-दो बार गर्दन हिलाकर अपने-आप बोला–"ठीक है, यही करना चाहिए; इसको छोड़कर दूसरा मार्ग भी नहीं है। बिना मेरे गये वैसी व्यवस्था नहीं हो सकती, और बिना व्यवस्था हुए आगे बढ़ना भी कठिन है। यहाँ बैठने से क्या लाभ? जो होना होगा, वहीं जाकर हो सकता है। चन्द्रगुप्त ने एक वर्ष में कम विद्या नहीं ग्रहण की है। जिस समय मैं पाटलिपुत्र गया था और जैसी अवस्था वहाँ तब थी, यदि वैसी ही अब भी हुई तो कार्यसिद्धि में अधिक कठिनाई नहीं होगी। एक वर्ष के भीतर ही वहाँ जाऊँ? यह तो अच्छा नहीं मालूम होता। पर बुरा लगने की बात ही क्या? जब इतना विचित्र-व्यूह रचने की तैयारी में हूँ तो पहले ही से शंका कैसी? राजनीति में सब कुछ चलता है। जो मन में निश्चय कर लिया, अगर वही काम नहीं करूँगा तो सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है?"

इसी तरह नाना प्रकार की बातें सोचता हुआ चाणक्य स्नान के लिए नदी में घुस गया। वह श्लोकों का उच्चारण करता जा रहा था; पर उन श्लोकों में उसका मन नहीं था। वह तो अपने अगले कार्यक्रम के बारे में सोच रहा था। मंत्र तो नित्य का अभ्यास होने के कारण अपने-आप मुंह से निकलते जा रहे थे। स्नान करने के बाद वह सन्ध्या करने के लिए एक लकड़ी पर मृगचर्म डालकर बैठा। अर्चना करके वह प्राणायाम करने ही वाला था कि उसका प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त आ गया। चन्द्रगुप्त गुरु को नम्रता से प्रणाम कर सुनाने लगा कि उसने वन में क्या-क्या पराक्रम किये। जब वह जंगली सुअर और मृग को मारने का हाल कह रहा था तो उसके साथ वाला राजपुत्र बोला–"और गुरुजी, जब यह अकेले ही उस जंगली सुअर के पीछे दौड़ने लगा तो हमें सचमुच अर्जुन की याद हो आई। अर्जुन की परीक्षा करने के लिए जब श्री शंकर भगवान् ने किरात का रूप धारण किया होगा और अर्जुन उसके पीछे दौड़े होंगे तो ठीक इसी की तरह।"इतने में ही एक भील भी उसी उत्सुकता के साथ बोला–"गुरुजी! यदि आप सुअर को देखेंगे तो इसकी अवश्य ही प्रशंसा करेंगे।"

"इतना बड़ा सुअर आज तक इस अरण्य में किसी ने न देखा होगा। पर इसने उसकी ज़रा भी परवाह न की। जैसे लोग कुत्ते-बिल्ली को मार डालते हैं, वैसे ही इसने उस जंगली सुअर को मार डाला। आप उस सुअर को देखने अवश्य चलें।"

अपने इकलौते पुत्र का पराक्रम सुन जिस प्रकार माता-पिता को आनन्द होता है उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक आनन्द चाणक्य को प्राप्त हुआ। जिसे शिक्षा देने के लिए उन्होंने इतना प्रयत्न किया था उसकी इतनी प्रगति तो हुई। पर जो काम अभी होना है वह तो आगे है। काम अभी नहीं हुआ, यह सोचकर चाणक्य को दुःख हुआ, पर क्षणमात्र के लिए। दूसरे ही क्षण वह चन्द्रगुप्त की ओर देखकर बोला–"चन्द्रगुप्त! तेरा पराक्रम सुनकर मुझे सचमुच आनन्द हुआ। दिन-प्रतिदिन ऐसे ही पराक्रम करता जा। पर मुझे इस समय तुझसे दूसरी बातों के सम्बन्ध में कुछ कहना है। लड़को, तुम ज़रा दूर चले जाओ, बुलाऊँ तब आना।"

लड़के गुरु की आज्ञा सुन तुरन्त दूर चले गये। तब चाणक्य चन्द्रगुप्त से बोला–"प्रिय पुत्र चन्द्रगुप्त! मैं तुझे कुछ समय के लिए छोड़कर जाने वाला हूँ। यद्यपि तू अभी छोटा है, पर तेरे हाथों जो काम मुझे करवाना है उसका उपक्रम अभी से आरम्भ करना है। पीछे के लिए

टालना उचित नहीं। मैं तेरे हाथों में यहाँ की व्यवस्था चार मास के लिए दूँगा। जिसे एक बड़े राज्य पर शासन करना है उसे अभी से कार्यभार का अनुभव होना चाहिए। तुझे तो ज्ञात ही है कि एक बार मैं जो काम करने का निश्चय कर लेता हूँ, वह अवश्य करता हूँ; अपने निश्चय पर अटल रहता हूँ। अगर अपने काम में सिद्धि लेनी होगी तो मैं जैसा कहता हूँ वैसा होना ही चाहिए। तू दुखी मत हो। मुँह लाल-पीला करने की बात नहीं है। मैं जा रहा हूँ तो अपने आगे के कार्यक्रम को ठीक करने के लिए, व्यर्थ ही नहीं। क्या-क्या मुझे करना है, तुझे अभी से बतला देने का कोई उपयोग नहीं है। वत्स! मगध के सिंहासन पर तुझे बैठा देखूँगा तभी मेरे नेत्रों को शांति मिलेगी, इसके पूर्व नहीं–यह तू निश्चित समझ। और कुछ मुझे तुझसे कहना नहीं है। मैं यहाँ सबसे कह देता हूँ, पर तेरी दृष्टि सबके ऊपर रहनी चाहिए। तू इस आश्रम का स्वामी है, यहाँ का राजा है। आगे का राज्य तू कैसे चलायेगा, वह इन्हीं चार मास के भीतर मेरी दृष्टि के सम्मुख आ जायेगा।''

बेचारा चन्द्रगुप्त! सचमुच बहुत उदास हो चाणक्य की बातें सुन रहा था। गुरुजी उसे यहाँ छोड़कर जायेंगे, यह उसे पसन्द न आया। एकदम लड़कपन से जिस गुराखी के साथ रहा, उससे अधिक प्रेम उसे इस चाणक्य से था। वह अपने गुरु से बोला–"महाराज! अभी मेरी शिक्षा भी पूरी नहीं हुई और आप मुझे छोड़कर जाने के लिए कहते हैं। मुझे भी साथ क्यों नहीं ले चलते ? जहाँ आप, वहाँ मैं। अगर आप सोचते हों कि मैं संकट से डर जाऊँगा, तो इस तरफ से निश्चिन्त रहिये। पर आप मुझे अगर यहाँ छोड़कर जायेंगे, तो मेरी अवस्था ठीक न रहेगी। साथ रहने पर कोई भी कष्ट आयेगा तो कोई बात नहीं।''

इस पर चाणक्य बोला–"तू मेरे साथ चलने पर संकट से डर जायेगा, यह सोचकर मैं तुझे नहीं छोड़ रहा हूँ। इस काम के लिए मुझे अकेले जाना चाहिए। अब आने-जाने के बारे में अधिक न बोल। जैसा मैं कहता हूँ वैसा कर। तेरे कल्याण को छोड़कर मेरे मन में अन्य कोई बात हो, यह कहने की बात नहीं है। इसमें क्या है, सो तू समझ!''

इतना सुनने के बाद चन्द्रगुप्त और क्या बोल सकता था? परन्तु उसे मन-ही-मन दुःख हो रहा था, वह चाणक्य ने स्पष्ट देखा। पर चाणक्य जितना मनोविकारी था, उतना ही निश्चयी भी था। उसने अपना निश्चय अणु भर भी बदलने नहीं दिया। उसके मन में यह बात आ गई कि जैसा सोचा है उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। कार्य की उपेक्षा अनुचित है। यह ऐसा कार्य है कि कितना समय लगेगा, कुछ पता नहीं। इसलिए कार्य-सिद्धि के लिए जितना जल्दी हो सके, कार्यारम्भ कर देना चाहिए।

निश्चयी पुरुष निश्चय करने में कभी भी देरी नहीं लगाते। उसी रात उसने चार मास के लिए व्यवस्था की और दूसरे दिन बड़े तड़के ही अपने प्रिय शिष्य को छोड़कर चला गया।

दूसरा परिच्छेद
पाटलिपुत्र

पिछले परिच्छेदों में पाठक पाटलिपुत्र के बारे में थोड़ा-बहुत जान चुके हैं। परन्तु इस परिच्छेद में पाठकों को इस नगर का हम पर्याप्त परिचय करा देना चाहते हैं। चाणक्य के पाटलिपुत्र पहुँचने के पूर्व ही यदि हम पाठकों को इस विशाल नगरी और वहाँ के नन्दराज का परिचय अधिक दे देंगे तो उन्हें कथानक समझने में आसानी होगी।

पाटलिपुत्र का नाम पुष्पपुर भी था। परन्तु जिस समय की बात हम कर रहे हैं उस समय उस महानगरी का नाम पाटलिपुत्र ही प्रसिद्ध था। कितने ही लोगों का विश्वास है कि यह नगरी महाभारत काल में भी थी, और इसका नाम कौशाम्बी अथवा कुसुमपुर था। कोई भी बात हो, पर यह तो निश्चित ही है कि हमारे कथाकाल के बहुत पूर्व ही से यह नगरी प्रसिद्ध थी। जिस समय का हमारा कथानक है उस समय हर दृष्टि से पाटलिपुत्र के समान उत्तम नगर सारे भारतवर्ष में कहीं न था। यहाँ के नन्दराजा शक्तिशाली थे और उनकी कीर्ति भारत में चारों ओर फैली हुई थी। वस्तुत: इतनी बड़ी नगरी का राजा प्रसिद्ध होगा, यह निश्चित ही है। राजा कैसा भी रहा हो, पर नगर अवश्य सराहनीय था। यह दस मील लम्बा और छ: मील चौड़ा था। उस समय के यूनानियों के वर्णनानुसार यहाँ की सैनिक-शक्ति बहुत ही अधिक थी और अन्दर-ही-अन्दर ऐसी व्यवस्था थी कि जब चाहें तब सारे शहर को उड़ा दें। उस समय यह नगर गंगा और सोन के संगम के पास दूर तक फैला था। यहाँ के लोगों को प्राच्य कहा जाता था। गंगा और सोन नदी के संगम पर बसे रहने के कारण यहाँ का व्यापार भी उन्नतिशील था। राजधानी होने के कारण यहाँ कितने ही गुणी आते रहे होंगे, यह बात सहज ही अनुमेय है। उन दिनों यह बात प्रसिद्ध थी कि जिसे अपने शरीर की करामात दिखाकर राजाश्रय प्राप्त करना हो उसे अपना पैर पाटलिपुत्र ही की ओर उठाना चाहिए। पाटलिपुत्र वैदिक धर्म का अग्रस्थान था। नाना प्रकार के यज्ञ एवं हवन वहाँ नित्यप्रति होते रहते थे। यज्ञ के कारण यहाँ कितने ही पशु मारे जाते। यह घृणामय व्यवहार देख बौद्ध-धर्म के बहुत से प्रचारक यहाँ भी अहिंसा का प्रचार करने के लिए प्रयत्नशील थे, पर उनका अधिक काम गुप्त रूप से ही होता था। वैदिक-धर्म को राज्य की ओर से प्रश्रय मिलता था, इसलिए बौद्धों को धर्म फैलाने के लिए जितनी सुविधाएँ चाहिए थीं, नहीं मिलती थीं। उलटे यदि उनके धर्म-प्रसार की बातें राज-ब्राह्मणों तक पहुँचतीं तो प्रसारकों की बुरी गति बनती।

पाटलिपुत्र और समस्त मगध-साम्राज्य पर इस समय धनानन्द उर्फ हिरण्यगुप्त का राज्य था, यह तो पाठक जान ही चुके होंगे। यह राजा दूर-दूर के लोगों में दाता, शूरवीर और बड़ा गुणग्राहक समझा जाता था; पर प्रत्यक्षत: वह ऐसा ही था, यह कहने का कोई

प्रमाण नहीं मिलता। यह मन का क्षीण, अविश्वासी और व्यसनी था। दूर-दूर भले ही उसकी ख्याति रही हो; पर राज-दरबारी उसे जरा भी न चाहते थे। क्या प्राचीनकाल और क्या वर्तमानकाल, यह बात तो सभी मानते हैं कि राजा साक्षात् देवता का अवतार है। उस समय तो यह विचार और भी दृढ़ था, इसलिए कैसा भी राजा हो पूजनीय ही समझा जाता था। इसी प्रकार धनानन्द की भी स्थिति थी। तब राजा हर काम अपने निकटस्थ अधिकारियों से सलाह लेकर करता था। क्षीण प्रवृत्ति लोगों के यहाँ कैसे अधिकारी होते हैं, यह पाठकों को प्रत्यक्ष नहीं तो सुनकर अवश्य मालूम होगा। सब प्रकार के व्यसनी लोग ऐसे राजाओं के यहाँ रहते हैं और राजा के कार्य के सम्पादन के लिए आगा-पीछा नहीं देखते और चाहे कैसा ही नीच काम क्यों न हो, खुले दिल से करते हैं। इसलिये राजा एक शरीरमात्र रह जाता है और यही लोग राज्य करते हैं। किसी भी बात में अपना अर्थ साधने के लिए राजा को उसी प्रकार बालकों-जैसा उपदेश देकर वे जैसा चाहते हैं, बना लेते हैं। अपना ज़ोर राजा पर है, इसका आभास वे उसे कभी भी नहीं होने देते, पर जितना चाहते भार डालते जाते। राजा भी मन में अपने को बहुत बड़ा समझता। वह अपने को सब प्रकार के दुष्ट व निन्द्य-कार्य करने का अधिकारी समझता। सच्चे अधिकार क्या हैं और वे कैसे काम में लाये जाते हैं, इसकी उसे कल्पना तक न थी। धनानन्द की स्थिति इस प्रकार की थी। राजा के परामर्शदाता राजा से जैसा काम चाहते, करवा लेते; परन्तु राजा अपने मन में अपने ही को उस काम का श्रेय देकर गर्व का अनुभव करता।

धनानन्द को इस स्थिति के कारण राज्य चलाने में विशेष अड़चनें पड़तीं। परन्तु फिर भी कितने ही अधिकारी राज-परिवार का मान मन में रख काम करते थे। ऐसों में राजकुल पर विशेष प्रेम और मान प्रकट करने वाला एक राक्षस नाम का मनुष्य था। इसके काम नाम से बिल्कुल उलटे होते थे। राजा पर उसका बहुत प्रभाव था। राजा ने आज तक कभी भी बिना राक्षस की राय से कोई काम न किया था। यदि किसी काम के विषय में मत लिये जाते और राक्षस के परामर्श से अधिक दूसरों की सलाह के मत प्राप्त होते, तो भी वह राक्षस की ही सलाह से काम करता।

पड़ोसी राजाओं की बड़ी इच्छा थी कि धनानन्द को रसातल पहुँचा उसके राज्य पर अधिकार जमाया जाये; पर राक्षस के रहते उनका साहस इस काम की ओर न पड़ता, क्योंकि वे जानते थे कि यदि राक्षस के रहते हम धनानन्द से युद्ध करना चाहेंगे तो जो राज्य है वह भी गर्त्त में मिल जायेगा और भीख माँगनी पड़ेगी। इन सब बातों को समझते हुए उन राजाओं ने कभी सिर न उठाया। मगधदेश में यदि उस समय राक्षस न होता तो नन्दवंश का सूर्य कभी का अस्त हो गया होता और उस स्थान पर बंग या कलिंग देश के राजा राज करते होते। धनानन्द की ऐसी स्थिति के कारण उसकी प्रजा में उसके प्रति कैसा मान रहा होगा, यह पाठक ही सोच सकते हैं। युद्ध के प्रसंग पर मगध की प्रजा शत्रुओं से मिल गई होती, यह प्रश्न अलग ही है। वह न मिलती, ऐसा भी हो सकता था। स्वराज्य व स्वराज्याधिपति की रक्षा के लिए उन्होंने क्या प्रयत्न किये होते, यह अलग प्रश्न है। परन्तु वस्तुत: प्रजा का प्रेम प्राप्त करने योग्य धनानन्द के पास कुछ नहीं था, ऐसा कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी।

इतना सब तो धनानन्द के विषय में हुआ। राजा इस प्रकार का क्षीणचित्त तथा विषयी

था तो राज-पुत्र कैसे रहे होंगे, इसका अनुमान पाठक स्वयं लगा सकते हैं। 'बाप से बेटा सवाई' इस विचार से राज-पुत्र अपने बाप से कितनी ही बातों में बढ़े-चढ़े थे। राक्षस के प्रभाव से केवल मंत्रीवर्ग निष्कलंक था और इसी के कारण मगधदेश की राजसभा दूर-दूर तक विख्यात थी। परन्तु राजपंडित जैसा कहते वैसा राजा करे, इसके लिए वह बहुत झगड़ा-टंटा करते। और वे जिस प्रकार सफल होते थे, यह पाठकों को पहले ही ज्ञात हो चुका है।

कुछ भी हो, पाटलिपुत्र नगर बहुत प्रसिद्ध था, और इसके अन्य कारण भी थे, यह भी सत्य है। पाटलिपुत्र बहुत विस्तृत था और यहाँ की जनसंख्या भी बहुत अधिक थी, परन्तु इनके सिवा वहाँ भगवान् बुद्ध के चलाये हुए अहिंसा-धर्म के भी थोड़े-बहुत अनुयायी थे ही। इनके अतिरिक्त यवन, म्लेच्छ, बर्बर, हूण, किरात, शक, चीनी, गांधार, खास, फारसी एवं कम्बोज आदि जाति के लोग भी यहाँ आकर व्यापार के लिये रहते थे। पाटलिपुत्र धन की दृष्टि से भी विशाल नगरी थी। इसमें सुन्दर-सुन्दर प्रासाद, उपवन तथा अनेक विषयों की पाठशालाएँ थीं। नगर की गलियाँ विभिन्न प्रासादों से सुशोभित थीं, इनकी सुन्दरता हृदय पर प्रभाव डालती थी। धनानन्द का प्रासाद तो सब ऐश्वर्य, सब सौन्दर्य की खान ही था। आर्यावर्त में जितनी सुन्दर वस्तुएँ लभ्य थीं, वे सब उस प्रासाद में संग्रहीत थीं तथा आर्यावर्त के प्रसिद्ध शिल्पियों ने भी वहाँ आ-आकर अपने-अपने कौशल दिखाये थे। उस समय जो भी कला उत्तम समझी जाती थी, उसी के द्वारा धनानन्द तथा उसके पूर्वजों ने श्रीनिवास नाम का अपना राजमहल तैयार किया था। कुल मिलाकर नगरी बहुत ही सुन्दर थी, इसमें कुछ संशय नहीं।

जिस तरह नगर व्यवस्थित था उसी प्रकार राजा की सेना भी सुव्यवस्थित थी। राजा अन्य बातों में कैसा भी रहा हो, पर सेनापति के अधिकार में कभी उसने ढील देने का अवसर नहीं दिया। जिस तरह राज-कार्य में राक्षस को पूर्ण अधिकार प्राप्त था, उसी भाँति सैन्य-कार्य में सेनापति को भी पूर्ण अधिकार प्राप्त था। अगर ये दो बातें न होतीं तो धनानन्द इतने वर्षों तक पाटलिपुत्र के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता था, यह बिल्कुल निश्चित बात थी।

यह सब तो राजनीतिक वर्णन हुए। अब हम पाटलिपुत्र के प्राकृतिक वर्णन में पड़ना उचित न समझ एक ऐसे पात्र का परिचय देना उचित समझते हैं, जो हमारे कथानक के प्रमुख पात्रों में से एक है।

संध्या समय

पुष्पपुर के समान विशाल नगर में इस समय कैसी चहल-पहल होगी, यह पाठक सोच सकते हैं। दुकानदार अपनी-अपनी दुकानों में प्रकाश कर दीपक को नमस्कार करने में उलझे होंगे। संध्या-समय दुकानदार अपना माल बेचने में फँसे ही होंगे। परन्तु पाटलिपुत्र में उस संध्या को पुष्पवीथिका नामक सड़क पर पुष्प बेचने वालों की दुकान पर बहुत ही भीड़ थी। इधर-उधर लोग पुष्प लेकर जाते हुए दिखाई देते थे। फूल-क्रय करने के लिए, मनुष्यों की बहुत भीड़ थी। जिस प्रकार दीवाली के दिन दीपोत्सव होता है, वैसा ही दीपोत्सव आज भी

नज़र आ रहा है। प्रासादों के वातायनों से स्त्री-पुरुष झाँक रहे थे। इससे यह स्पष्ट मालूम हो रहा था, कि कोई जुलूस शहर की भिन्न-भिन्न सड़कों से होकर जाने वाला है। यह समारम्भ देखने के लिए भिन्न-भिन्न वातायनों से युवक-युवतियों तथा अन्य खड़े हुए दर्शकों की दृष्टि एक ही ओर झुकी थी। यह सब बातें क्या हैं? इसके लिए पाठकों की जिज्ञासा हुई होगी। वह जिज्ञासा थोड़ी ही देर में शान्त हो जाएगी। पाटलिपुत्र के प्रेक्षकों की भाँति पाठकों को भी धैर्य रखना चाहिए। लोगों में इस बारे में तरह-तरह की बातें हो रही थीं। एकाएक कोई खलबली उठती और लोग उसी ओर कौतुक के साथ दौड़ पड़ते। कुछ लोग गरदनें उठा-उठाकर देखने का प्रयत्न करते। कहीं कुछ न देखकर खलबली डालने वालों को गालियाँ देते। होते-होते सारा शहर दीपोत्सव से प्रज्वलित होने लगा। ऊपर कहा ही जा चुका है कि यह शहर सोन और गंगा नदी के संगम पर बसा था। दोनों ओर के बहते हुए पानी में दीपकों की छाया पड़ सोने की भाँति चमक रही थी और नगर की शोभा अवर्णनीय थी। कुछ भी हो, होते-होते नगर से दूर कई तरह के बाजे धीरे-धीरे बजते सुनाई पड़ने लगे। नगर की सीमा पर रहने वाले लोग बड़े कौतुक से बड़ी संख्या में उस ओर अग्रसर हुए। सब की यही इच्छा थी कि वह समारम्भ पहले मेरी ही दृष्टि के सम्मुख आये। धीरे-धीरे वाद्य-ध्वनि भी सुनाई पड़ने लगी, साथ-ही-साथ दर्शकों का कौतुक भी बढ़ता गया। वाद्य-ध्वनि एकदम निकट सुनाई पड़ने लगी। अन्त में मगधदेश के एक हाथी पर विजय-ध्वज दिखाई पड़ने लगा। पीछे अनेक तरह के बाजे बजानेवाले कुछ हाथियों पर, कुछ ऊँटों पर, कुछ घोड़ों पर और कुछ पैदल दृष्टिगोचर हुए। इनके बाजों की ध्वनि एक साथ ही उठ रही थी। बाजे बजानेवाले ही न थे, बल्कि उनके पीछे अश्वारूढ़, गजारूढ़ तथा पैदल सैनिक भी थे। हाथियों की पंक्ति के समाप्त होने पर एक गजराज पर, जो कि हीरे-मोतियों से सजाया गया था, युवराज बैठा था। उसके सामने ही एक कन्या बैठी थी। युवराज पर फेंके हुए पुष्प फिर नीचे प्रेक्षकों की ओर फेंक दिये जाते थे, इसलिए प्रेक्षकों को पुष्प ऊपर फेंकने की इच्छा और भी प्रबल हो उठी। पुष्प ऊपर युवराज तक पहुँचेंगे या नहीं, यह विचार भी उनके मन में न आता था। वह तो पुष्प फेंकते ही जाते थे। जुलूस की चाल अब इतनी धीमी पड़ गई कि पाटलिपुत्र में प्रवेश करने में ही उसे एक घंटा लग गया।

तीसरा परिच्छेद

मुरावेदी

पिछले प्रकरण में वर्णित समारम्भ जब आन-बान के साथ नगर में प्रविष्ट हुआ, तब सब के मुँह से एक ही आनन्द-घोष निकलकर शहर भर में गूँज उठा। राजा के विषय में प्रजा के विचार उसके बुरे कर्मों से कितने ही कलुषित क्यों न हों, पर जब बड़े-बड़े उत्सवों के समय आते हैं, तब प्रजा अपने दुराग्रह को भूल आनन्दोत्सव में तल्लीन हो जाती है। मनुष्य उत्सव-प्रिय होते ही हैं; अगर प्रस्तुत उत्सव के समान उसमें विशालता हुई तो फिर क्या कहने! धनानन्द का सेनापति दूर के किसी राजा को हराकर उसकी रूप-गुण-सम्पन्न पुत्री से युवराज का विवाह करके वधू के साथ नगर में प्रवेश कर रहा था। अपने युवराज के स्वागतार्थ जो महोत्सव हुआ हो, उससे बढ़कर आनन्द देने वाली और क्या बात हो सकती है? राजा के प्रति ही नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य अपने शत्रु के विरुद्ध भी इस समय दुराग्रह भूल गया हो, ऐसा प्रतीत होता था। प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र और कान युवराज के समारम्भ की ओर लगे हुए थे। सड़कों पर इतनी भीड़ थी कि तिल रखने भर की भी जगह नहीं थी। उस समय उस राज्य में–उस शहर में ऐसा एक भी मनुष्य न था, जिसे इस महोत्सव से आनन्द न प्राप्त हुआ हो। जिन-जिन रास्तों से युवराज की सवारी जाने वाली थी, उन रास्तों के दोनों तरफ अथाह जन-समूह खड़ा था। इतना ही नहीं, परन्तु वातायनों से पाटलिपुत्र के सब सुन्दर नेत्र एवं सुन्दर हस्तांजलियाँ युवराज पर कटाक्ष एवं पुष्पों की वर्षा करने के लिए उत्सुक हो रही थीं। बीच में यदि उन हाथों में से एकाध पुष्प नीचे एकत्रित लोगों में से किसी पर गिर जाता, तो वह अत्यन्त हर्षित होकर ऊपर देखता और उसके पास खड़ा उसका मित्र उसे युवराज का पद देकर उस सुन्दरी की ओर देखता, जिसकी अंजलि से पुष्प गिरा था। तब वह सुन्दरी लज्जित हो पीछे की ओर जाती। इसी तरह की कितनी ही आनन्ददायक बातें सब रास्तों पर हो रही थीं। पाटलिपुत्र देखने वाले को उस समय स्पष्ट ज्ञात होता कि वहाँ आनन्द था, और कोई मनोविकार दृष्टि में नहीं आता था।

समारम्भ पाटलिपुत्र की सीमा पर आया। तरह-तरह के वाद्य बजकर उस आनन्दोत्सव को बढ़ा रहे थे। दुन्दुभी और भेरी का मुख्य स्थान था। वाद्यों के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द सुनाई पड़ना असम्भव-सा हो गया था। सीमा पर आने पर नगर-प्रवेश करने के पूर्व युवराज और नववधू की रक्षा हो, इस हेतु बलि चढ़ाई गई, और बाजे जोरों से बजाये गये। सीमा पर रक्त-ही-रक्त दिखाई देने लगा। नगर प्रवेश होने के बाद वह समारम्भ धीरे-धीरे राजमहल की और जाने लगा। उस समय दोनों ओर के वातायनों से पुष्पों और कटाक्षों की वर्षा युवतियों द्वारा नववधू पर हो रही थी। कितनी ही युवतियों की आँखों से आनन्दाश्रु भी नीचे गिर रहे थे। पुष्पांजलि के साथ तरुणियों के मुख से धन्योद्गार एवं वृद्धाओं के मुख से आशीर्वाद निकल कर वर-वधू के कानों में पड़ रहे थे। इसी प्रकार शान के साथ समारम्भ

राजमहल पर जा रुका। वहाँ पर आनन्द-प्रदर्शन के जितने मार्ग थे, उन सब द्वारा युवराज का अभिनन्दन आरम्भ हो गया।

यह सब आनन्दोत्सव हो रहा था, यह सच है, और लिखे अनुसार छोटे से लेकर बड़े तक युवराज का अनन्यचित्त से स्वागत कर रहे थे, यह भी सच है; पर हर नियम में कोई-न-कोई अपवाद होता है; इसी प्रकार यहाँ भी एक अपवाद तो था ही। राजमन्दिर का एक व्यक्ति उस समय आनन्दाश्रु के बदले दु:खाश्रु बहा रहा था। अगर यह भी कहें कि उस दु:खाश्रु में क्रोध का अंश भी मिला था, तो गलत न होगा। अंत:पुर के सब छोटे-बड़े व्यक्ति उत्सव मनाने के लिए वातायनों में खड़े होकर जुलूस देखकर आनन्द का अनुभव कर रहे थे। केवल वही एक स्त्री बैठकर दु:खाश्रु बहा रही थी, और उसके पास बैठी एक वृद्धा उसे समझाने का प्रयत्न कर रही थी। परन्तु उस स्त्री का शोक शांत न हो रहा था। यह शोक क्यों हो रहा था? पुष्पपुरी का हर मनुष्य युवराज के विवाह के कारण आनन्दोत्सव में तल्लीन था; पर यही स्त्री क्यों दु:ख में डूबी थी–यह जानने की जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। सारा शहर एक ओर और एक स्त्री दूसरी तरफ; इसका कोई जबर्दस्त कारण ही होगा, यह स्पष्ट ही है। उस सुन्दरी स्त्री और उस वृद्धा की बातचीत सुनने पर कारण समझ में आ सकता है। शोक करने वाली सुन्दरी 30-35 वर्ष की होगी। उसकी सुन्दरता साफ दीख रही थी। सबने महोत्सव के कारण तरह-तरह के सुन्दर कपड़े पहन रखे थे, पर इसके शरीर पर एकमात्र सफेद साड़ी थी। केश खुले रहने के कारण कुछ कपोलों पर, कुछ नेत्रों पर, कुछ कन्धों पर और शेष पीछे की ओर लहरा रहे थे। शोकाकुल होने के कारण उसने कितनी ही बार मस्तक भूमि पर पटका होगा, इसलिए मस्तक पर धूल लगी थी। उस वृद्धा के कुछ समझाने-बुझाने पर वह स्त्री बोली–"वृंदमाले, तू जो कुछ कह रही है, यह ठीक है; पर जो महोत्सव मेरे पुत्र के लिए होना चाहिए था, वह दूसरी के पुत्र के लिए हो रहा है। इस दु:ख के कारण मेरे अन्त:करण की क्या स्थिति हो रही होगी, इसकी कल्पना तुझे क्या होगी? मैं राज-कन्या थी, फिर भी मेरी दशा इस अन्त:पुर में दासी की भाँति की गई। मैं किरात राजा की कन्या! मेरे पिता पर हमला कर सेनापति ने मेरा हरण किया और मुझे राजा के हस्तगत कर दिया। राजा ने मुझसे गान्धर्व विवाह किया। मेरे पेट से पुत्र उत्पन्न हुआ। इतना सब हो जाने पर अन्य राजपत्नियों ने जाल रचा, जिससे मेरा पुत्र युवराज न हो सका। मुझे दासी ठहराया और पुत्र के जन्म में भी शंका प्रकट की। इस घटना को वर्षों हो गये, फिर भी मैं भूली नहीं हूँ। अपनी वैराग्नि को मैंने जाग्रत ही रखा था, फिर वह ऐसे अवसर पर बाहर कैसे न निकले ? मुझे दासी ठहरा कर अपने पुत्र को युवराज की पदवी देकर आज उत्सव किया जा रहा है, और मैं केवल रो रही हूँ, और कर ही क्या सकती हूँ? मौर्यवंश के किरातराज–मेरे पिता पर उधर से यवनों ने हमला किया और इधर से हिरण्यगुप्त ने; लाचार हो वे सेनापति की शरण में आ गये। इस बात से सेनापति ने लाभ उठाकर मेरा हरण किया और अन्त में मुझे दासी और मेरे पुत्र को दासी-पुत्र ठहराया गया। इतना ही नहीं, मेरे जन्म-सम्बन्ध के बारे में शंका कर मेरे नाम और कुल को कलंक लगाया। मेरे पुत्र को मरवा डाला। यह सब बातें, वृंदमाले, क्या मेरे हृदय से कभी मिट सकती हैं? मेरा कलेजा निकालकर उसके टुकड़े-टुकड़े करके उसे जला दिया जाए और उसकी राख एकत्रित कर दी जाए, फिर उसमें यह सब बातें न याद रहें तो दूसरी बात है। वैसे कभी मैं यह बात

भूल नहीं सकती।”

यह सब कहने के बाद वह स्त्री और भी क्रोधित हो राजा और युवराज को गालियाँ देने लगी। तब वह दूसरी स्त्री उसे शांत करने के लिए बोली—“देवि!तू जो कुछ कह रही है, सब ठीक है, पर थोड़ा विचार कर। यदि राजा से कोई तेरी यह सब बातें कह देगा तो क्या होगा? तुझ पर क्या गुजरेगी ? कुछ तो सोच। राजा के मन में कहीं आ गया तो वह तुझे पहले की भाँति जेल में डाल देगा। अगर तूने इस प्रसंग पर आनन्द न मनाकर इस प्रकार दु:ख प्रकट किया और यह बात राजा के कानों तक पहुँच गई, तो वह सचमुच तुझे क्षमा नहीं करेगा। उसकी कृपा अकृपा में कितनी देर! दोनों के लिए कोई-न-कोई कारण मिल ही जाते हैं। दूसरे तेरा बुरा चाहने वाले कितने हैं? तेरे विरुद्ध कितने ही चुगली कर रहे होंगे। तू इस मंगल समय में आनन्दोत्सव में सम्मिलित न हो, यहाँ कोने में बैठी अश्रु बहा रही है। यह बात राजा के कानों तक पहुँचाकर दुष्टवृत्ति जीव अवश्य तेरे विरुद्ध षड्यन्त्र चला रहे होंगे। इसलिए तू ऐसा मत कर। जो बात हो गई, उसके लिए व्यर्थ शोक करने से क्या लाभ? इससे कुछ लाभ न होकर उलटे तुम पर बिना कारण संकट आ पड़ेगा। सुन, तू ऐसा मत कर और मेरे साथ चल। अन्य स्त्रियाँ जहाँ बैठी हैं, वहाँ जाकर बैठ। इस आनन्दावसर पर हम अन्य लोगों के आनन्द में बाधा पहुँचा रहे हैं। यह कलंक तू अपने ऊपर मत ले।”

परन्तु वृन्दमाला की बातों का प्रभाव उस स्त्री पर न पड़ा। वह और भी क्रोधित हो बोली—“तू क्या कहती है? मुझ पर अब और बुरा प्रसंग कौन-सा आयेगा? सब से बुरा प्रसंग, जो कि मरने का है, यदि वह भी आ जाए, तो भी मैं डरती नहीं। मेरे पुत्र के निधन के पश्चात् जितने दिन बीते, वे सब पुरानी बातों की स्मृति लेकर आये और मेरे हृदय को चीरते गये। इससे बुरा प्रसंग मेरे लिये क्या आ सकता है? मेरा काल आ जाये तो भी अच्छा, मैं पूरी तरह छुटकारा तो पा जाऊँगी। बार-बार एक ही दु:खद विचार मुझे अच्छा नहीं लगता। बार-बार के दु:ख से तो यही अच्छा कि एक बार ही जो कुछ हो जाना हो, हो जाये। उससे कहो, मुझे मार डाले! मुझे फाँसी पर लटका दे। जा, तू जा और किसी ने न कही हो तो तू राजा से मेरी यह अवस्था कह दे, मैं बुरा नहीं मानूँगी। मैं तो मृत्यु ही चाहती हूँ, परन्तु मृत्यु मुझ से डरकर दूर-दूर भागती है।”

वृन्दमाला यह सुन हड़बड़ा गई। क्या कहा जाये—यह उसकी समझ में न आया। मुरादेवी का गालियाँ देना, गुस्सा होना और कुढ़ना जारी रहा। “यदि मेरा पुत्र का शत्रुओं ने घात न किया होता तो आज मेरा भी पुत्र इतने ही वर्ष का हुआ होता। मैं पटरानी होती, और मेरा पुत्र युवराज ! वह सब तो दूर ही रहा, मैं आज क्या से क्या बन गई!”

ये उद्गार जिस तरह उसके मस्तिष्क में चक्कर लगा रहे थे, उसी प्रकार मुख से भी निकलते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में उसके मन का समाधान कौन करेगा? उसको उसी पर छोड़ देना ही समाधान है, यह सोचकर वृन्दमाला चुप बैठी रही।

शोक से व्याकुल मुरादेवी वृन्दमाला की ओर देखकर बोली—“वृन्दमाले, जो कुछ हुआ, सो हुआ। मैं इतने दिन तक चुप रही, इससे बढ़कर मूर्खता कोई नहीं है। पर आगे मैं चुप नहीं रहूँगी। जिसको आज इतने महोत्सव के साथ युवराज की पदवी दे रहे हैं, मैं उसे राजसुख नहीं भोगने दूँगी। यह निश्चय है। यदि मैं सच्ची राजपुत्री होऊँगी तो आकाश-

पाताल एक कर सहस्रों विघ्न खड़े करूँगी और समय आने पर इस राजपुत्र का नाश किये बिना न रहूँगी। यह मेरी मूर्खता थी कि मैं आज तक शान्त बैठी रही। मैं राजा की इच्छा अपनी ओर फिर खींचूँगी। राजा ने जब प्रारम्भ में मुझसे विवाह किया उस समय मैं अनभिज्ञ और मुग्धा थी। उस समय मुझे कृत्रिमता का ज्ञान न था। परन्तु अब मैं वैसी नहीं हूँ। मैं अब सिर से लेकर पैर तक कृत्रिम बनूँगी। इतने वर्षों तक मैं शांत रही, इसका मुझे बहुत पश्चाताप है। जो हुआ, सो हुआ। मैं किरात राजा की कन्या मुरा, यदि राजा की पूर्ण कृपा प्राप्त कर इन्हीं चार महीनों के अन्दर उसके हृदय की स्वामिनी न बन सकी, तो हे दासी, तुझे साथ ले जाकर तेरे ही सम्मुख हिमालय के जंगल में जलकर प्राण दे दूँगी। यह निश्चित समझ। पर ऐसा प्रसंग आयेगा ही नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार सब बातें कर दिखाऊँगी। आर्यपुत्र की प्रीति पुनः प्राप्त करूंगी। जो-जो मेरी इच्छा होगी, उनसे करवाऊंगी, इसमें मुझे तिल मात्र भी शंका नहीं है। राजरानियों में से किसी के भी पुत्र को मगधदेश का राज्य न मिलने दूँगी। किरात-वंश के धनुर्धर को यहाँ लाकर महाराज से उसे गद्दी दिलवाऊँगी। राजा ने अगर उसे उत्तराधिकारी न बनाया तो उसके ही हाथों उनको ही सिंहासन से दूर कर उसको सिंहासन पर बैठाऊँगी। ऐसा समझ कि आज से मेरे अंग में दूसरे ने संचार किया है। मैं पहले की मुरा नहीं। मुझे दासी बनाकर जिन राज-रानियों ने मेरे पुत्र का नाश किया, उन्हीं सब को मैं दासी बनाऊँगी। उन्हें मैं दासियों से भी विनम्र बना दूँगी। इससे अधिक मैं बोलना नहीं चाहती। चल, मैं तेरे साथ चलती हूँ। मैं अपने शोक को दूर करती हूँ। दु:ख को छुट्टी देती हूँ, दु:ख से म्लान मुख पर हँसी की धारा बहाती हूँ। अब तक गाली देने वाली जिह्वा अब प्रेम-शब्द कहेगी। पर अन्तरंग में उसी प्रकार का क्रोध जाग्रत रखूँगी तथा जितना कपट करना होगा, मीठी बातों से आवृत्त कर बाहर निकालूँगी।

आज तक की अकृत्रिम, निष्कपट और मुग्धा मुरादेवी अब आगे नहीं रहेगी। इसके आगे ऐसी कपटी और धूर्त बनेगी जिसकी प्रत्येक बात, चलन और कार्य में स्वार्थ भरा रहेगा। ऐसी बनेगी मुरादेवी! वह राजा को फँसाकर हर बात अपनी इच्छानुसार करायेगी; उसका नाश कर देगी। यदि ऐसी मुरादेवी तुझे पसंद हो तो मेरे साथ रह, नहीं तो अन्य लोगों की भाँति तू भी मेरी शत्रु हो जा। मेरी सेवा में रहेगी तो तुझे कब कैसा नीच काम करना पड़ेगा, कुछ निश्चित नहीं, देख विचार कर ले।"

यह बात बोलते समय सचमुच मुरादेवी के चलन में अन्तर आ गया। यह देख वृन्दमाला अत्यन्त चकित हो, उसके मुँह की ओर देखने लगी। मंथरा के अंग में जिस प्रकार द्वेष का संचार हुआ था, मेरी स्वामिनी के शरीर में भी सचमुच कुछ उसी प्रकार का संचार हुआ– ऐसा उसे प्रतीत हुआ।

चौथा परिच्छेद

बौद्ध-भिक्षु

चाणक्य अपने आश्रम से निकलने के कुछ दिनों बाद मगधदेश आ पहुँचा। चाणक्य के मन में यह विचार था कि यदि मैं अपने शिष्य-द्वारा मगध को जीतना चाहूँ तो उसके लिये आवश्यक सैन्य-बल लाना असम्भव है, क्योंकि मगधदेश का सेनापति और सैनिक उस समय विजयी थे। चाणक्य के शिष्य की सेना में भील, किरात, गोंड-खोंड आदि जाति के लोग थे। उनके पास धनुष-बाण, फरसा, करवाल वगैरह हथियारों को छोड़ अन्य हथियार नहीं थे। संख्या भी बहुत कम थी। ऐसी स्थिति में सेना लेकर मगधदेश पर आक्रमण करना अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मारने के समान है। इसीलिए मगध जाकर वहाँ की अन्तर्व्यवस्था के भेद जितने भी सम्भव हों, जान लेने चाहिए। अल्प-बल के आधार से यदि राज-महल गिराना हो, तो उस पर बाहर से प्रहार करने के पूर्व नीचे से जड़ हिलानी चाहिए। उसके बिना काम हो नहीं सकता। इसीलिए धनानंद के राज्य पर हमला करने के पूर्व यदि उसके अन्तर्भेद जानकर उसकी टाँगें पकड़ ली जाएं तो अच्छा। इसके आधार-स्तम्भों को निकाल लेना चाहिए, उसका जिन पर क्रोध हो, उनको अपने वश में कर लेना चाहिए। इस तरह जब भीतर खोखला हो जायेगा तो बाहर का प्रहार उसे चकनाचूर कर देगा। धनानंद के मर्म-स्थानों का भी पता लगा लेना चाहिए। उनके पता लग जाने पर फिर उन पर एक बार प्रहार करके धनानंद को जर्जर बनाना कठिन न होगा। इन्हीं विचारों के कारण चाणक्य पाटलिपुत्र जाने के लिए निकला था। उसे पहले इस बात की शंका हुई कि कोई वहाँ उसे पहचान न ले। पर बाद में उसने सोचा कि उसे पाटलिपुत्र गये तीन वर्ष होने को आये, कौन पहचान सकता है? मान लो, किसी ने पहचान लिया तो देखा जायेगा। जो काम करने जा रहा हूँ उसके लिए आगे की बात सोच लेनी चाहिए, यह सत्य है; पर यदि संकटों के बारे में ही सोचता रहा तो कुछ भी काम होना सम्भव नहीं। तब उसने बुद्धिमानों की भाँति थोड़ा विचारकर कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया और निश्चित किया कि जैसे-जैसे संकट आते जाएंगे, वैसे-वैसे विचार किये जायेंगे। फिर उसने पाटलिपुत्र में पैर रखा। पाटलिपुत्र में पहुँचकर ठहरा कहाँ जायेगा, यह विचार उसके मन में आया। किसी ब्राह्मण के घर जाकर ठहरा जाये, पर कोई ब्राह्मण पहचान का तो है ही नहीं। जहाँ पहले स्थान मिलेगा, वहीं ठहरा जायेगा, यह सोचकर वह सोन नदी के किनारे-किनारे जा रहा था कि उसे एक बौद्ध-भिक्षु ने देखा। उस बौद्धभिक्षु ने प्रथम दृष्टि में ही पहचान लिया कि यह ब्राह्मण इस नगरी के लिए नया है और कहाँ ठहरा जाये, इस विचार में है। इस समय मगधदेश में बौद्ध-भिक्षुओं का थोड़ा-बहुत प्रसार हो रहा था और वे ब्राह्मण तथा क्षत्रियों को अपने में मिलाने के लिए प्रयत्नशील थे। परन्तु उनके इन प्रयत्नों का कोई उग्र और भयंकर प्रभाव न पड़ा था। उनके

प्रति लोगों में अच्छे विचार न थे। कट्टर ब्राह्मण उनका तिरस्कार करते थे। बौद्ध-भिक्षु को देखते ही चाणक्य का दिमाग चढ़ गया। बौद्ध-भिक्षु हास्ययुक्त मुद्रा करके बोला–"नमो अरिहंतारम्!"और उसके पास आया। उस समय चाणक्य की मुद्रा बहुत ही तिरस्कारयुक्त हो गई, यह देख बौद्ध-भिक्षु को हँसी आ गई, और बोला–"ब्राह्मणश्रेष्ठ! तू मेरा तिरस्कार कर रहा है, यह मैं जानता हूँ। पर जो तिरस्कार करे उसका भी भला किया जाये, ऐसा हमारे भगवान बुद्ध का उपदेश है। तू इस नगर के लिए नया है, यह स्पष्ट दीख रहा है। तू मेरे साथ आ तो मेरे विहार के पास वाले कैलाश-मन्दिर में तेरे लिए व्यवस्था कर दूँ। तुझसे ऐसा कहने में मेरे मन में कोई पाप-बुद्धि नहीं है।"

बौद्ध-भिक्षु वृद्ध था और उसके वचन मीठे थे। चाणक्य को स्थान की आवश्यकता थी, इसलिए उसने उतने समय के लिए बौद्ध-भिक्षु के प्रति तिरस्कार न दिखा उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

बौद्ध-भिक्षु ने अपने विहार के पास वाले मन्दिर में चाणक्य की सब व्यवस्था कर दी।

बौद्ध-भिक्षु का यह सब स्वागत उसने बड़े कष्ट के साथ स्वीकार किया। उसके बदले उसे पश्चाताप हो ही रहा था। परन्तु उसी रात को कोई चमत्कार हुआ, जिसके कारण उसका पश्चाताप आनन्द के रूप में परिवर्तित हो गया।

ऊपर कहा गया है कि उत्तरी हिन्दुस्तान में बौद्ध-भिक्षु का प्रभाव अधिक न था। किन्तु उस धर्म के विरुद्ध अधिक कार्यवाहियाँ होती हों, ऐसा भी नहीं दीखता था। थोड़े ब्राह्मण, थोड़े क्षत्रिय, उतने ही वैश्य और अधिक संख्या में शूद्र इस धर्म की ओर झुकते दिखाई देते थे। बौद्ध-भिक्षुओं का धर्म-प्रचार का कार्य न होता रहा हो, ऐसी बात नहीं है। उनके प्रयत्न हो रहे थे, पर वे ब्राह्मणधर्मी राजाओं और स्वयं ब्राह्मण कुलपतियों की आँखों पर चढ़ने योग्य न थे। पागलपन का धर्म है, ऐसा लोग समझते थे। एकदम कट्टर ब्राह्मण उनका तिरस्कार करते और बहुत-से तो उनका नाम लेना भी पाप समझते थे। परन्तु इसीलिए उनका समूल नाश कर देना चाहिए, ऐसी समझ उन्हें अभी न आई थी। अपने पाटलिपुत्र आने पर सर्वप्रथम बौद्ध-भिक्षु का मिलना और उसी का आश्रय लेना चाणक्य को बुरा न लगा। 'जब मुझे यहाँ गुप्त रीति से काम करना है तो यह सोचना ठीक नहीं कि इससे मदद न ली जाये। इसके अतिरिक्त वह अपने विहार में भी रहने के लिए नहीं कह रहा है। मात्र उसके साथ जाकर कैलाश-मन्दिर में ठहरने में क्या बुराई ?' यही सोचकर चाणक्य ने उसका आमन्त्रण स्वीकार किया था।

श्री कैलाश-मन्दिर बहुत विशाल और रमणीय था। उसमें एक छोटा उपवन था, इसलिए उसको पुष्पवाटिका कहते थे। इस पुष्पवाटिका में छोटे-छोटे कितने ही मन्दिर थे। पास ही ब्राह्मणों के लिए पवित्र कृत्यार्थ सुन्दर स्थान बनाये गये थे। हिरण्यवती नाम की एक नदी पुष्पपुर की एक ओर बहती थी। उसी नदी का पानी यहाँ नल बनाकर लाया गया था। एक कृत्रिम वन भी यहाँ बनाया गया था। सारांश कि ब्राह्मण अपने पुण्यकर्म शान्तिपूर्वक कर सकें, ऐसी व्यवस्था की गई थी। बौद्ध-भिक्षु की सहायता से जब चाणक्य ने अन्दर प्रवेश किया तो यह सब देखकर आनन्द-मग्न हो गया।

वह शौचादि कामों से निवृत्त हुआ था, उसी समय बौद्ध-भिक्षु का आदमी यह पूछने आ पहुँचा कि भोजन की सामग्री भेजें अथवा फल आदि ? क्या इसका इतना उपकार लिया जाये, यह संकोच चाणक्य के मन में आया। उसने कहलवा दिया कि मैं अभी आप से आकर स्वयं मिलुँगा और जो कुछ होगा, कहूँगा। बौद्ध-भिक्षु समझ गया कि ब्राह्मण भोजन सामग्री लेने में संकोच कर रहा है। फिर भी उसके यहाँ आ जाने पर समझाना चाहिए। चाणक्य बैठा यह सोच रहा था कि आगे क्या किया जाये कि इतने में ही बौद्ध-भिक्षु का मनुष्य फिर आ पहुँचा, और उसने याद दिलाया कि बौद्ध-भिक्षु रास्ता देख रहे हैं। पहले सपाटे में तो चाणक्य को यह बात बहुत ही बुरी लगी और उसने सोचा कि बौद्ध-भिक्षु को कोई तिरस्कारयुक्त उत्तर देना चाहिए। लेकिन फिर विचार बदला। जिस काम के लिए इस नगर में आया हूँ उसके लिए कब किसी से सहायता लेनी पड़े, इसका कुछ निश्चय नहीं है। नीच से नीच और बड़े से बड़े आदमी का प्रेम प्राप्त करना है, छोटी-से-छोटी वस्तु का भी यथावकाश संग्रह करना है। ऐसा कहना उचित नहीं है कि यह वस्तु तिरस्कार करने योग्य है, और यह संग्रह करने योग्य। सब वस्तुओं का समय-समय पर उपयोग होता है। इन सब बातों को सोच उसने अपनी जिह्वा पर नियंत्रण किया और उस आदमी से बोला–“मैं आपके पीछे-पीछे आ ही रहा हूँ, आप आगे चलें।”

उपर्युक्त विचार आने के थोड़ी ही देर बाद चाणक्य उस बौद्ध-भिक्षु के पास गया।

बौद्ध-भिक्षु उसकी राह देख ही रहा था। चाणक्य के आते ही उसने उसे नमस्कार कर उसका स्वागत किया और उसे बैठने का स्थान दे फिर भोजनादि के बारे में प्रश्न किया। प्रश्न सुनकर चाणक्य को फिर कुछ संकोच हुआ; वह बोला–भिक्षु, यदि आप धान्यादि कहाँ मिलते हैं, यह बतलाने के लिए मेरे साथ आदमी भेज देंगे तो मैं अपने द्रव्य से सामान खरीदकर भोजन करूँगा। आप मेरे लिए व्यर्थ कष्ट न करें। आपने अब तक जो मेरी सहायता की उसी के लिए मुझे कितना बड़ा ऋण मालूम हो रहा है? ऐसा ऋण है जो मैं कभी चुका नहीं सकता। क्योंकि आप के प्रति सहायता की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उपकार ऐसे मनुष्य का लेना चाहिए जिसका प्रत्युपकार का समय जब आवे...।”

उसकी बात सुन बौद्ध-भिक्षु कुछ हँसा और बोला–“ब्राह्मण श्रेष्ठ, आपका कहना सत्य है, पर जब कोई अन्नदान देता हो तो उसकी ओर से पीठ नहीं फिरानी चाहिए। हमारे बुद्धु भगवान् का उपदेश है कि अतिथि का स्वागत करना एक महत्वपूर्ण कार्य है। आज आप एकदम नये यहाँ आये हैं। इस समय अपराह्नकाल हो गया है, इसलिए फलमूलादि का आहार कर लें। कल से जैसी इच्छा हो वैसा ही करें, मुझे कोई आपत्ति न होगी। मेरी विनती केवल इतनी ही है कि जब तक आप पाटलिपुत्र में हैं तब तक जैसी सहायता चाहिए, मैं देने में समर्थ हूँ। आप कहने में संकोच न करें। भगवान् बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार करते ही हमारी गणना नीचों में हो गई क्या?”

भिक्षु की बात सुन चाणक्य चुप रहा। इसके बाद उसने जो कुछ फलमूलादि दिये उसे ले वह अपने रहने के स्थान पर पहुँचा और खा-पीकर आगे का कार्यक्रम सोचने के लिए बैठा। इतने में ही सूर्यास्त का समय हो गया। उन सब मन्दिरों और छोटे-छोटे देवालयों में दीपक जलाये गए। पक्षी अपने घोंसलों की ओर लौट चले। चाणक्य भी अपने सायं-संध्यादि कर्मों

से निवृत्त हुआ। सब कुछ हो जाने के बाद उसने विचार करना आरम्भ किया। मैं पाटलिपुत्र में ब्रह्म कर्म करके उदर-निर्वाहार्थ नहीं आया हूँ। फिर बैठने से क्या लाभ ? धनानन्द के मर्मस्थान कौन-कौन से हैं, और उसके घर में भेद करने योग्य स्थान कहाँ है, तदनुसार क्या करने पर लोगों का मन उसके विरुद्ध होगा, इसका पता लगाना चाहिए। ऐसी स्थिति में इसका अतिथ्य क्यों ग्रहण किया जाये; ऐसा काम क्यों किया जाये, आदि बातें सोचने से क्या लाभ? गुरुपुत्र की मृत्संजीवनी का लाभ हुआ तो शुक्राचार्य के पेट में घुसने ही से। तब मुझे भी मगधदेश के लोगों में घुल-मिलकर भीतरी बातों का पता लगाना चाहिए। वैसा करने पर ही सब प्रकार की बातें ज्ञात होंगी और आगे के व्यूह की रचना होगी। तब अगर बातें निकालने का काम करना है तो इसी बौद्ध-भिक्षु से ही प्रारम्भ किया जाये। बौद्ध-भिक्षु के मन में यह बात तो होगी ही कि उसके धर्म का प्रचार राजकुल में भी हो, इसलिए राजकुल में क्या बातें हो रही हैं, इसका ज्ञान इसे अवश्य होगा। यदि प्रतिज्ञानुसार नन्द-वंश का नाश करना तथा उस पर अपने प्रिय शिष्य को बैठाना है तो तब तक के लिए मुझे अपना कर्म-काण्ड छोड़ना होगा। क्षात्र-धर्म के योग्य काम मैंने किए तो नहीं हैं, फिर भी अपने शिष्यों से वे काम करवाने हैं, अर्थात् वह कार्य पूर्ण होने तक मुझे ब्राह्मण-धर्म थोड़ा अलग रखना होगा। यह बौद्ध-भिक्षु है, इसलिए इससे बातचीत नहीं करनी चाहिए, व्यवहार नहीं करना चाहिए–ऐसा सोचने से कैसे काम चलेगा? इसलिए आज इसी समय भिक्षु के पास जाकर गप्पें मारनी चाहिए। क्या मालूम उस बातचीत में क्या काम की बात निकल आये? कोई काम की बात होगी तो मेरे लिए अत्यन्त उपयोगी होगी। ऐसा सोच वह बौद्ध-भिक्षु के पास पहुँचा। बौद्ध-भिक्षु के स्वागत के बाद उसने राज-सभा और अधिकारियों के बारे में प्रश्न किये। बौद्ध-भिक्षु समझा कि यह ब्राह्मण इसलिए ऐसे प्रश्न पूछ रहा है कि यह जान सके कि इसका प्रवेश राजदरबार में कैसे हो सकता है। इसलिए उसने उसी दृष्टि से प्रश्नों के उत्तर दिए, और यह भी कहा कि राज-सभा के अधिकारियों में से कितने ही धनानन्द, जिनका दरबार में प्रभाव है, गुप्तरीति से मेरे शिष्य हो गये हैं, उनसे आपकी बातें कह दूँगा जिससे आपका प्रवेश राजदरबार में हो सकेगा। अपना सच्चा हेतु प्रकट करने की इच्छा न होने के कारण चाणक्य ने भी भिक्षु से 'यदि आप ऐसा करेंगे तो बहुत अच्छा होगा, मेरा कार्य सिद्ध हो जायेगा' आदि बातें कहीं। चाणक्य वहाँ से अपने स्थान पर जाने के लिए उठ खड़ा हुआ तो बौद्ध-भिक्षु बोला–"इतनी जल्दी क्यों उठते हैं? बैठिये, मुझे इस समय कुछ काम नहीं है। अपना कुछ अधिक परिचय मुझे दें।" चाणक्य बैठ गया। बौद्ध-भिक्षु उससे कुछ प्रश्न करने ही वाला था कि उसके पास एक स्त्री आई और बड़ी भक्ति से उसे नमस्कार कर बोली–"भगवान्, वसुभूति! मैं आज आपसे कुछ विचार पूछने आई हूँ। अब तक मैंने सब अपने मन ही में रखा, पर आज मैंने यह निश्चित किया कि आपके पास आकर सब बातें कहूँ और आपका परामर्श लूँ।"

यह सुनकर बौद्ध-भिक्षु वसुभूति उससे बोला–"वत्स वृन्दमाले! तू इतनी शुष्क क्यों हो गई है? तुझे कुछ चिन्ता है क्या? मुरादेवी तो स्वस्थ है न?"

वह अन्तिम प्रश्न सुन वृन्दमाला एकदम बोली–"भगवान्, मुरादेवी शरीर से तो स्वस्थ है, पर अन्त:करण से बहुत अस्वस्थ है। कुमार सुमाल्य का जिस दिन से राज्याभिषेक हुआ उसी दिन से उसका मन ठीक दशा में नहीं है।"

वृन्दमाला के आने पर और विशेषत: उसके यह कहने पर 'आज मैं आपसे कुछ परामर्श लेने आई हूँ,' चाणक्य ने सोचा कि अब मुझे यहाँ से उठकर चला जाना चाहिए। परन्तु मुरादेवी का नाम सुन वह समझ गया कि कुछ राजघराने की बातें होने वाली हैं तथा विशेषकर यह बात सुनने पर कि सुमाल्य को युवराज बनाने के कारण मुरादेवी का चित्त ठीक नहीं है, उसने वहीं बैठकर सब बातें सुनना निश्चित किया। वृन्दमाला वसुभूति से क्या कहती है, और वह क्या जवाब देता है–यह सुनने के लिए उसके कान उत्कंठित हो गये। चाणक्य बहुत 'चाणाक्ष' था, कहना इसी प्रकार होगा जैसे यह कहना कि चाणक्य चाणक्य था। क्योंकि 'चाणाक्ष' शब्द मराठी में इसी महाधूर्त्त और चतुर ब्राह्मण के कारण निर्मित हुआ है। इसलिए चाणक्य के बारे में और क्या कहा जाय? वृन्दमाला मुरादेवी की दासी होगी, और कुमार सुमाल्य के युवराज्याभिषेक होने के कारण मुरादेवी मत्सर के कारण कुढ़ी होगी, यह उसे स्पष्ट दिखा। यदि यह बिल्कुल सत्य हुआ, तो मेरे लिए बहुत उपयोगी होगा तथा उसका ठीक उपयोग करने से राजकुल का भेद जानने का एक उत्तम मार्ग हाथ में आ जायेगा। इसलिए चाणक्य का वहाँ से न जाना प्राकृतिक ही था।

वसुभूति वृन्दमाला से बोला–"वृन्दमाले, तू यह क्या बोल रही है। तू कहाँ है, क्या बोल रही है, इसका विचार कर। वत्से, ये गृह-छिद्र किसी तीसरे के कान में नहीं पड़ने चाहिए। उस पर तुझ-जैसी विश्वासी सेविका को तो अपना मुँह एकदम से बन्द रखना चाहिए। मुरादेवी के लिए तो यह प्राकृतिक ही है कि वह अपने पुत्र के बदले दूसरे को युवराज बनता देख क्रुद्ध हो। मन्त्रियों और रानियों की बदौलत उसका पुत्र नहीं रहा, परन्तु फिर भी तुझ-जैसी सेविका को उसके लिए चुप रहना चाहिए। विश्वासी नौकर को अपने कान और आँखें खुली रखनी चाहिए, पर मुँह सदा बन्द। यदि कहना ही हो तो अपने स्वामी से कहना चाहिए, अन्यत्र नहीं।" वृन्दमाला वसुभूति का कहना शान्ति के साथ सुन रही थी। उसके चुप होने पर बोली–"भगवन्, आपका उपदेश सुना और उसे शिरोधार्य भी कर रही हूँ, पर मेरी एक विनती है। जो बात मैं आपसे पूछने आई हूँ, उसके बारे में मैंने और किसी से कुछ नहीं कहा है। पर आज मुझसे न रहा गया। जैसी दशा आजकल देवी की है, यदि वैसी ही कुछ दिनों और रही तो कोई न कोई बड़ा प्रलय अवश्य होगा। और नहीं तो देवी का ही सर्वस्व नष्ट हो जायेगा। आप मेरे गुरु हैं और आपने ही मुझे यह बात बतलाई है कि यदि कहीं किसी का कोई अनिष्ट हो रहा हो तो उसका निवारण भरसक करना चाहिए। इसीलिए मैं आपके पास आपका मत जानने आई। यह मुझे निश्चयपूर्वक ज्ञात हो रहा है कि यदि मेरी स्वामिनी की यही दशा रही तो या तो उसी का नाश हो जायेगा, अथवा अन्य कोई बड़ा प्रलय होगा। परन्तु इसका निवारण कैसे किया जाये, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। मैंने देवी को कितनी ही भाँति समझाया, पर उस पर असर नहीं पड़ता। इसलिए मैं आपके पास ये बातें बतलाकर आपकी राय लेने आई हूँ। गृह-छिद्र किसी के कान में प्रवेश करे, इस हेतु मैं नहीं आई। दूसरे किसके पास जाती?"

वसुभूति की इच्छा यह थी कि चाणक्य की उपस्थिति में बातें न हों, इसीलिए उसने उपर्युक्त उपदेश चाणक्य की ओर देखते हुए कहे। परन्तु चाणक्य मेरी ही तरह वसुभूति का गुप्त शिष्य होगा इसलिए, या जब से वह मन्दिर से निकली तब से उसकी जिह्वा अपने वश में नहीं थी इसलिए, अथवा आत्म-संयम न होने के कारण कहिए, उसने वसुभूति के सामने

चाणक्य के रहते सब बातें उगल दीं। वसुभूति उस ब्राह्मण से "आप अब यहाँ से जाइए" ऐसा भी न कह सकता था। उसने अप्रत्यक्ष रीति से चाणक्य की ओर इशारे भी किए, पर वृन्दमाला न समझ सकी। अन्त में इस पर नियन्त्रण करने का विचार एक ओर रख वह बोला–"वत्स, वृन्दमाले, यदि तेरी स्वामिनी मन की अशांति के कारण ऐसी हो गई हो तो तू उसे यहां ले आ। नहीं तो जो उपदेश मैंने तुझे दिये हैं, वही उपदेश तू उसे देकर उसके मन को शांति प्रदान कर। और क्या कहूँ? तेरी बातें सुन मुझे बहुत दु:ख हुआ, पर आज मैं विचार करके तुझे कल बताऊँगा। तू कल आ। एक बात ध्यान में रख कि जो बातें तूने मुझसे कहीं, वे और किसी से तो क्या, अपने-आप से भी न कहना। आज तक जी बातें तूने अपनी स्वामिनी के बारे में कहीं उससे तो ज्ञात होता है कि इस नगर का भविष्य उसी के हाथ में है। मुझे प्रतीत होता है कि उसके पुत्र को जंगल में ले जाकर मारे आज 16-17 वर्ष होने को आ गए। हैं न?"

"हाँ-हाँ! सोलह वर्ष होने को आये। परन्तु वह सब याद कर आज भी देवी को जो दु:ख होता है उससे यह प्रकट होता है कि जैसे वह घटना कल ही हुई हो।"

"हूँ! भगवान बुद्ध की जो इच्छा होगी, सो होगा। तू अब जा। कल आना।" ऐसा कह उसने वृन्दमाला को छुटकारा दिया और एक लम्बी सांस खींच कुछ देर चुप रहा। चाणक्य के मन में यह विचार था कि अभी जो बातें हुईं उनके बारे में बौद्ध-भिक्षु से प्रश्न करके अधिक बातें ज्ञात की जाएं। पर प्रयत्न करते न बनता था। इतने में फिर वसुभूति ने एक लम्बी साँस खींच चाणक्य को लक्ष्य कर कहा–"ब्राह्मण-श्रेष्ठ! आपको कदाचित् सत्य न मालूम हो, पर हमारे बुद्ध भगवान् ने महापरिनिब्बाणसुत में इस नगरी के भविष्य के बारे में तीन अनिष्ट बतलाये हैं। अग्नि प्रलय, जल प्रलय और गृहकलह। गृहकलह होता ही रहेगा, मंत्री और राजा योग्य विचार करने वाले न होंगे, तो यह सब होगा ही। यह मुरादेवी सच्ची राज-कन्या, किरातराज की कन्या है; परन्तु उसे दासी ठहरा उसके पेट से धनानन्द को जो पुत्र हुआ उसके बारे में कुत्सित संशय फैलाकर उसे लड़कपन में ही हिमालय के जंगल में मरवा डाला गया। वही अन्याय कदाचित् गृहकलह का कारण हो। बुद्ध भगवान् की भविष्यवाणी सच होने वाली है।"

यह कहना व्यर्थ है कि चाणक्य वसुभूति की ये सब बातें बड़े ध्यान के साथ सुन रहा था।

पाँचवाँ परिच्छेद

चाणक्य का विचार

वसुभूति की बातें सुन चाणक्य के मन में नाना प्रकार के विचार उठ रहे थे। मैं जिस उद्देश्य से इस नगरी में आया, उस कार्य में साधक राज्यकुल की एक स्त्री भी हो सकती है? फिर क्या कहना है? पहले ही चाणक्य अत्यन्त दूरदर्शी और सूक्ष्मदर्शी था, पर जब वसुभूति की कही हुई मुरादेवी के पुत्र की कथा चन्द्रगुप्त की कथा से मिलती-जुलती लगी, तब क्या कहने हैं? चाणक्य आनन्दित हो गया, यह कहने की आवश्यकता नहीं। तथापि मुझे ऐसी अत्यन्त अनुकूल स्थिति एकदम सच्ची नहीं प्रतीत होती। मेरे समझने में कोई भूल हो गई होगी। इसलिए जो वास्तविक बात है उसे बिना अच्छी तरह जाने किसी प्रकार का आनन्द अथवा विषाद मानना उचित नहीं। किसी भी काम की सिद्धता को बिना अच्छी तरह मालूम किये उसके बारे में मनाया जाने वाला आनन्द प्राय: बाद में दु:ख का कारण होता है। ऐसा सोच चाणक्य वसुभूति से बोला–

''भिक्षुश्रेष्ठ! मुझे आपकी इस नगरी के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। मैं हिमाचल की मरुद्वती नदी के किनारे चाणक्य-आश्रम में रहता था। यह नगरी बड़ी है, यहाँ के राजा की बड़ी कीर्ति मैंने सुनी और यह सोचकर कि कोई महाश्रय मुझे मिलेगा, मैं यहाँ आया। पर राजकुल में कलहाग्नि की आग को सुन मैं एकदम चकित हो गया। जहाँ गृह-कलह रहता है वहाँ बहुत दिनों तक लक्ष्मी का निवास नहीं रहता। कुछ भी हो, मुझे इन सबसे क्या मतलब? पर भगवन् वसुभूति, यह मुरादेवी कौन है? तथा उसके पुत्र को किसने और कैसे मारा ? मैं पूछ रहा हूँ इसलिए क्षमा करें। लेकिन यदि मुझे सब ज्ञात हो जायेगा तो मैं इस गृह-कलह के निवारणार्थ कुछ अनुष्ठान करूँगा।''

चाणक्य की बातें सुन वसुभूति भिक्षु हँसा और बोला–"ब्राह्मण-श्रेष्ठ, आप से वे बातें क्या करूँ? इस पाटलिपुत्र की कीर्ति जैसी तुम दूर के लोगों को दीखती है, यथार्थ में वह वैसी नहीं है। राजा धनानन्द अविचारी तथा दूसरों की बुद्धि पर निर्भर रहने वाला है। उसके अनेक मन्त्री हैं, और भगवान् की इच्छा ऐसी है कि उनमें भी जो मूर्ख और स्वार्थी हैं, उन्हीं से धनानन्द का सम्बन्ध है। मुरादेवी पहले कभी राजा की बड़ी ही प्रिय रानी थी और राजा को उसके बिना चैन न पड़ता था, इसलिए अन्य रानियाँ उससे कुढ़ उसका नाश करने का मार्ग ढूँढ़ने लगीं। सेनापति भागुरायण किरात राजा को हरा उसकी लड़की को पकड़ लाया और राजा को अर्पण कर दिया। उसका अलौकिक सौन्दर्य देख राजा ने उससे विवाह किया और उसके गर्भ भी रह गया। उस समय तक राजा की अन्य रानियों में से किसी के भी पुत्र न हुआ था। इसलिए मुरादेवी के विरुद्ध उनका मत्सर और भी बढ़ गया और उसके विरुद्ध काम होने लगे। अन्त में उनके कुचक्र ने मुरा को किरातराजा की दासी-पुत्री ठहरा दिया और उसके चरित्र में कलंक भी लगा दिया। राजा ने विश्वास कर लिया और उसे जेल

में बन्द कर यह आज्ञा दी कि मुरादेवी के पेट से जो भी पुत्र-पुत्री हो, मार डाली जाये। राजाज्ञा के विरुद्ध कौन चल सकता था? तुरन्त उस आज्ञा के अनुसार सब व्यवस्था हो गई। मुरादेवी के जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका घात करने की आज्ञा हुई। लड़का उस शैशवावस्था में ही बहुत सुन्दर और तेजस्वी दिखता था। उस समय जिस परिचारक पर लड़के का घात करने का उत्तरदायित्व था उसको अधिकारियों तथा अन्त:पुर की स्त्रियों ने विशेष उत्तेजना दे, लड़के का घात करवाया। इस बात को आज बहुत वर्ष हुए। राजा की दूसरी एक पत्नी के पेट से पैदा हुए सुमाल्य नामक लड़के का, क्योंकि वह सभी से बड़ा था, अभी थोड़े ही दिन हुए युवराज्याभिषेक किया गया। उस मौके पर जितने बन्दी छोड़े गए उनमें मुरादेवी भी एक थी। पहले की तरह उसके रहने की व्यवस्था अन्य रानियों के साथ अन्त:पुर में हुई। परन्तु इससे मुरादेवी को आनन्द न हुआ और उसकी जो अवस्था हुई, वह वृन्दमाला कह ही चुकी है। यदि मुरादेवी मुझे उपदेश देने के लिए मिल गई तो मैं उसे उपदेश दूँगा कि वह राजकुल को छोड़कर संन्यास ले, इस संसार से अलग हो जायेगी।''

वसुभूति की बातें चाणक्य शान्तिपूर्वक सुन रहा था। उसके मन में कुछ अन्य प्रकार के ही विचार उठ रहे थे। पर अन्त में जब वसुभूति ने मुरादेवी को संन्यास दीक्षा दे बुद्धिरक्षिता बनाने की बात कही, तो चाणक्य को हँसी आ गई; तथापि वह सिर्फ इतना कह कैलाश-मन्दिर में सोने जाने के लिए उठ खड़ा हुआ–"हाँ, जैसी शंकर भगवान् की इच्छा! उसके मन में जैसा आयेगा करेगी, अपने को क्या करना है?'' रात बहुत हो गई थी। इसलिए अथवा उसे अपने मन में विचार करने थे, यह कहिए, बौद्ध-भिक्षु ने चाणक्य से और बैठने का आग्रह न किया।

चाणक्य जाकर अपने सोने के स्थान पर लेट गया, पर उसे किसी तरह नींद न आई। नाना प्रकार के विचार उसके मस्तिष्क में चक्कर लगाने लगे और वह उठ बैठा। अब पहला काम यह है कि वृन्दमाला से मिलकर उसकी स्वामिनी मुरादेवी को वश में किया जाये। एक बार मुरादेवी से मिल लेने पर उसके मन की महत्त्वाकांक्षा को बढ़ा उसे अपने वश में कर लूँगा। उसी तरह चन्द्रगुप्त की कथा और उसके पुत्र की कथा मिलती-जुलती है। इसलिए उसके मन में यह बात बैठाना कि चन्द्रगुप्त उसका ही पुत्र है, कुछ बुरा नहीं है। चन्द्रगुप्त सचमुच उसका लड़का हुआ तो ठीक ही है, यदि न भी हुआ तो उसे विश्वास दिलाकर कि वह लड़का उसी का है और उसे राजसिंहासन पर बैठाने के लिए अपनी मदद देने का वचन दूँगा। यदि उसे यह विश्वास हो गया कि चन्द्रगुप्त उसी का लड़का है तो फिर और क्या चाहिए? मुझे किसी प्रकार का विशेष यत्न करने की आवश्यकता न पड़ेगी। केवल इसी बात का ध्यान रखना होगा कि किसी प्रकार का अविचार-पूर्ण काम उसके हाथों से न हो, न बाहर यह बात निकलने पाये। उसे यह प्रतीत होने लगा कि वह पाटलिपुत्र शुभ मुहूर्त पर आया, क्योंकि अभी यहाँ आये केवल आठ ही घंटे हुए और इतने ही में अपना इष्ट कार्य साधने के थोड़े-बहुत साधन हाथ लग गए। यह सब ठीक हुआ। मुरादेवी का दर्शन होने पर उसके मन में नाना प्रकार की बातें भर दूँगा और उसे विश्वास दिला दूँगा कि उसका पुत्र जीवित है। पर उससे एकान्त में भेंट कैसे हो?–यही चाणक्य की समझ में न आया। उससे भेंट करने का पहला साधन वृन्दमाला पर अपना विश्वास जमाना है। वृन्दमाला वसुभूति के पास आती है, उस समय उससे इस सम्बन्ध में बातें करने का कुछ अर्थ नहीं। परन्तु उसे

एकान्त में गाँठ कर उसकी स्वामिनी तक पहुँचने का उपाय निकालना चाहिए। ऐसा निश्चय होने के बाद दूसरे विचार की बात वसुभूति को बतानी चाहिए या वैसा न करते हुए वृन्दमाला का चित्त अपने अधीन कर उसी से कार्य सिद्ध करना चाहिए। वसुभूति को यह बातें न ज्ञात हों, यह असम्भव है–और कदाचित् अनिष्टकारी भी। वसुभूति को मित्र बनाने में मेरा ही लाभ है, क्योंकि उसकी पहुँच सब जगह है, और उसके कहे के अनुसार कुछ अधिकारी-गण भी उसके गुप्त शिष्य हैं। वसुभूति से सब बातें कह उससे सहायता लेनी चाहिए, यह विचार उसके मन में उठा; पर अधिक देर तक न टिक सका। मैं इस पाटलिपुत्र में एकदम नया आया हूँ और अभी यहां आये कदाचित् पूरे आठ घंटे भी नहीं हुए हैं। अगर मैं वसुभूति से ये बातें कह दूँगा तो व्यर्थ झगड़े में पड़ना पड़ेगा और शायद वह मेरे ऊपर संदेह भी करने लगे। इससे अच्छा तो यह है कि वृन्दमाला को समझाकर अथवा फँसाकर अन्त:पुर में प्रवेश किया जाये और जब यह बात वसुभूति को मालूम होने लगे तो स्वयं उससे सब बातें कहकर उससे भी सहायता माँगी जाये। इतना विचार होते-होते उषाकाल हो गया। उस रात वह ब्राह्मण एक क्षण भी नहीं सोया।

प्रभात हुआ। पूर्व के आकाश की ओर उसने मुख फेरा तो देखा वह दिशा अरुण के तेज से आरक्त हो गई थी। यह आज का उषाकाल ही नहीं, बल्कि मेरी प्रतिज्ञा में कार्यसिद्धि का भी उषाकाल है। वह बोला–"निद्रे! जिस तरह तू आज नहीं आई, उसी तरह अगर धनानन्द तथा उसके आठ पुत्रों के नाश और चन्द्रगुप्त के राजसिंहासन पर बैठने तक न आई तो भी कोई हर्ज नहीं है। तेरी आवश्यकता तो सुख के समय है। कार्य के समय तेरी संगति न हो, यही अच्छा है।" इतना कहने के बाद वह प्रात:काल के कार्यों से निबटने के लिए उठ खड़ा हुआ।

उसने उस दिन अपने प्रात:कर्म किये तो अवश्य, पर उनकी तरफ उसका मन न था। उसका मन तो वृन्दमाला, मुरादेवी और चन्द्रगुप्त की ओर लगा था। वह इस विचार में लीन था कि वृन्दमाला को गाँठकर कैसे अन्त:पुर में प्रवेश किया जाये और मुरादेवी को कैसे समझाया जाये कि उसका तथा चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध माँ-बेटे का है। वह नित्यकर्मों से छुट्टी पा भोजन की तैयारी में लगा। पहले दिन के समान वसुभूति ने चाणक्य के पास सीधा-सामग्री भेजी। उस दिन पिछले दिन की भाँति उसने सामग्री का अपमान न किया। उसे अपने साथ एक शिष्य लाना चाहिए था; परन्तु वह लाया नहीं; इसलिए उसे बहुत अड़चनें होतीं। फिर भी शिष्यों की क्या कमी? यहाँ थोड़ी व्यवस्था हो जाने के बाद शास्त्र पढ़ाने लगूँगा तो अपने आप ही शिष्य आ खड़े होंगे। यह सोचता हुआ वह भोजन पकाने लगा। भोजन पक जाने पर उसने खाया और वसुभूति के विहार की राह पकड़ी। वसुभूति भी अपने धर्म-कर्मों से छुट्टी पा किसी प्रकार के पत्र-लेखन में उलझा हुआ था। चाणक्य उसकी बगल में जा बैठा, तब उसका पत्र-लेखन का कार्य समाप्त हुआ और उसने अपने सिद्धार्थक नामक शिष्य को बुला उसे वह पत्र देते हुए पत्र को वृन्दमाला के पास गुप्त रूप से पहुँचाने के लिए कहा।

उसी क्षण चाणक्य के मन में विचार आया और उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए उसने वसुभूति से कहा–"भिक्षुश्रेष्ठ! मैं इस नगरी में एकदम नया आया हूँ और मैंने नगरी

देखी तक नहीं है, इसलिए यदि आपकी आज्ञा हो तो इस सिद्धार्थक के साथ जाऊँ। जाते-जाते नगरी की शोभा आसानी से देखने को मिलेगी।''

वसुभूति क्षणभर सोचकर बोला–"जाइए, जाने में कोई हानि नहीं, परन्तु उसे किसी गुप्त कार्य के लिए भेज रहा हूँ, इसलिए आप साथ रहेंगे तो....।''

''मेरे साथ रहने से यदि कार्याघात होता हो तो मैं आग्रह नहीं करूँगा; परन्तु गोपन-स्फोट हो जायेगा, यह संशय यदि हो तो उसे मन में भी न लायें। जिसने मेरी सहायता इस नगरी में आते ही बड़े प्रेमभाव से की उसके कार्य का स्फोट मेरे द्वारा होगा, यह असम्भव है। यदि मेरे-हाथ से कुछ हो सकेगा तो केवल सहायता–और सहायता करके ही आपका ऋण चुकाऊँगा।

चाणक्य ने यह बात इतनी आतुरता से कही थी कि वसुभूति को किसी प्रकार संशय न हुआ। बोला–"वैसी कोई बात नहीं। सिद्धार्थक! इन्हें भी अपने साथ लेता जा। वृन्दमाला को पत्र गुप्त रूप से देना।'' चाणक्य को सन्तोष हुआ और वह सिद्धार्थक के साथ जाने के लिए निकल पड़ा।

सिद्धार्थक एक नवयुवक कायस्थ था। उसे किसी कारण से राजदण्ड हुआ था और वह विमार्ग की ओर अग्रसर हुआ था। उस समय वसुभूति ने उसे उपदेश दे अपना शिष्य बना लिया। वह भी अपने गुरु की सेवा भक्तिभाव से करता था। चाणक्य ने सिद्धार्थक को देखते ही समझ लिया था कि यह मूर्ति मेरे प्रतिज्ञा-कार्य में पर्याप्त रूप में काम आयेगी। इसलिए इसे अपनी ओर झुका इससे मित्रता गाँठने का प्रयत्न करना चाहिए, यही सोच चाणक्य सिद्धार्थक के साथ जाने के लिए निकला था।

सिद्धार्थक के पास वृन्दमाला को देने के लिए एक पत्र था। उस पत्र में क्या लिखा होगा, इसकी कल्पना चाणक्य ने सहज ही कर ली, क्योंकि पिछले दिन जब वसुभूति और वृन्दमाला में बातें हो रही थीं तो चाणक्य वहाँ उपस्थित था। सिद्धार्थक ने रास्ते में चाणक्य को नाना स्थानों के नाम, मन्दिरों तथा प्रासादों के नाम एवं बड़े-बड़े श्रेष्ठ नागरिकों के नाम और उनके रहने के स्थान दिखाये। उसी प्रकार उद्यान, वाटिका और प्रेक्षणीय स्थानों के नाम आदि का थोड़ा वर्णन उसने किया। अन्त में वे एक जल-मन्दिर के पास आये। तब उसका वर्णन करते हुए राजा धनानन्द का नाम आया। उस समय सिद्धार्थक ने राजा धनानन्द की निन्दा करनी आरम्भ कर दी। ''धनानन्द के समान अनुयायी राजा कोई नहीं, उसके समान हठी कोई नहीं, उसे सत्य से प्रेम नहीं। उसने मुझे मेरा कोई अपराध न होते हुए भी केवल अपनी दुष्ट-बुद्धि के कारण राजदण्ड दे दिया था। इस पाटलिपुत्र में उसकी प्रशंसा करता हुआ कोई न मिलेगा।'' इसी प्रकार का प्रलाप उसके मुँह से निकल रहा था। पहले तो चाणक्य को उसकी बातें सुन आश्चर्य हुआ, परन्तु बाद में यह जानकर कि सिद्धार्थक को राजदण्ड हुआ था, इसलिए ये सब बातें कह रहा है उसका आश्चर्य मिट गया। फिर भी उससे प्रश्न कर उसकी स्वयं की वस्तुस्थिति मालूम करनी चाहिए और यह भी पूछना चाहिए कि उसे कितने दिन जेल में काटने पड़े थे। ऐसा चाणक्य के मन में आया और उसी के अनुसार उसने सिद्धार्थक से प्रश्न करने का उपक्रम किया।

सिद्धार्थर्क ने उससे अपनी स्थिति कही। अपने को निर्दोष बतलाते हुए उसने कहा कि धनानन्द ने राज-मत्सर के ही कारण उसे दण्ड दिया। अपनी हक़ीक़त सुनाने के बाद उससे जितना हो सका, धनानन्द को गालियाँ दीं। तब चाणक्य उससे हँसते-हँसते बोला–'सिद्धार्थक! राजा पर तेरा बहुत रोष दीखता है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि यदि तेरा वश चले तो तू तनिक भी आगा-पीछा न करते हुए राजा का नाश कर डाले।''

सिद्धार्थक उससे तुरन्त बोला–"अवश्य, अवश्य करूँगा। कभी भी नहीं चूक सकता। धनानन्द कितना मूर्ख, दुष्ट और अन्धा है, इसकी आपको कल्पना तक नहीं हो सकती। परन्तु जब तक राक्षस राज्य-कार्य चलाने के लिए है तब तक कोई राज्य का अणु-मात्र भी अहित नहीं कर सकता। वृन्दमाला मुझसे कहती थी कि मुरादेवी के समान साध्वी और सद्गुणा-सम्पन्ना स्त्री दूसरी नहीं मिल सकती; परन्तु राजा ने व्यर्थ उसके सम्बन्ध में कुतर्क निकालकर और अपनी पत्नियों के मत्सर से प्रेरित होकर उसका त्याग कर दिया। इतना ही नहीं, बल्कि उसके पुत्र को भी मरवा डाला। यह सब क्या है? अब जब सुमाल्य का यौवराज्याभिषेक किया, तब उसे बन्धन से मुक्त किया है। उसे साधारण कारागृह में चोरों की भाँति रखा.....।''

''क्या? मुरादेवी इतनी उत्तम स्त्री है क्या?'' चाणक्य बीच ही में बोला–"मैंने जब से इस नगरी में पाँव रखा, तभी से उसकी प्रशंसा सुन रहा हूँ। यदि वह ऐसी पुण्यवती सती है, तो उसका दर्शन करना चाहिए, ऐसा मेरे मन में बहुत आता है।''

''फिर उसमें अशक्य ही क्या?'' सिद्धार्थक तुरन्त बोला–"मुरादेवी, बड़ी शिव-भक्त है। वह हर सोमवार की कैलाश-मन्दिर में श्री कैलाश का दर्शन करने और पुराण सुनने आती है। जब वह कारावास में थी तब भी उसे वहाँ जाने दिया जाता था। परसों सोमवार है, सूर्यास्त के समय वह आयेगी। वहाँ उसके दर्शन में कठिनाई नहीं है।''

चाणक्य ने अपना सिर हिलाया। उन शब्दों का कोई उत्तर न दिया। धीरे-धीरे चलते उन्हें काफी देर हो गई। इतने में सिद्धार्थक चाणक्य से बोला–"यह राज्य-प्रासाद के आगे का छोटा-सा भाग है। इसके अन्दर जाकर शीतल पेड़ की छाया में बैठिये। मैं गुरुजी का दिया हुआ गुप्त पत्र वृन्दमाला के हाथों में देकर या ऐसी व्यवस्था करके आता हूँ कि पत्र उसी को मिले।'' चाणक्य कुछ देर चुप रहा। फिर बोला–"सिद्धार्थक! तुम्हें यह संशय तो नहीं कि मेरे द्वारा तुम्हारा गोपन-स्फोट होगा। क्या तुम इसीलिए मुझे यहाँ बैठने के लिए कह रहे हो? जो बात तुम्हारे गुरुजी ने उस पत्र में लिखी है, वह सब मुझे मालूम है। वृन्दमाला कल रात को क्यों आई थी, और उसने गुरुजी से क्या कहा, यह सब मुझे ज्ञात है। तुम मुझे अपने साथ ही ले चलो। अगर तुम्हें किसी प्रकार की अड़चन होगी तो मैं सम्भवत: सहायता कर सकूँ। यहाँ पागलों की तरह अकेले बैठकर क्या करूँगा?''

चाणक्य की यह बात सुन सिद्धार्थक कुछ देर तक बिल्कुल चुप रहा। उससे यह न कहा गया कि तुम मत आओ। ऐसी स्थिति में पड़ उसने उससे इतना कहा–"आप आना चाहें तो आयें, पर मेरा ही प्रवेश जहाँ खुले रूप में नहीं है, वहाँ आपको लेकर कैसे जाऊँगा? केवल यही बात है।''

“क्या? मेरे जैसे ब्राह्मण को अन्दर जाने में अड़चन? बड़ी अच्छी राजव्यवस्था है! फिर तो मैं तुम्हारे साथ चलूँगा ही। भूलकर यदि ब्राह्मण आ जाये तो राजा उसे कैसा दण्ड देता है, यह तो देखूँ। चलो, वृन्दमाला मुझे तो जानती है। मैं तुम्हारे साथ रहूँगा तो उसे ज़रा भी बुरा न लगेगा और न वह तुझसे नाराज़ ही होगी।”

सिद्धार्थक अब एकदम निरुपाय हो गया। और ऐसा कहते हुए आगे बढ़ा–“आप आना चाहते हैं तो चलें।” चाणक्य भी उसके साथ चला। ये दोनों राजप्रासाद के अन्त:पुर में पश्चिम की ओर वाले मार्ग से गये। सिद्धार्थक और वृन्दमाला में पहले ही निश्चित था कि कहाँ और किस समय मिला जाये। किसी भी पुरुष की अन्त:पुर में जाने की आज्ञा नहीं थी, यह बात तो खुली ही है। परन्तु द्वारपाल तथा दासियों से परिचित व्यक्ति को बाहर-भीतर आने में कोई आपत्ति न थी। किन्तु आगे की तरफ़ से जाने के लिए विशेष आज्ञा की आवश्यकता थी। जिस समय सिद्धार्थक गया, वह समय उसके और वृन्दमाला के मिलने का था। वे दोनों नियमित स्थान पर खड़े रहे। इतने में वृन्दमाला आई। सिद्धार्थक ने उसके हाथों में गुरुजी का पत्र दे दिया। उसने चाणक्य की तरफ देखा और कहा–“गुरुजी के उपदेशामृत का पान कर आप भी गुरुजी की सेवा का व्रत ले चुके हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ठीक है। मुझे जितनी सेवा करनी चाहिए उतनी मैं नहीं कर पाती, इसका मुझे दु:ख है। परन्तु दिन-प्रतिदिन उन्हें अधिकाधिक शिष्य मिलते जा रहे हैं, यह जानकर मुझे आनन्द होता है।” ऐसा कह उसने दोनों को छुट्टी दी, और वे दोनों भी बाहर निकल पड़े।

छठवाँ परिच्छेद

आरम्भ

वसुभूति का पत्र पढ़ने के लिए वृन्दमाला बहुत उत्सुक थी। उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि मुरादेवी के हृदय का पागलपन दूर हो जाये, और वह अन्त:पुर में सुख तथा शान्ति के साथ रहे। मुरादेवी पर वृन्दमाला की बहुत भक्ति थी। धनानन्द ने मुरादेवी पर बहुत अत्याचार किये, और उसके पुत्र को बिना कारण मरवा डाला, यह वृन्दमाला को भी बहुत बुरा लगता था। परन्तु जो हो गया–जिस बात को हुए आज पन्द्रह साल हो गये, उस बात को उखाड़कर व्यर्थ में अपनी जान जोखम में डाली जाये, यह उसे पसन्द न था। इसी तरह गृहकलह का उत्पन्न होना भी उसे अच्छा न लगा। हाँ, यदि उसका पुत्र जीवित होता और उसे राज्याधिकार देने के लिए यह सब बात होती, तो कोई बात न थी। फिर तो वह भी उसकी सहायता करती। परन्तु वह सब कुछ नहीं है। मुरादेवी के पुत्र को मार डाला गया, और उसका अपमान किया गया, इसलिए दीर्घद्वेष के कारण राजकुल के नाश करने की बात मन में रखकर कोई काम करना उसे उचित नहीं लगा, विशेषकर नन्दवंश का नाश कर और उस पर मुरा के पितृ-गृह में से किसी को गद्दी पर बैठाने का विचार उसे बिल्कुल अनिष्टकर प्रतीत हुआ। मुरादेवी का व्यूह रचा जा सकेगा और वह सफल हो जायेगा, इसका वृन्दमाला को विश्वास न था, क्योंकि मुरादेवी की शक्ति ही क्या थी? परन्तु अपना ध्येय पूर्ण करने की धुन में वह अपना ही नाश कर बैठेगी, यह बात वृन्दमाला को खटकी। मुरादेवी अभी सहज ही में बन्दीगृह से छूटी है, और कहीं उसने कोई उलटा-सुलटा पागलपन का काम कर डाला तो शायद फिर जेल में, अथवा उससे भी बुरी किसी नारकीय जगह में उसे सड़ना पड़े। यह बात वृन्दमाला को अच्छी न लगी। वृन्दमाला अपनी स्वामिनी की बड़ी भक्त थी, इसलिए वह चाहती थी कि उसकी मालकिन पर किसी प्रकार का कष्ट न आये। वह अपने द्वेष के कारण कहीं अपने ऊपर ही कोई संकट खींच न बैठे, इसी विचार से उसने सब बातें जाकर बौद्ध-भिक्षु से कही थीं। उसे विश्वास था कि गुरुजी कोई-न-कोई उपाय निकाल मुरादेवी को संकट से बचा लेंगे, या उसे कोई उपदेश दे उसके पागलपन को दूर करेंगे। उसी समय सिद्धार्थक ने आकर उसे पत्र दिया था। उसे पूरा विश्वास हो गया था कि गुरुजी कोई-न-कोई उपाय निकालकर मेरी स्वामिनी को शान्ति प्रदान करेंगे।

पत्र के हाथ में आते ही उसे एकान्त में ले जाकर खोला और पढ़ा। पत्र इस प्रकार था–“स्वस्ति! तू कल रात को जब से गई, मेरा मन चिन्तामग्न है। तूने मुरादेवी के बारे में जो कुछ कहा था उस पर मैंने पर्याप्त विचार किया। उसे उसी के विचार पर छोड़ देना उचित नहीं। उसी की हानि न होगी! इसलिए कोई उपाय करना चाहिए। क्या करना चाहिए, यह

मैंने विचार लिया है। तू मुझसे फिर एक बार मिल। तब यह विचार किया जायेगा कि मेरी और मुरादेवी की भेंट कहाँ हो और कैसे हो। मुझे इस बात का विश्वास हो रहा है कि एक बार उससे भेंट करने पर सब ठीक हो जायेगा। एक दृष्टि से हमें यह मालूम होता है कि मुरादेवी के कार्य से उसी की हानि होगी। पर उसका क्या ठिकाना? अधिकारीगण भी धनानन्द से कुछ चिढ़े से हैं और यवन तो मगध में प्रवेश करने के लिए जी-जान से प्रयत्नशील हैं। ऐसे समय गृहकलह की आग तनिक भी जली तो बस उसके बढ़ जाने की सम्भावना है। इसलिए हमें इसी समय ज्ञानदृष्टि करनी चाहिए। मुरादेवी की जैसी वृत्ति है, इससे भी निकृष्ट न हो जाये, इस पर दृष्टि रख अपनी तरफ से काफी चैतन्य रहूँगा। मुरादेवी के पास अन्त:पुर में कौन आता है, कौन जाता है, वह किससे बोलती है, क्या बोलती है, इन बातों पर तू नज़र रख तथा कोई विशेष बात हो जाये तो मुझे सूचित कर। और अधिक बात भेंट होने पर होगी। पत्र पढ़ने के बाद नष्ट कर डालना, इसे रखना नहीं। भगवान् बुद्ध की विजय हो और तेरा कल्याण हो। वह हमें प्रस्तुत प्रसंग पर कोई मार्ग दिखायेगा। इति शुभम।"

पत्र पढ़ने के बाद वृन्दमाला को थोड़ी शान्ति मिली। वसुभूति पर उसे बहुत विश्वास था। उसके मन में शान्ति हुई तथा उसे विश्वास हो गया कि गुरुजी ने काम हाथ में लिया है तो उसमें कोई विघ्न नहीं पड़ सकता। वे काम को यथोचित कर देंगे। उसी रात वृन्दमाला ने वसुभूति से फिर मिलने का निश्चय किया।

यहाँ सिद्धार्थ और चाणक्य वृन्दमाला को वसुभूति का पत्र देने के बाद थोड़ा नगर-प्रेक्षण करते हुए चले। रास्ते में चलते-चलते चाणक्य दो कार्य करता जा रहा था। सिद्धार्थक से नाना प्रकार के प्रश्न कर नगर और राजकुल की अन्तर्बाह्य स्थिति मालूम करता जा रहा था तथा यह भी विचार उसके दिमाग़ में चक्कर लगा रहा था कि वृन्दमाला को किस तरह फाँसकर अपना काम निकाला जाये। आज वसुभूति ने वृन्दमाला को जो पत्र लिखा है उसमें बहुत करके उसने वृन्दमाला को बुलाया होगा। कल रात को दोनों में जो बातें हुई थीं, उन्हीं के बारे में शायद आज भी बातें हों। इन दोनों की बातें किसी तरह सुननी चाहिए। इन बातों से अगले कार्यक्रम में सहायता मिलेगी। कल की तरह आज भी वसुभूति के यहाँ जाकर बैठा रहूँगा। परन्तु कल की तरह आज फिर करने से शायद वसुभूति को अच्छा न लगे, इसलिए आज कोई नई ही युक्ति निकालनी चाहिए। ऐसा सोचते हुए सिद्धार्थक से बातें करते हुए वह एक मन्दिर के सामने खड़ा हो गया। वह मन्दिर किस देवता का है, उसने जान लिया। फिर भी सिद्धार्थक से पूछा–"सिद्धार्थक! यह विशाल मन्दिर किसका है?" प्रश्न सुन सिद्धार्थक सिर हिलाते हुए बोला–"नमो अलिहंताणम्। नमो अलिहंताणम्। ब्राह्मण-श्रेष्ठ, यह मन्दिर किसका है, उसके नाम का उच्चारण भी मेरे मुख से नहीं हो सकता। यह वाममार्गी कालि-भक्त का है। अन्दर जो देवी की मूर्ति है उसे चण्डिकेश्वरी कहते हैं और प्रत्येक मंगलवार को देवी के सामने वाले कुण्ड में कितने ही पशुओं की बलि दी जाती है।" इतना कह सिद्धार्थक ने एक लम्बी साँस खींची और चुप हो गया। इतने में चाणक्य उससे बोला–"सचमुच सिद्धार्थक, यह इतनी हत्या बन्द हो जाती तो बहुत अच्छा होता। परन्तु भगवती अम्बिके की उपासना करना कोई बुरा नहीं। मैं चण्डी का भक्त हूँ। इसलिए मुझे चण्डी का दर्शन करना ही चाहिए। तू यहीं खड़ा रह, मैं दर्शन करके आता हूँ।" सिद्धार्थक को

उस मन्दिर में जाना अच्छा न लगा। वह चाणक्य को मना ही करने वाला था कि वह अन्दर घुस गया। सिद्धार्थक के प्राण भी चले जाते तो वह अन्दर न जाता, इसलिए वहीं रास्ते पर बैठ चाणक्य की प्रतीक्षा करने लगा।

एक घण्टा बीता, दो बीते, पर चाणक्य का पता नहीं। सिद्धार्थक उस मन्दिर में पाँव नहीं रख सकता था। चाणक्य नया आदमी है, उसे छोड़कर चला जाये तो वह रास्ता भूलकर इधर-उधर भटकेगा। उसे छोड़कर चला जाऊँगा तो गुरुजी भी नाराज़ होंगे, यह सोचकर कुछ देर और खड़ा रहा। परन्तु काफी समय बीतने पर भी चाणक्य का कहीं पता नहीं लगा।

उस मन्दिर के चारों तरफ़ द्वार थे। चाणक्य कहीं दूसरे मार्ग से भूलकर न निकल गया हो और वहीं खड़ा हो, यह सोचकर उसने मन्दिर की प्रदक्षिणा करने का विचार किया। उसी के अनुसार उसने मन्दिर की प्रदक्षिणा की और प्रत्येक द्वार पर कुछ देर तक खड़े होकर प्रतीक्षा भी की। परन्तु चाणक्य का कहीं पता न लगा। तब निराश हो उसने अपने विहार का मार्ग पकड़ा। कितनी देर प्रतीक्षा की जाये? फिर भी रास्ते पर चलते हुए उसने कितनी ही बार चाणक्य की खोजने के लिए इधर-उधर गर्दन उठाकर देखा।

यहाँ चाणक्य जान-बूझकर मन्दिर में घुसा था। उसे इस बात का विश्वास था कि सिद्धार्थक उसके पीछे मन्दिर में नहीं घुसेगा और उसे टालने का यह सीधा और सहज उपक्रम है। इसलिए वह एक बार अन्दर घुसकर कितनी ही देर बाहर नहीं आया। उस मन्दिर में भी कैलाशनाथ मन्दिर की भाँति रहने के स्थान बने थे। वहाँ उसने अपने संध्या कर्मादि को करना निश्चित किया और वहीं रुक गया तथा योग्य समय पर बाहर निकलने का विचार किया। शान्ति से उसने अपने सांध्य कर्म किये। उसे इस बात का, कि कोई बाहर उसकी राह देख रहा है, ज़रा भी विचार न था। जान-बूझकर जो बात की जाये उसका स्मरण ही क्या?

सब काम शान्ति से कर चाणक्य मन्दिर से बाहर निकला। उसे अन्दर जाकर बाहर निकलने में पूरा प्रहर लगा था। उसे इस बात का पूरा विश्वास था कि सिद्धार्थक इतनी देर तक नहीं खड़ा होगा, इसीलिए उसने उसे देखने के लिए इधर-उधर नज़र भी नहीं दौड़ाई।

चाणक्य चण्डिकेश्वरी के मन्दिर से निकल सीधा राजमन्दिर की ओर चला। उसे मार्ग ठीक-ठीक मालूम न था, तथापि जब वह सिद्धार्थक के साथ आ रहा था तो मार्ग सावधानी से देखता हुआ चलता था। क्या पता, कब इसी मार्ग से आना-जाना पड़े। वृन्दमाला रात को वसुभूति के यहाँ जायेगी, उससे आधे रास्ते ही में मिल गाँठा जाये, और 'मैं रास्ता भूलकर इधर-उधर भटक रहा हूँ' उससे कहा जाये तथा उसी के साथ वसुभूति के विहार की ओर जाया जाये। रास्ते में वृन्दमाला से बातें तो होंगी ही, उसी बातचीत में इसकी स्वामिनी के बारे में कोई-न-कोई बात मालूम ही होगी। ऐसे ही विचार करता हुआ चाणक्य राजप्रासाद के पास पहुँचा और उसके चारों ओर घूमने लगा। वसुभूति ने 'आज रात को तू मुझसे आकर मिल', यह बात पत्र में अवश्य लिखी होगी, इसीलिए चाणक्य को वृन्दमाला के आने में ज़रा भी शंका न थी।

रात्रि के प्रथम प्रहर में वृन्दमाला सचमुच राजप्रासाद के पश्चिम ओर वाले मार्ग से निकली। चाणक्य तो इसी प्रतीक्षा में था ही। उसने उसे बाहर निकलते और द्वार के अन्दर की तरफ़ खड़े हुए किसी को कुछ कहते भी देखा। चाणक्य इस द्वार से दूर जान-बूझकर खड़ा था। कारण यह है कि वह नहीं चाहता था कि राजमन्दिर के इधर-उधर घूमते उसे कोई देख ले। मैं इधर-उधर घूम रहा हूँ तो किसी राजमन्दिर के आदमी के मन में कोई शंका न आने दूँ!

यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि चाणक्य के तर्कानुसार वृन्दमाला बाहर निकली। उसके साथ सिर्फ एक परिचारक था। वृन्दमाला जब तक काफी दूर न निकल जाये तब तक उसके बीच में पड़कर उसे पुकारना और यह बहाना करना कि मैं मार्ग भूलकर इधर-उधर भटक रहा हूँ, उचित नहीं है। ऐसा सोच उसने उसे काफ़ी दूर निकल जाने दिया। फिर उसके पास जाकर, घूमने की तरह मुद्रा बना वह ज़रा-सा तिरछा हो गया और वृन्दमाला से उल्टी दिशा में थोड़ी दूर जा, जैसे कुछ याद कर लौटा हो, वृन्दमाला के आगे आ बोला–"कौन, वृन्दमाला ! भगवान् कैलाशनाथ ने इस समय तुझे मेरा उद्धार करने के लिए ही भेजा है। वसुभूति भिक्षु का पत्र दे जब हम लोग तुमसे छुट्टी लेकर निकले तो रास्ते में चण्डिकेश्वरी का मन्दिर देख मुझे दर्शन करने की इच्छा हुई। सिद्धार्थक ने बलिदान होने की बात कह मुझे अन्दर जाने से रोकना भी चाहा, पर मैं दर्शन करने की अभिलाषा से अन्दर चला ही गया। सो मुझे इस भिक्षु की अवज्ञा का अच्छा फल मिला। मैं पता नहीं किस मार्ग से बाहर निकला, कुछ पता न लगा! सिद्धार्थक मुझे कहीं न दीखा। पुन: मन्दिर में गया, पुनः इधर-उधर घूम पहले का द्वार–जिस पर सिद्धार्थक मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा, खोजा। इस प्रकार एक-एक करके प्रत्येक मार्ग में बाहर निकल सिद्धार्थक को देखा। पर वह कहीं न दीखा। अन्त में निरुपाय हो इधर-उधर भटकता रहा। इतने में तुझे देखा। वृन्दमाले ! तू कहाँ जा रही है? मैं तो बिल्कुल परेशान हो गया। तू वसुभूति के पास चल रही है तो मुझे भी लेती चल। हम लोग जब तेरे पास आ रहे थे तो मैं लौटने का मार्ग ध्यान से देखता आया था, पर, अब क्या उपयोग? जिस मार्ग से हम आये थे उसी से वापस नहीं जा रहे थे। इसीलिए मेरी भूल हुई और मैं दूसरे ही मार्ग पर लग गया।"

यह सुन वृन्दमाला को उस ब्राह्मण पर दया आ गई। वह उससे बोली–"ब्राह्मण श्रेष्ठ! मैं तुझसे मिल गई, यह सचमुच बहुत अच्छा हुआ। तू एकदम उल्टी दिशा की ओर जा रहा था, अब मेरे साथ चल। मैं गुरुजी के पास जा रही हूँ। तुम लोगों ने जो पत्र लाकर दिया था उसमें उन्होंने दर्शन ही के लिए बुलाया था। सचमुच अगर मेरी और तेरी भेंट न हुई होती, तो तू न जाने क्या कर डालता। इसी दिशा से गया तो तुझे रात-भर भटकना पड़ता। अस्तु, जो हुआ सो हुआ, अब तू मेरे साथ चल। मैं तुझे तेरे कैलाशनाथ मन्दिर में एकदम सुरक्षित रूप से पहुँचा दूँगी। भगवान् वसुभूति और सिद्धार्थक दोनों तेरे लिए चिन्ता कर रहे होंगे। इतना ही नहीं, पर शायद गुरुजी ने सिद्धार्थक को फिर तुझे ढूँढ़ने के लिए भेजा हो।"

"क्या करूँ ? मैं निरुपाय हो गया था। जिस मार्ग से अन्दर गया उसी मार्ग से बाहर निकलने की बुद्धि न रही। यह बात मुझे बहुत बुरी लगी, पर नगर विस्तृत और मैं नया।"

इतनी बात होने के बाद दोनों रास्ता चलने लगे। इतने में चाणक्य बोला–"वृन्दमाले!

कल तू जो गुरुजी से अपनी स्वामिनी के सम्बन्ध में कहती थी, उसे सुन मेरा मन बहुत उद्विग्न हुआ। तेरे जाने के बाद मुझसे और गुरुजी से उस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें हुईं और उन्होंने मुझे पूर्व वृत्तान्त बताया। सुनकर तो मुझे बहुत बुरा लगा। बेचारी पर कैसा भीषण कष्ट पड़ा।"

"कष्ट तो सचमुच है ही।" वृन्दमाला चाणक्य से बोली–"परन्तु उसके लिए अब दुःख और सन्ताप में डूबकर कोई काम करने से क्या फ़ायदा? ऐसे बुरे विचार वह करेगी, तो उससे उसी का कुछ नुक़सान होगा।"

"वृन्दमाले, ऐसा क्यों कहती है? स्त्रियाँ प्रतिज्ञा करें और वह काम उनके हाथों न हो? हाँ, मुरादेवी को ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए थी, यह ठीक है; परन्तु ऐसी ही प्रतिज्ञाओं वाली स्त्रियों के हाथ से सिद्धि मिलने के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। वृन्दमाले! अपना कोई अपराध न होते हुए भी अपने तथा अपने पितृकुल पर कलंक लगाने और अपने पेट के पुत्र की हत्या करने के समान दीर्घ-द्वेष का और कौन-सा कारण चाहिए?"

चाणक्य ने यह बात बड़े आवेश में कही, इसलिए वृन्दमाला को वह चमत्कारिक मालूम हुआ। उसने अन्धकार में भी ज़रा विलक्षण नज़र से चाणक्य की ओर देखा। कुछ देर वह चुप रही, फिर बोली–"तू कहता है, यह ठीक है। हमें भी वह दीखता है। परन्तु जिस तरह कोई पहाड़ अपने ऊपर गिरता हो और हम निरुपाय हो उसके नीचे दबकर मर जायें, कुछ उसी तरह की बात यह भी है। जहाँ राजा ने ही अन्याय किया, वहाँ हम क्या कर सकते हैं? उसके लिए न्याय माँगने किसके पास जायेंगे, और क्या करेंगे?"

"वृन्दमाले ! तू कहती ठीक है, परन्तु उसके लिए न्याय माँगने के लिए श्रीकैलाश भगवान् हैं ही। अगर उनका नाम ले काम आरम्भ करें, तो काम पूरा न हो, यह बात नहीं है।"

कुछ देर रुककर चाणक्य उससे फिर बोला–"वृन्दमाले! तेरी बातों से मुझे मालूम होता है कि तू अपनी स्वामिनी की रक्षा के लिए सब कुछ कर सकती है।"

"हाँ, बिलकुल ठीक है; अवश्य करूँगी। उसके लिए किसी को संशय नहीं होना चाहिए। प्राण देने की बात आ जायेगी, तो प्राण भी दे दूँगी। फिर और क्या?"

"वाह! स्वामिनिष्ठा हो तो ऐसी हो। तुझे जब से मैंने देखा तभी से मुझे मालूम हो गया कि तू सच्ची स्वामिनिष्ठा है। नहीं तो स्वामिनी के ऊपर राजा की अप्रीति और उसे बन्दीगृह में डालने के बाद और कौन उसकी चिन्ता कर सकती थी?" यह स्तुति सुन वृन्दमाला मन-ही-मन सन्तुष्ट हो गई और बोली–"ब्राह्मण-श्रेष्ठ, यह मैं कोई विशेष बात नहीं कर रही हूँ, यह तो मेरा धर्म है।"

चाणक्य बीच ही में बोला–"हाँ, हाँ। धर्म है, यह तो ठीक है। पर उसे निबाहने वाले कितने हैं?"

पुनः दोनों कुछ देर चुपचाप चले। चाणक्य उससे फिर बोला–"वृन्दमाले ! जिस तरह तू अपनी स्वामिनी की प्राण-रक्षा के लिए सब कुछ कर सकती है, उसी प्रकार मुझे मालूम होता है तू उसकी कार्य-सिद्धि के लिए भी सब कुछ कर सकती है।"

"अरे, करूँगी। इसमें शंका ही कैसी? अधिक क्या, देवी आज जिस सम्बन्ध में पागलों की-सी बातें कर रही हैं, अगर वह सुसंगत और सुसाध्य होता तो मैं उसके लिए जो चाहिए वह सहायता कर सकती थी। पर क्या करूँ ? वह एकदम पागलों की भाँति बोलती है। वह कहती है, "मैं नन्दकुल का नाश करुँगी और उस स्थान पर अपने पितृ-कुल में से किसी को लाऊँगी।" यह क्या मज़े की बात है? और यह पूरी भी होती, अगर उसका लड़का जीवित होता। पर अब तो वह असम्भव है।"

उसकी अन्तिम बात की ओर लक्ष्य कर चाणक्य बोला–"मतलब यह है कि अगर उसका स्वयं का लड़का जीवित होता तो तू उसके प्रयत्न में सदा सहायता करती? ठीक है, तू सच्ची स्वामिनिष्ठा है। तेरी नित्य वन्दना करनी चाहिए।"

यह वन्दना की बात सुन तो वृन्दमाला अतिशय आनन्दित हुई।

सातवाँ परिच्छेद

पहली कार्यवाही

राजा धनानन्द अपने प्रासाद की छत पर बैठा नगर की बहार देख रहा था। पास में दास-दासियों और परिचारकों की संख्या बहुत कम थी। पता नहीं क्यों, परिचारकों के नित्य के सहवास से ऊबकर उसने उनमें से बहुतों को निकाल दिया था और शान्ति के साथ बैठकर अपने मन में ही विचार करता हुआ नगर-प्रेक्षण कर रहा था। जो लोग पास थे, उन्हें भी हटाने के लिए उसने घूमकर उन्हें वैसी आज्ञा दी। तब उनमें भी कुछ लोग चले गये। बचे हुए लोगों में सिर्फ एक द्वारपाल तथा वेत्रवती थी। बाकी सब शान्ति थी। धनानन्द के मन की स्थिति इस समय कुछ चमत्कारिक-सी दीखती थी। नीचे चारों तरफ नगर का विस्तार था, उसमें नागरिकों के नाना प्रकार के व्यवसाय चल रहे थे। परन्तु उस तरफ धनानन्द की दृष्टि थी या नहीं, इसमें शंका थी। उसका मन कहीं और था, ऐसा दिखाई देता था। उसके मुख पर के भाव देखकर ऐसा नहीं मालूम होता था कि उसके विचार आनन्ददायक नहीं हैं। उल्टे उसके मन में दु:ख हो रहा था और वह इस दु:ख का कारण ढूँढ रहा था। उस दु:ख का मूल कारण कुछ इसी प्रकार का भय है कि मुझ पर शीघ्र ही कोई दु:ख, अनिष्ट आयेगा। कोई कारण न होते हुए, किसी भी दिशा से किसी प्रकार के अमंगल की बात न सुनते हुए राजा सिर्फ सुखस्थिति में नगर की शोभा देखने की इच्छा से बैठा था कि एकाएक उसके मन में उपर्युक्त प्रकार दु:खपूर्ण नीतिप्रद विचार आया। राजा ऐसे विचार से तो क्या, प्रत्यक्ष ऐसा प्रसंग आया होता तो भी व्याकुल होने वाला जीव न था। परन्तु कभी-कभी मन की स्थिति ऐसी होती है कि उस समय आने वाले विचार मन को पूर्णतया हैरान कर देते हैं और जल से मिश्रित धूलि की तरह सिर्फ झाड़ने से नहीं जाते। कितना भी झाड़िए, वे अपना बुरा अथवा अच्छा प्रभाव मन पर रखते ही हैं। राजा धनानन्द ने अपनी तरफ से ऊपर लिखे सब विचारों को दूर करने की कोशिश की, परन्तु उसे उसमें सफलता प्राप्त नहीं हुई। इतना ही नहीं, उसने जितना ही विचारों से छुट्टी पाने की कोशिश की, उतना ही वह उससे लिपटते गये। अन्त में उसे उन विचारों में आनन्द भी आने लगा। इसीलिए उसने परिचारकों तथा दास-दासियों को दूर कर दिया। ऐसी विलक्षण स्थिति में वह वहाँ बैठा था। उसी समय वेत्रवती धीरे से पास आई और नम्रता से हाथ जोड़कर वह ज़मीन पर घुटने टेककर बोली–"देव! अन्त:पुर से एक परिचारिका, एक पत्रिका लेकर आई है और वह पत्रिका महाराज को ही दी जाये, ऐसी उस देवी की आज्ञा है। कंचुकी विनयंधर ने महाराज की मन:स्थिति देख उस परिचारिका को दरवाज़े पर ही रोक दिया और उससे कहा कि महाराज से आज्ञा ले आने दे, तो तुझे अन्दर जाने दूँ। और फिर उसने मुझे भेजा; अब जैसी महाराज की आज्ञा!"

वेत्रवती की बात सुन धनानन्द कुछ विचित्र-सी मुद्रा में बोला—"वेत्रवती ! क्या कहती है? देवी के पास से परिचारिका आई है? देवी की परिचारिका और इस समय पत्रिका लेकर आई है? अन्दर आने की आज्ञा माँगती है? अच्छा, उस पत्रिका में क्या लिखा होगा?" इस तरह आधा वेत्रवती से तथा आधा अपने आप ही से बोला। राजा कुछ देर चुप बैठा रहा। वेत्रवती अपने ही स्थान पर स्तब्ध खड़ी रही। राजा के मन में विचार आया कि अपने भीतिप्रद विचार से अच्छा तो यही है कि यह जाना जाये कि नया कार्य क्या है। शायद इस नये कार्य में गुँथ जाने पर वह पुरानी भीतिप्रद विचारमाला दूर हो जाये। यही सब सोच उसने वेत्रवती से कहा—"वेत्रवती ! जा, उस परिचारिका को अन्दर ले आ !"

आज्ञा होते ही वेत्रवती गई और उस परिचारिका को अन्दर ले आई। परिचारिका ने महाराज को सिर झुकाया और फिर प्रकाशित किया—"देव! देवी ने यह पत्रिका दी है और उसे पढ़ देव क्या जवाब देते हैं, यह उन्होंने पूछा है। इसलिए देव ही इसे पढ़ मुझ दासी को आज्ञा दें।"

राजा धनानन्द ने उस परिचारिका की ओर एक बार देखा और उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि यह परिचारिका रोज़ देखने में नहीं आती। इसे कहीं देखा अवश्य है, पर कहाँ और कब देखा, यह नहीं मालूम हुआ। तथापि उसने परिचारिका के बारे में जानने की अधिक आवश्यकता न समझी, और पत्रिका लेकर अपने मन में पढ़ने लगा—

"स्वस्ति, महाराज मेरे इस पत्र-लेखन से अत्यन्त क्रोधित होंगे। कदाचित् इस चरण-दासी को आज तक जैसे रखा वैसे ही रखा जाये, यह भी आपके मन में आये। परन्तु एक बार दर्शन दे इस दासी की विज्ञप्ति भी तो सुनी जाये। कुमार सुमाल्य के यौवराज्याभिषेक के आनन्दोत्सव पर जब से महाराज ने इस दासी को मुक्त किया, तभी से मुझको विश्वास हो गया कि महाराज अभी मुझे भूले नहीं हैं। आपको अभी तक मेरी याद होगी, यह सोच दासी ने पत्र लिखने का साहस किया। जिस प्रकार स्वाती के बिन्दु के लिए चातकी और पति के दर्शन के लिए निराशामयी बिछड़ी हुई चकोरी उत्सुक रहती है उसी प्रकार यह मुरा आपके दर्शन की प्रतीक्षा कर रही है। आर्य-पुत्र सब कुछ करने में समर्थ ही हैं।"

प्रथमत: कुछ पंक्तियों को पढ़ने तक यह पत्र किसका है, धनानन्द के लक्ष्य में यही न आया। परन्तु पत्र आधा पढ़ने तक इस पत्र के लेखक का थोड़ा-थोड़ा ख्याल उसे आने लगा तथा दो पंक्तियाँ और पढ़ने के बाद उसे लेखक का नाम मालूम हो ही गया। पत्र लेकर आने वाली परिचारिका पास खड़ी ही थी। उसकी तरफ़ उसने एक बार देखा और फिर एक बार पत्र की तरफ दृष्टि फिराई। बाद में एक बार उसने पत्र फिर पढ़ा, और कुछ देर शान्त रह विचार किया। फिर एकदम उस परिचारिका से बोला—"परिचारिके! तू जा। तू अपनी स्वामिनी से कह कि महाराज तेरे अन्त:पुर में आ ही रहे हैं। वेत्रवती, मुरा के अन्त:पुर का मार्ग दिखा।"

धनानन्द की बात सुन दोनों—परिचारिका और वेत्रवती इस तरह चकित हुईं जैसे अनपेक्षित आकाशवाणी हुई हो। पर परिचारिका शीघ्र सावधान हो गई। उसे इस बात का ध्यान आया कि जब वह महाराज के आने का समाचार अपनी स्वामिनी को सुनायेगी तो वह अतिशय आनन्दित होगी, तुरन्त मुरादेवी के अन्त:पुर की तरफ़ दौड़ती गई। पर

वेत्रवती का आश्चर्य इतनी जल्दी न गया। वह इसी बात का कुछ निर्णय न कर सकी कि मैं वह शब्द स्वप्न में सुन रही हूँ, या प्रत्यक्ष। वह सचमुच पाषाण-मूर्ति की भाँति खड़ी रही। वेत्रवती की दशा का ज्ञान राजा को जैसे पहले ही से था, वह बोला–"वेत्रवती! तू स्वप्न में नहीं है, तू अच्छी तरह जाग रही है, समझी? किरात कन्या मुरा के अन्त:पुर का मार्ग मुझे सचमुच दिखा। मुझे उसका दर्शन करने की इच्छा हुई है। मैंने सत्रह वर्षों तक उसका त्याग किया; पर आज कुमार सुमाल्य के यौवराज्याभिषेक के उत्सव पर उसे दु:खी नहीं रखना है।"

राजा ने ऊपर से तो यह कारण बताया, परन्तु यथार्थ कारण यह था कि वह अपने अनिष्टकारी और भीतिप्रद विचारों से छुट्टी पा कहीं दूसरी जगह अपना चित्त लगाना चाहता था। जिसे पन्द्रह वर्ष से त्याग दिया और बन्दीगृह में भी रखा, कदाचित् उससे बातचीत करने में मन बहल जाये। ऐसा विचार कर वह अपने आसन से उठा और वेत्रवती के दिग्दर्शित मार्ग पर चलने लगा।

मुरादेवी की परिचारिका इस विचार से कि महाराज आज मेरी स्वामिनी के अन्त:पुर में आयेंगे, अतिशय आनन्दित हुई और पागलों की तरह दौड़ती हुई अपनी स्वामिनी के पास पहुँची तथा उसे उसने यह आनन्द-वार्ता सुना दी। यह सुनते ही क्षण–एक ही क्षण मुरादेवी को वह बात सच नहीं मालूम हुई। बाद में परिचारिका की मुख-मुद्रा देख उसे विश्वास हो गया कि बात सच है। वह उसी समय उठी और मगधराज के स्वागत की तैयारी करने लगी। उसके शरीर पर कोई विशेष आभूषण न थे। जो थे, उन्हें भी उसने निकालकर रख दिया। पहले की पहनी हुई रेशमी साड़ी उसने उतार दी और एक सादी सूती और शुभ्र साड़ी पहन ली। गले में सिर्फ एक मोतियों की माला पहन ली। केशों की रचना इस प्रकार की कि न तो उन्हें अस्त-व्यस्त कहा जा सकता था, न सुव्यवस्थित ही; और केशों में एक मदन-वाण का पुष्प खोंस लिया। बाद में दस-पन्द्रह दिनों से चेहरे पर जो क्रोध आदि का भाव दीखता था, तथा कभी-कभी मत्सर का जो चिह्न प्रकट होता था, उसे दूर कर एक विरहिणी-जैसा चेहरा बनाया। यह सब उसने अपनी इच्छानुसार किया और अपना चेहरा एक बार शीशे में देख महाराज की राह देखने लगी। इतना ही नहीं, बल्कि महाराज के आने पर किस तरह बोलूँगी, कैसे हँसूँगी, कितना हँसूँगी, कौन से समय कैसी मुखमुद्रा बनाऊँगी, आदि बातें भी सोचने लगी।

इन सब बातों में मुरादेवी उलझी थी कि महाराज आ गये। "इस ओर देव! यह मुरादेवी आपकी राह देख रही है।" कहकर वेत्रवती गयी और मुरादेवी ने एकदम उद्वेगजनक स्वरों में कहा–

"आर्यपुत्र! मुझे अपराधिनी समझ आपने जो मेरी उपेक्षा आज तक की सो की, परन्तु आगे तो मुझ पर कृपा-दृष्टि रखें।" ऐसा कह उसने राजा के चरणों पर अपना मस्तक रख उसे आँसुओं से भिगो दिया। उसका कण्ठ उस समय इतना गद्‌गद था कि उसे सुन राजा एकदम द्रवित हो उठा और उसने कुछ न बोलते हुए उसे उठाकर गोद में बैठा लिया। उसके करुणार्द्र परन्तु सुन्दर चेहरे की ओर देख राजा आकर्षित हुआ। ऊपर लिखे अनुसार इस समय उसने एक शुभ्र साड़ी पहन रखी थी, शरीर अलंकार रहित था तथा विरहिणी-सूचक

चिह्न केशों में खोंस रखा था। इन सबों ने मिला-जुलाकर उसे बहुत ही मनोहर बना दिया था। निसर्ग मधुर स्वरूप स्वभावत: बहुत मनोहर दीखता है। मुरादेवी का स्वरूप बहुत ही सुन्दर था। उसे अपना सौन्दर्य खोलकर दिखाने में अलंकारादि की आवश्यकता न थी। वैसे ही अब वह प्रौढ़ हो गई थी, इसलिए उसे वह शुभ्र वस्त्र, वह शुभ्र परन्तु बहुत ही सतेज मोतियों की माला और मदन-वाण का सुन्दर पुष्प बहुत शोभित होता था। उस मदन-वाण के पुष्प ने राजा को एकदम विह्वल बना दिया, यह कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति न होगी तथा उसी स्थिति में मुरा ने अपने नम्र और कुछ प्रेम-मिश्रित वाक्यों से, भृकुटीविलास-पूर्वक नेत्र-कटाक्ष से और विराहोद्‌गार के साथ धनानन्द को पछाड़ ही दिया। आज प्रथम बार पत्र लिख महाराज को बुलाने में मुरा सिद्ध हुई। उसने सोचा था कि आज पत्र लिखूँगी, न ध्यान देंगे तो फिर लिखूँगी और फिर भी ध्यान न देंगे तो फिर लिखूँगी। कभी-न-कभी तो मेरे अन्त:पुर में आयेंगे ही, और एक बार उनसे दो बातें हो जाने पर उन्हें वश में करना कोई कठिन बात न होगी, ऐसा मुरादेवी का विश्वास था। उसके विश्वासानुसार सब बातें हो गईं, फिर उसके आनन्दित होने में आश्चर्य ही क्या था? तो भी उसने वह आनन्द बाहर प्रगट न होने दिया। उसने अपनी मुद्राओं, हाव-भाव और बातचीत से यह प्रकट किया कि पत्रिका पर ध्यान देकर वह महाराज के यहाँ आने से उनकी बहुत ही कृतज्ञ है। महाराज पर इन सब बातों का बहुत ही अच्छा असर हुआ, वह बोले–"प्रिय मुरे! अब व्यर्थ दु:ख न कर। जो बात हो गई, उसके लिए अब शोक न कर। वह समय ऐसा था कि मेरी बुद्धि ही भ्रष्ट हो गई थी–अब मैं तुझे पहले ही की मुरा समझता हूँ। सत्रह वर्ष के बाद बंदी-वास से तेरी विरहावस्था कैसी हो गई है, यह देखते ही मुझे उस समय की भूल मालूम हो गई। ऐसा न होता तो तेरा यह प्रेम इतना अचल न रहता। कुछ चिन्ता मत कर। यदि तुझसे कोई अपराध भी हो गया होगा, तो भी अब उसकी कोई चिन्ता नहीं। मुझसे भी भूल हो गई हो, तो तू अब उसका विचार मत कर। उसका जो फल मिलना चाहिए था, वह हम दोनों को मिल चुका। उसे अब हम किसी तरह भूल जाएं। प्रिय मुरे! तुझे मैंने बिना कारण ही छला न?"

"आर्यपुत्र! मैं ऐसा कैसे कहूँ? आपके हाथों अन्याय या अदूरदर्शिता से कभी कुछ हो सकता है क्या? मुझे तो यह मालूम होता है कि आपके हाथों कभी अन्याय नहीं हो सकता। परन्तु मेरे दुर्भाग्य के कारण आप सत्य स्थिति न समझ सके, तो उसके लिए मैं क्या कर सकती हूँ? और आप ही क्या करेंगे? मैं आपको बिल्कुल दोष नहीं देती। मैं अपने भाग्य को दोष देती हूँ। परन्तु आपके चरणों के पास मैं स्पष्ट कहे देती हूँ कि बन्दी-वास अथवा लोकापवाद के योग्य मैं बिलकुल नहीं थी। में किरातराज की कन्या–इकलौती कन्या–आपने जिसके साथ गान्धर्व रीति से विवाह किया, वही मैं अब आज बड़े भाग्य से आपके दर्शन का लाभ उठा अपने नेत्र ठंडे कर रही हूँ। यह क्या कम है? अब तो यही प्रार्थना है कि इसके आगे आप मेरे ऊपर पूर्ण कृपा-दृष्टि रखें।"

यह बात कहते समय मुरादेवी के हाव-भाव और कटाक्ष इतने चित्ताकर्षक हो रहे थे कि जिस तरह वेणुवादन को सुन कृष्णमृग एकदम स्तब्ध खड़ा रह जाता है, और शिकारी के वाणों से घायल होने पर भी नहीं भागता तथा उसके वश में हो जाता है, वैसी ही दशा धनानन्द की हुई। वह मुरादेवी के मधुर भाषण और कटाक्ष में बुरी तरह उलझ गया। उसे

मुरा उस यौवन-काल से भी अधिक सुन्दर दिख रही थी कि जबकि सेनापति उसके पिता को हरा उसे भगा लाया था। मुरा के रमणीय चेहरे को देख राजा बोला–

"प्रिय मुरे! तू अब तनिक भी शंका न कर। मैं आज की रात तेरे ही पास बिताऊँगा। आज रात्रि का भोजन तेरे ही साथ, तेरे ही अन्त:पुर में करूँगा। केवल तू बीती बातों को याद कर मुझे दोष मत दे, न मैं तुझे ही दूँगा। मैंने सुमाल्य का राज्याभिषेक किया है। कुछ दिनों तक उसी के हाथों से राक्षस तथा भागुराणय की सहायता से राज्य का प्रबन्ध करवा दूँगा और अपना समय मैं तेरे सहवास में बिताऊँगा। बस हुआ न?" इतना मुरा से कह उसने उसे छाती से लगाकर उसकी आँखों से आँसू पोंछ दिये तथा उसे शान्त किया। फिर आधा अपने को और आधा मुरादेवी को लक्ष्य कर बोला–कैसा चमत्कारिक योग है–देखो ! मैं कहाँ तो अनिष्ट के विचारों में डूबा था और कहाँ मेरी इतने दिनों की बिछड़ी प्यारी पुन: मिल गई। वह मेरा दु:ख कहाँ गया? ऐसी विलक्षण मन:स्थिति पर विश्वास कर पता नहीं कितने बेचारे प्राणी फँसते होंगे तथा अन्त में उस दु:ख के विचारों के बदले जब मेरी तरह उन्हें सुख प्राप्त होता होगा तब वह मेरी तरह आनन्दित होते होंगे। इस तरह फँसना कितना बुरा है प्रिय मुरे, है न?"

मुरा कुछ चमत्कारिक भाव से हँसी और एक ओर देखकर उसने कपाल पर हाथ रख ऊँगलियाँ चटकायीं।

आठवाँ परिच्छेद

दूसरी कार्यवाही

मुरादेवी ने पत्र आसानी से भेज तो दिया, पर उसे और उसकी परिचारिका को इस बात का विश्वास न था कि पत्र यह रंग लायेगा। दूसरों की तो बात ही अलग है, दो दिन पूर्व यही वृन्दमाला अपनी स्वामिनी के विकृत व्यवहार को देख चिन्तामग्न हो वसुभूति के पास विचार पूछने गयी थी। उस समय वसुभूति ने कहा था कि मेरा और स्वामिनी का साक्षात्कार करा दे तो मैं आगे देख लूँगा। उसने अपने मन में विचार कर लिया था कि जब सोमवार को स्वामिनी कैलाशनाथ के मन्दिर में जाएंगी। तो किसी तरह मैं उनकी भेंट वसुभूति से करवा दूँगी, और एक बार भेंट हो जाने पर वसुभूति सब कुछ ठीक कर लेंगे। वह तो इस विचार में थी, पर उसकी स्वामिनी किसी दूसरे ही विचार में थी। कार्य का आरम्भ अच्छी तरह हो जाने पर आगे क्या किया जाये, और उसका उपक्रम कैसे किया जाये इस सम्बन्ध में वह इस प्रकार विचार करती रही–प्रथम कार्य तो राजा का और मेरा साक्षात्कार तथा बातचीत है। वह कैसे किया जाये? मैं यहाँ से एक बार उठ राजा के सम्मुख जा खड़ी होऊँ, यह तो असम्भव है, और इष्ट भी नहीं है, क्योंकि मैं निर्लज्ज होकर राज-सभा अथवा जहाँ कहीं भी महाराज बैठे होंगे, जाऊँगी कैसे? मान लो, चली भी जाऊँ तो मेरा अपमान न होगा, यह कैसे कह सकती हूँ? और यदि इस तरह अपमान हो गया, तो आगे क्या हो सकता है? यदि मेरा अपमान महाराज ने न भी किया तो अन्य लोग और राजपत्नियाँ तो करेंगी ही। इसलिए मेरा काम अपना स्थान छोड़कर जाने से कभी भी न होगा। तब दूसरा उपाय यह है कि मैं स्वयं महाराज की दृष्टि में पड़ जाऊँ, पर यह असम्भव है। अगर मान लो सम्भव हो, तो मैं अन्य राजपत्नियों में कैसे मिल सकती हूँ ? क्योंकि उन्होंने मेरा बहिष्कार कर दिया है; और यदि मिल भी जाऊँ, तो महाराज की दृष्टि मुझ पर पड़ जाये तथा मैं अपना कार्य सिद्ध कर सकूँ, यह बिल्कुल असम्भव है। इसीलिये इष्टार्थ का तीसरा उपाय यह है कि साहस करके महाराज को एक पत्र लिखूँ और वह पत्र अपनी परिचारिका को देकर ऐसी व्यवस्था करूँ कि महाराज ही को मिले। उसी पत्र द्वारा जो कुछ होना सम्भव है, होगा; नहीं तो असम्भव ही है। इस तरह कुछ हो गया तो उत्तम है और यदि न भी हुआ, तो जैसी स्थिति मेरी सत्रह वर्षों से है, उससे बुरी और क्या होगी? यही सब विचार कर उसने पत्र वृन्दमाला को दिया और उसे अच्छी तरह समझा दिया कि पत्र महाराज ही के हाथों में दिया जाये। यह पत्र किसके पास से आया है, इस प्रश्न पर केवल यही कहा जाये कि "देवी की परिचारिका देवी द्वारा महाराज की दिया हुआ पत्र लेकर आई है।" ऐसा प्रतिहारी, वेत्रवती और कंचुकी से कहा जाये। इससे यह होगा कि "देवी" शब्द से मुरादेवी राजा के मन में न आयेगी और वह सुमाल्य की माँ का पत्र समझ बड़ी उत्सुकता से खोलेगा। एक

बार पत्र खोलकर राजा पढ़ ले और आगे जैसा मेरे भाग्य में होगा, सो होगा। ऐसा विचार कर उसने वृन्दमाला को अच्छी तरह सिखा-पढ़ा वह पत्र देकर भेजा।" यह सोचकर कि वृन्दमाला कहीं यह समझकर कि मैंने पत्र में उलटी-सुलटी बातें लिखी हैं, इसे बीच में ही ग़ायब न कर दें, उसने वह पत्र वृन्दमाला को दिखा दिया और उससे कहा कि मैं सचमुच महाराज से क्षमा-प्रार्थना करना चाहती हूँ।

इस पत्र से कोई अच्छी बात होगी, इस पर वृन्दमाला को विश्वास न था। परन्तु इसमें कुछ कपट-नाटक है, ऐसा उसे भासित भी नहीं हुआ। जो कुछ होगा अच्छा ही होगा, ऐसा सोच उसने पत्र पिछले परिच्छेद में लिखे अनुसार महाराज के हाथों ही में पहुँचाने का प्रबन्ध किया। उसका क्या फल हुआ, यह तो पाठकों को मालूम ही हो गया है। वृन्दमाला ने अपना नाम राजमहल में बतलाया नहीं। सिर्फ "देवी की परिचारिका" यह परिचय दे उसने कार्य-साधन किया। पत्र का यह फल होगा और महाराज आयेंगे, यह उसको सम्भव नहीं प्रतीत हुआ। जो काम हम असम्भव समझें वही प्रत्यक्ष रूप में देखकर हमें कितना आश्चर्य होता है! वृन्दमाला की ऐसी ही स्थिति हुई। राजा धनानन्द मुरादेवी के आमन्त्रण के अनुसार आया। इतना ही नहीं, परन्तु इस रात्रि भोजनादि तथा अन्य सभी कार्य उसी के महल में करेंगे और कुछ दिन उसी जगह रहेंगे, ऐसा यहाँ-वहाँ ढिंढोरा-सा पिटाया गया। इसके कारण सब अन्त:पुरों में आश्चर्य, खेद और द्वेष का निर्माण होने लगा। सुमाल्य के अतिरिक्त राजा के अन्य आठ पुत्र थे, वे सब एक ही स्त्री के गर्भ से नहीं हुए थे। उन पुत्रों की माताओं को आश्चर्य हुआ कि मुरा का भाग्य कैसे खुल गया! आज तक जिसका नाम भी महाराज नहीं लेते थे उसी के महल में जाकर कुछ दिन रहेंगे, यह सुनकर उन्हें दु:ख हुआ और इस बात के पीछे दुष्टा मुरा ने कोई तांत्रिक उपाय किया है तथा अन्य किसी तरह हमारा भी नाश कर देगी, यह जानकर उन्हें अत्यन्त खेद हुआ। पहले ही सब रानियों के मन में मुरा के प्रति द्वेष था; उस पर अब उसने उन सभी को राजा के प्रेम से अलग कर उस पर अपना एकमात्र अधिकार जमा लिया, ऐसा सभी रानियों को अनुभव हुआ। फिर क्या पूछना! यह सब कैसे हुआ? इसके लिए इधर-उधर पूछताछ आरम्भ हुई और कंचुकी, वेत्रवती और प्रतिहारी ने कुछ कपट किया होगा, ऐसा सब रानियों को मालूम होने लगा तथा उन पर गालियों की बौछार शुरू हो गई। उन्होंने सबको समझाया भी कि जब पत्रिका आई तो हम सभी समझे कि प्रधान देवी की पत्रिका होगी। परन्तु वह सच किसे मालूम होता है? चालाकी करके मुरा ने पत्रिका भेजी, वह पत्रिका राजा तक पहुँचाई गयी, इसलिए उन तीनों पर सब रोष हुआ और यत्र-तत्र अन्त:पुर में उन पर फटकार पड़ने लगी। बेचारी वृन्दमाला तो बहुत ही चमत्कार में पड़ी। स्वामिनी के अच्छे दिन आ गये, इसलिए आनन्द मनाये कि अन्य सभी रानियों के द्वेष को देखकर दु:ख करे तथापि अपनी स्वामिनी को सुख में देख उसे सच्चा आनन्द प्राप्त हुआ। सपत्नियों ने द्वेष किया भी तो वह बहुत दिनों तक नहीं टिकेगा। थोड़े दिनों में वे सब भूल-भाल जायेंगी, और जैसे राजा की अन्य चार प्रिय स्त्रियाँ हैं, उन्हीं में इसकी भी गणना होने लग जायेगी, ऐसा वृन्दमाला को प्रतीत होने लगा।

कुछ मनुष्यों का स्वाभाव ऐसा होता है कि जैसे-जैसे उन्हें चिढ़ाया जाये, वैसे-वैसे उनका तेज अधिक प्रज्वलित होता जाता है, कार्य की सिद्धि में जो विघ्न हों उन्हें दूर कर

अपना कार्य-साधन करने का उत्साह अधिकाधिक बढ़ता जाता है। मुरादेवी इसी तरह की स्त्री थी, या यह कह सकते हैं कि सत्रह वर्ष के कारावास ने उसकी यह हालत बना दी थी। अपने पति का मन अपने वश में करने का पहला ही प्रयत्न इस तरह सफल हुआ देखकर उसे बहुत आनन्द हुआ। उससे भी दूना आनन्द उसे इस बात से हुआ कि अन्य राजपत्नियाँ उससे द्वेष करने लगीं। परन्तु इन सब आनन्द-वार्ताओं से वह फूल नहीं गई। उसने अपना दिमाग़ एकदम ठण्डा रखा। वह यह अच्छी तरह जानती थी कि जिस सुगमता से यह आनन्द प्राप्त हुआ है उसी सुगमता से यह नष्ट भी हो सकता है। यदि यह अवसर हाथ से चला गया तो आगे शून्य ही है। वह अपने मन में इस बात पर अच्छी तरह विचार कर चुकी थी कि इस समय शान्ति से बैठना ठीक नहीं; पर राजा के हृदय पर अपना साम्राज्य जमाने का प्रयत्न करना चाहिए।

वह धनानन्द के मन का झुकाव देख काम करती। प्रत्येक शब्द उसके मन की प्रवृत्ति देखकर बोलती। अमुक बात इस समय न करनी चाहिए, यह सोच वह उस बात को वहीं छोड़ देती। इतना ही नहीं, अवसर देख उससे उलटा भी बोल देती। अन्य सपत्नियों की कठोर बातों पर वह ध्यान न देती, न उसके विरुद्ध कुछ कहती ही, परन्तु राजा को इस बात की याद कराने में भी न चूकती कि वे उससे द्वेष करती हैं। एक बार तो उसने बड़ी चतुरता की।

धनानन्द पलंग पर पड़ा था और यह उसकी सेवा कर रही थी। उसे अच्छी तरह मालूम था कि राजा को नींद नहीं आई है तथा यह जानकर ही उसने एक दासी से अपने पास आकर कुछ कहने के लिये कहा था। उस दासी के पास आकर खड़ी होते ही मुरादेवी एकदम धीरे-से, परन्तु त्रस्त हो उसी के पास आकर बोली–"क्यों री मूर्ख, महाराज की आँख इस समय कहाँ लगी है, तुझे नहीं मालूम? कैसे पैर जमाते हुए आई है? मुझसे इतना आवश्यक क्या कहना था? अमुक देवी ने ऐसा कहा, और उसकी दासी ने मेरे बारे में ऐसा कहा, यही न? जा, यह सब कहने का समय नहीं है। मुझे वे बातें सुननी नहीं हैं। उन सबने मुझे एकदम बन्दीवास में डाल रखा था और अब महाराज ने मुझे पुन: स्वीकार कर लिया है, तब यह बात उन्हें कैसे अच्छी लगेगी? वे मेरे अहित की चिन्ता करती रहती हैं, पर मैं उनका अहित नहीं चाहती। पति के त्याग पर पतिव्रता स्त्री की क्या दशा होती है, इसका उन्हें क्या अनुभव ? इस बात का अनुभव तो मुझे ही है। उस पर भी उन्हें मेरी-जैसी विरहिणी बनने का संयोग आये, ऐसा मैं कभी भी नहीं चाहती। उलटे मैं कहूँगी–"महाराज, यहाँ सुख देने के लिए आप अन्य पत्नियों को दु:खित न करें।" जा अब तू। मुझसे कुछ मत कह। पागल कहीं की। अन्य रानियों के द्वेष से मैं अपना मन व्यर्थ में दु:खी करूँगी, ऐसा तुझे मालूम होता है?"

तथापि वह दासी धीरे से मुरा से बोली–"देवि, आपको क्रोध आये इसलिए मैं कुछ कहने नहीं आई हूँ। एक बात पर आप ध्यान न देंगी, तो भयंकर परिणाम होगा, यह सोचकर ही मैं यह बात सुनकर दौड़कर आई। महाराज सो रहे हैं, यह अच्छा ही है।"

यह सुनते ही मुरा एकदम उत्सुक स्वर से बोली–"ऐसा तूने क्या सुना? जल्दी बोल! महाराज न सुनें ऐसी क्या बात हो सकती है?"

“देवी” वह दासी बोली–“महाराज के कानों तक न पहुँचे ऐसी ही कुछ बात है। बहुत ही भयंकर है। आप पर अन्य देवियों का रोष है और वे उसके लिए महाराज की जान लेना चाहती हैं, ऐसा उनका हेतु मालूम होता है। पर देवी, महाराज सचमुच सो गए हैं न? नहीं तो कुछ का कुछ हो जायेगा।”

“नहीं, नहीं, कुछ नहीं होने का। महाराज घोर निद्रा में हैं। तू बोल। परन्तु कुछ भी हो, जब तक वे मेरे महल में हैं, मैं उनका बाल-बाँका भी न होने दूँगी। मुझे फिर त्याग कर वे दूसरी जगह चले ही गये तो मैं क्या करूँगी? अच्छा बोल, क्या कहती थी, तेरी बात तो मेरा कलेजा हिला रही है।”

इतनी बात हो जाने के बाद वह दासी मुरादेवी के एकदम पास आई और उसके कान में कुछ धीरे-धीरे बड़बड़ाई। उसके साथ ही मुरा ने चौंककर मुँह खोल दिया। मुँह लाल हो गया और जैसे इस बात की बिना परवाह किये कि महाराज सो रहे हैं, बड़े ज़ोर से बोली–“अरी मरी, तू कहती क्या है? मेरे प्रति उन सबों के द्वेष की इतनी मर्यादा हो गई क्या? दुष्टे, यह सब मुझसे कह रही है। चल, जा यहाँ से निकल। एक क्षण भी यहाँ खड़ी न रह। पागल कहीं की। कुछ भी सुनती है और आकर मुझसे कह देती है। यदि यह सत्य हुआ, तो आज से मैं महाराज को भोजन की अच्छी तरह परीक्षा किये बिना कुछ न खाने को दूँगी। हो सकेगा तो अपने ही हाथों बनाकर महाराज को खिलाऊँगी। छिः-छिः, मत्सर का ऐसा फल होगा, इसका मुझे स्वप्न में भी गुमान न था। अब मैं क्या करूँ।”

इतना कह उसने अपना शरीर इस तरह हिलाया जैसे बहुत चिन्तित हो गई हो, फिर चुप हो गई। वह इस तरह निगम्न हो गई जैसे महाराज को इस संकट से कैसे छुड़ाया जाये, यह सोच रही हो।

धनानन्द सो नहीं रहा था, यह तो पाठकों को मालूम ही है। दासी और मुरादेवी की बात उसने सुनी। उस दासी के आने के साथ और “महाराज जाग नहीं रहे हैं, यह अच्छा ही है” सुनने पर उसने सोचा कि मैं उठ बैठूँ और दिखा दूँ कि मैं जाग रहा हूँ। फिर उसने सोचा कि क्या बात है, सुन लेनी चाहिए और फिर उठना चाहिए, यह सोच वह इस तरह पड़ा रहा, जैसे सो रहा हो। मुरादेवी बहुत चतुर थी, उसने महाराज की वह बात ताड़ ली। उसे अपने व्यूह की सिद्धि पर विश्वास हो गया। राजा ने उन दोनों की सब बातें सुनीं, पर सुमतिका दासी मुरादेवी के कान में क्या बोली, यह वह न समझ सका और वह बात जानने के लिए उसे बहुत उत्सुकता हुई। आगे उस पर मुरादेवी ने जो आवेश के उद्गार निकाले, उससे तो उसके मन की उत्सुकता अन्दर-ही-अन्दर और भी बढ़ गई। सुमतिका के वहाँ से चले जाने और मुरा के लम्बी-लम्बी साँसें लेने पर राजा उठ बैठा। उसने मुरा से पूछा–“प्रिय मुरे, सुमतिका और तेरी बातें मैंने सुन लीं, परन्तु उसने तेरे कान में क्या कहा, यह मैं न सुन सका। वह मुझे बता।”

“जो राजा को नहीं सुनना चाहिए था, वह उन्होंने सुन लिया, अब क्या होगा, किसे मालूम ? यह सोच और झूठे ही घबराने और थर-थर काँपने की मुद्रा बना, काँपती आवाज़ में वह राजा से बोली–“आर्यपुत्र, वह आप मुझसे न पूछें और न मैं आपको कहूँगी ही|”

"क्यों? वह जो कुछ था, मेरे ही बारे में था न? फिर मेरे सुनने से बुरा होगा या अच्छा? "

"कौन जाने कैसा होगा? वह सुनने के बाद आप शान्ति से जो कुछ करेंगे तो अच्छा होगा, नहीं तो बहुत ही भयंकर होगा। यदि कुछ हो गया तो फिर भी मैं मुँह से कुछ भी आपसे नहीं कहूँगी। अगर वह सब कुछ झूठ हुआ तो मुझ पर ही बिना कारण आरोप किया जायेगा न? आप ही बतायें?"

"कुछ नहीं। तुझ पर क्या आरोप होगा? तू अपने मन से बनाकर थोड़े ही कह रही है?"

"यह तो है, पर मुझे भय मालूम होता है।"

"कुछ भय की बात नहीं। जो कुछ हो, कह।"

"आपकी आज्ञा ही है तो कहती हूँ।"

"हाँ-हाँ, मेरी आज्ञा है इसीलिए कह। बस हुआ न?"

"कहती हूँ, जब आप आशा देते हैं तो मुझे क्या?"

ऐसा कह उसने उससे कुछ कहा। धनानन्द की आँखें अंगारे की तरह लाल हो गईं।

नौवाँ परिच्छेद

पत्र-वाचन

चाणक्य और वसुभूति का परिचय अधिक ही होता जा रहा था। वृन्दमाला एक-दो दिन बाद अवश्य आती और वसुभूति को अपनी स्वामिनी की अवस्था सुनाती तथा चाणक्य उसके पास बैठकर सुनने का अवसर न खोता। वृन्दमाला को उसके प्रति पर्याप्त स्नेह हो गया तथा वसुभूति को आदर। किसी अधिकारी के द्वारा तेरा राज-सभा में प्रवेश करवा दूँगा, ऐसा वसुभूति ने चाणक्य को आश्वासन दिया। परन्तु चाणक्य ने उसी क्षण कह दिया कि आप इस झमेले में न पड़े। क्योंकि उसने पहले ही सोच रखा था कि राज-सभा में कहीं कोई मुझे पहचान लेगा तो सब गुड़-गोबर हो जायेगा और कुछ-का-कुछ हो जायेगा। इससे अच्छा तो यही है कि दूर से ही तमाशा देखूँ और मौका पा जहाँ उचित हो प्रवेश करूँ। राजसभा में प्रवेश करने की उसकी बिल्कुल इच्छा न थी। राजसभा में प्रवेश कर अपनी विद्या दिखा राजाश्रय प्राप्त करना उसका उद्देश्य न था, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। उसका हेतु केवल यही था कि मुरा से मिलकर उसे गाँठा जाये। परमेश्वर के मन में मुझे यश देना और मेरी प्रतिज्ञा पूरी करना है, ऐसा उसे मालूम हुआ। आगे का विचार उसने अपने दिमाग़ में कायम कर लिया था। राजा और उसके कुल का नाश कर चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाने के लिए, पहले राजकुल का भेद जानने के लिए परमेश्वर ने मुझे अच्छा साधन दिया और उससे मेरे कार्य की सिद्धि में सहायता होगी। कार्य किस तरह प्रारम्भ किया जाये यह प्रश्न यहाँ आते ही हल हो गया। मुरादेवी का साधन मिल गया, अब यदि उसकी सहायता न ली जाये, तो दोष किसका ? ऐसा विचार करने के बाद उसने यह विचार आरम्भ किया कि मुरादेवी से कैसे भेंट की जाये। मुरादेवी के प्रत्येक सोमवार को कैलाशनाथ मन्दिर में आने के बाद उन्होंने कोई प्रयत्न न किया। पर मुरादेवी की माता मायादेवी कैसे चुप बैठती ? “आज तक चुप बैठी रही तो रही, पर अब कोई उपाय कर अपनी बहिन को उस दुष्ट राजा के पंजे से छुड़ाकर यहाँ ला। मैं वृद्धा हो गई। उसको बिना देखे मुझसे रहा नहीं जाता।” ऐसा उसने प्रद्युम्नदेव से कहा। तब उन्होंने मुझे यहाँ की स्थिति जानने के लिए भेजा, यह सोचकर के प्रयत्न किया जायेगा तो सफलता मिलेगी या नहीं? धनानन्द की तरफ से यौवराज्याभिषेक के समय सब छोटे-बड़े आदमियों के पास आमन्त्रण पत्र–आमन्त्रण पत्र कैसा आज्ञा-पत्र गया; वह प्रद्युम्नदेव के पास भी गया। यह जब मायादेवी को मालूम हुआ तो इसकी चित-वृत्ति बहुत विलक्षण हो गई और वह प्रद्युम्नदेव के पीछे लग गई कि जैसी भी हो, मुरा को छुड़ा ला। पर बेचारा प्रद्युम्नदेव क्या करे? वह अब केवल नाम ही का राजा है, तथापि जो यौवराज्याभिषेक अपनी बहिन के लड़के का होना चाहिए था, वह दूसरे ही का हो रहा है, यह सोचकर उसने इस उत्सव में सम्मिलित होना अनुचित समझा और मायादेवी को भी उत्सव में जाने के लिए मना कर दिया। उत्सव समाप्त होने के

बाद उसने मुझे यहाँ की स्थिति जानने के लिए भेजा। यौवराज्याभिषेक के उपलक्ष्य में मुरा को भी मुक्त किया होगा, उसे राजा ने फिर अपने पास कर लिया होगा, ऐसा उसे स्वप्न में भी नहीं दिखाई दे सकता था। परन्तु जब तुझे यह बात मालूम हो गई तो यहाँ और पूछताछ करने की क्या आवश्यकता है? वृन्दमाले, तुझे छोड़कर मैं और किससे पूछताछ कर सकता हूँ? यह सब जानकर मैं यहाँ से चला जाता, परन्तु बाद में यह सोचकर कि यदि किरातराज पूछेंगे कि तूने प्रत्यक्ष मुरा से मिलकर उसका स्वास्थ्य और सुख देखा? तब मैं क्या उत्तर दूँगा? इसीलिए मैंने तुझसे एकान्त में मिल अपनी सच्ची स्थिति कह सुनाई। इसलिए मैं जो पत्र कल तुझे दूँ उसे अपनी स्वामिनी को दे देना और यदि उसने दर्शन देने के हेतु मुझे बुलाया तो मैं नित्य के समय तेरे साथ चलकर उससे भेंट करूँगा। प्रद्युम्नदेव और मायादेवी के लिए यदि उसका कोई सन्देश होगा तो उसे सुन यहाँ से लौट जाऊँगा। वह मन्दिर में दर्शन के लिए आती है, उसी समय उससे किसी तरह भेंट की जाये, ऐसा सिद्धार्थक ने कहा था। परन्तु वैसी भेंट का कुछ भी उपयोग नहीं है। उससे मेरी भेंट किसी निराले ढंग पर होनी चाहिए। ऐसी ही भेंट हुई तो मेरा कार्य-साधन हो सकेगा; नहीं तो नहीं। इसलिए उसने कैलाशनाथ के मन्दिर में उससे मिलने का कोई प्रयत्न न किया। किसी निराले तौर पर भेंट करने के लिए उसने मार्ग भी ढूँढ़ निकाला।

एक दिन वृन्दमाला वसुभूति के पास से जल्दी राज-मन्दिर की ओर जाने को तैयार हुई। चाणक्य उसके साथ उठा और नित्य की भाँति अपने कैलाश-मन्दिर में जाने के बदले वृन्दमाला के साथ बातचीत करता हुआ चला।

'मेरे साथ परिचायक है, आप क्यों व्यर्थ में कष्ट उठाते हैं?" वृन्दमाला ने कहा। "कोई हर्ज़ नहीं। मुझे अभी नींद नहीं आ रही है और तुझसे कुछ बातें भी करनी हैं इसलिए तेरे साथ आ रहा हूँ।" चाणक्य ने उत्तर दिया तथा उसके साथ चलने लगा। यह मुझसे गुप्त रूप में क्या कहना चाहता है, यह सोचकर वृन्दमाला को विस्मय हुआ।

थोड़ा रास्ता चलने के बाद चाणक्य वृन्दमाला से बोला–"वृन्दमाले, मैं कौन और कहाँ हूँ, यह आज तक मैंने तुझे बतलाया नहीं। परन्तु मैं आज बताऊँगा? मैं किरातराज की तरफ से कुछ काम के लिए आया हूँ–आया हूँ क्या, आया था कहा जाये तो ठीक है। क्योंकि अब वह कार्य रहा नहीं, ऐसा दीखता है। फिर भी मुरादेवी से मिलकर मैं कौन हूँ, और किसलिए आया था, किरातराज ने मुझे क्यों भेजा, बतलाना चाहता हूँ और उसका निर्णय लेकर जाना चाहता हूँ। मैं एक पत्र दूँगा, तू मुरा को दे देना। वृन्दमाले, अपनी बहिन की ऐसी दशा देखकर किरातराज को कितना बुरा लगता होगा, क्या यह कहने की बात है? परन्तु धनानन्द के महान् बल के सामने उसके बारे में झगड़ा करने से क्या लाभ?"

चाणक्य की यह लम्बी बात वृन्दमाला सुन रही थी। इतने दिनों तक इस ब्राह्मण ने मुझसे इसके बारे में कुछ नहीं कहा, इसलिए उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु आज तक मुझसे बातचीत कर उससे मिली जानकारी का उपयोग कर चाणक्य ने यह कुछ बनावट रची है, इसका ख्याल उसे बिलकुल न हुआ। इसने इतने दिन तक मुझसे यह सब गुप्त क्यों रखा, इसके लिए उसे आश्चर्य हुआ और वह उस सम्बन्ध में कुछ बोलना ही चाहती थी कि चाणक्य जैसे उसका भाव ताड़कर बोला–"वृन्दमाले, आज मैंने तुझसे जो कुछ कहा, वह

वसुभूति से मत कहना। मैंने इन बातों में से एक भी शब्द नहीं बताया है। कैसे बताऊँ? मैं किरातराज के यहाँ से गुप्त बातें मालूम करने आया हूँ, ऐसा उसे कैसे कहूँ? एक मुँह से दूसरे पर और दूसरे के मुँह से तीसरे पर यह बात फैल जायेगी, तब राजपुरुषों तक भी बात का जाना सम्भव है, और यदि उनके कानों तक चली जाये तो फिर क्या होगा? राजा के कान तक पहुँचने में कितनी देर लगेगी? और राजा तक पहुँच गई तो मेरी अच्छी दुर्दशा होगी। धनानन्द क्या करेगा और क्या नहीं! मुझे तो उसने मगध के बाहर निकाल ही दिया होता, पर साथ ही प्रद्युम्नदेव पर भी चिढ़ता। वह गुप्तचर भेज मेरे राज्य का समाचार ले, मुझे गद्दी से उतारने की तैयारी करता है। मैंने तुझसे इसलिए कहा कि तू स्वामिनिष्ठा है और तुझे अपनी स्वामिनी से बहुत प्रेम है तथा तेरे ही द्वारा मैं उससे मिल सकता हूँ। इससे मिलना बहुत आवश्यक है, क्योंकि अब मैं यहाँ से जाऊँगा। मुरादेवी सुख में है, तो अब अधिक भेद लेने की क्या आवश्यकता ? एक बार उससे मिल, उसका सुख प्रत्यक्ष देख और अपने भाई और माता के लिए उसका कोई सन्देश हो तो उसे ले, मैं यहाँ से चला जाऊँगा। मैं एक पत्र लिखकर तुझे देता हूँ। तू वह पत्र ले जाकर उसे दे, फिर जो कुछ होना होगा, यथास्थिति हो जाएगा। अपनी कन्या को आनन्द में सुन मायादेवी को आनन्द होगा, उसके भाग्य में अपनी लड़की के पुत्र का यौवराज्याभिषेक देखना नहीं था, उसका क्या किया जाये।”

चाणक्य की वाणी में विशेष मोहकता थी और बेचारी वृन्दमाला थी भोली। मेरी स्वामिनी को जब यह मालूम होगा कि उसके भाई और माता के यहाँ से ब्राह्मण आया है, तो उसे बहुत आनन्द होगा। उससे पहले के आनन्द में इतना आनन्द और मिल जायेगा, तो उसे बहुत ही आनन्द होगा। यह सोचकर वृन्दमाला भी आनन्दित हुई, किन्तु ब्राह्मण के मन में जो यह विचार उठा है कि वसुभूति को अपना परिचय न दे, उसने यह अच्छा नहीं किया है। उसने चाणक्य से कहा–“अब सच्ची बात गुरुजी से कह देने में कोई हानि नहीं। आप कह दें। उनके पास से यह बात प्रसारित नहीं होगी। आप पत्र देंगे तो देवी को ले जाकर दूँगी ही; परन्तु पहले आपका कहा हुआ वृत्तान्त उन्हें सुनाऊँगी। आपका दर्शन कर और मायादेवी तथा प्रद्युम्नदेव का हाल मालूम करने के लिए शायद वह आपसे स्वयं मिलने आयें। ऐसा उसने आश्वासन दिया। वह सुन चाणक्य ज़ोर से हँसा और वृन्दमाला से बोला–“वृन्दमाले, स्वामिनी का कार्य और तुझसे कहने पर न हो, ऐसी शंका कौन कर सकता है? सचमुच तेरी मुरादेवी पर इतना प्रेम देख मुझे अतिशय आनन्द होता है। परिचारिका हो तो ऐसी हो। परमेश्वर तुझे चिरायु करे और तेरे हाथों स्वामिनी का काम करायें। अब मैं तुझसे पृथक् होता हूँ। मेरा कार्य हो गया, मैं ऐसा ही समझता हूँ। मैंने इतने दिनों तक अपना परिचय छिपा रखा, इसके लिए मुझसे अप्रसन्न न हो। मैं विवश था। मैं जिस काम के लिए आया, वह काम ही ऐसा था कि अच्छी तरह समझ-बूझकर जो कुछ कहना हो, कहा जाये। अब मैं तुझे अच्छी तरह पहचान गया। यह समझकर कि स्वामिनी पर तेरा इतना प्रेम है, मैं अपना कार्य हुआ ही समझता हूँ। केवल तू मेरी भेंट करा दे। मैं क्यों आता हूँ, कैसे आता हूँ, यह तू उसे बतला देगी तो वह तुरन्त मुझे बतलायेगी। अपने भाई और माता का सन्देश सुनने के लिए कौन स्त्री उत्सुक न होगी? अब ज़रा मैं भी जाता हूँ। तेरा मैंने पर्याप्त समय लिया।”

इतना कह चाणक्य सचमुच मुड़ा। बार-बार एक ही बात बोलने से कहीं यह संशय न कर बैठे, यह विचार उसके दिमाग में आया, तथापि वह फिर एक बार ज़ोर से उससे

बोला–“वृन्दमाले, मेरी कही हुई बातें किसी की मौजूदगी में न कहना। नहीं तो मुरा के विरोधियों को उसे फिर पहाड़ पर से ज़मीन पर ला पटकने का एक अस्त्र मिल जायेगा। मुझे अधिक नहीं कहना चाहिए, पर मैं अपने और देवी के सम्बन्ध में सावधान रहना चाहता हूँ।”

इतना कह चाणक्य सचमुच वहाँ से चला गया और वृन्दमाला अपने मार्ग पर अग्रसर हुई। उसके मन में नाना प्रकार के विचार आने लगे। परन्तु चाणक्य की कही बातें असत्य होंगी, ऐसा संशय बिलकुल न हुआ। मैं अपनी स्वामिनी से यह वृत्तान्त कहूँगी तो वह कितनी प्रसन्न होगी! वह मुझसे क्या कहेगी, चाणक्य से भेंट कैसे होगी और उनकी बातें कैसे होंगी? इन सब बातों को वह कुछ देर सोचती रही। थोड़े-से समय के विचार भी उसके मन में आये। राजा इस ब्राह्मण का अपमान करेंगे अथवा अब फिर मुरा से प्रेम हो गया है इसलिए आदर। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि राजा धनानन्द क्षणिक बुद्धि का है इसलिए उसके मन में कब क्या विचार आयेंगे और वह क्या करेगा, यह निश्चित नहीं। इसीलिए मुरा से सब बातें गुप्त रूप में कहनी चाहिए। इसके बाद वही निश्चित करेगी कि यह बात किसी पर प्रकट की जाये या नहीं और मुझे भी बता देगी तथा मैं भी उसी के अनुसार करूँगी। ऐसा विचार करती-करती वह अपनी स्वामिनी के महल में अपने स्थान पर गई।

मुरादेवी इस ख्याल में थी कि राजा का जितना प्रेम प्राप्त किया जा सके, किया जाये और उसे अपने प्रति उदासीन न होने दे तथा अन्य पत्नियों का अपने प्रति जितना द्वेष बढ़ाया जा सके, बढ़ाया जाये। अपनी इच्छानुसार कार्य हो, इसका वह बहुत प्रयत्न करती। धनानन्द–जैसे पुरुष को वश में करना उसके लिए कठिन न था। वह सदा नाना प्रकार के हाव-भाव और कटाक्ष करती रहती तथा राजा के पास उपस्थित रहती। इसीलिए वृन्दमाला को चाणक्य की बातें कहने का अवसर न मिलता, तथापि उसने किसी तरह सब बातें उसे बतला ही दीं, पर कुछ फल न निकला। उसका यह विचार कि वह अपने भाई और माता के सन्देश लाए हुए आदमी से तुरन्त भेंट करेंगी, विचार ही रह गया। वृन्दमाला की बात सुन मुरा आधा अपने को और आधा वृन्दमाला को लक्ष्य कर बोली–“इतनी जल्दी भैया और माताजी को मेरी याद कैसे आ गई? जा, उससे कह दे कि मैं सुखपूर्वक हूँ। प्रत्यक्ष मिलने का मुझे अवकाश नहीं है।” यह उत्तर सुन वृन्दमाला को बहुत आश्चर्य हुआ तथा रात को जब उसने चाणक्य से मुरा का उत्तर कहा तो उसे भी बहुत आश्चर्य हुआ। फिर थोड़ा विचार करने की मुद्रा बना भोज-पत्र पर लिखा पत्र वृन्दमाला को देकर कहा–“वृन्दमाला, कोई परवाह नहीं। तू मेरा पत्र उसे दे ही दे। मुझे विश्वास है कि वह यह पत्र पढ़ते ही मुझे बिना बुलाये न रहेगी।” पहले तो वृन्दमाला ने उससे कहा कि पत्र का कोई उपयोग न होगा; पर उसके बहुत आग्रह करने पर उसने पत्र मुरा तक पहुँचाना स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन मुरा के हाथ में दे भी दिया।

मुरा ने वह पत्र बड़े ही त्रस्त-भाव से और बड़बड़ाते हुए कि क्या है, कहाँ का है, लिया। परन्तु क्या चमत्कार था? पत्र पढ़ते ही उसकी मुद्रा बदल गई और उसने उससे ब्राह्मण को मिलने के लिए लाने को कहा। फिर उस पत्र में जो कुछ रहा होगा, वह तो होगा ही।

दसवाँ परिच्छेद

वार्तालाप

वृन्दमाला बहुत चकित हुई। राजा की सेवा में लीन स्वामिनी चाणक्य जैसे ब्राह्मण से मिलने के लिए समय निकालेंगी, इसका उसे विश्वास न था। और जब उसने पत्र दिया तो मुरा संत्रस्त-सी थी; परन्तु पत्र खोलकर पढ़ने पर वह सब-कुछ बदल गया। त्रास की मुद्रा लुप्त हो गई और उसका चेहरा प्रफुल्लित हो गया तथा उस पर उत्सुकता की लहर दृष्टिगोचर हुई। चाणक्य ने पत्र में ऐसा क्या लिखा है? यह सोचकर उसने मुरा की ओर शंका-भरी दृष्टि से देख कहा–"उन्हें लाने के लिए आप कह रही हैं, पर कब और कहाँ लाऊँ?" मुरादेवी ने वह पत्र एक बार फिर पढ़कर कहा–"वृन्दमाले, इस पत्र का लेखक तुझे कहाँ और कैसे मिला? उसने कैसे जाना कि तू मेरी सखी है? उसने तुझसे क्या कहा? वह अब कहाँ है? वह पाटलिपुत्र में कब आया?..."

वृन्दमाला को लगा कि मुरा का प्रश्न पूछना बन्द ही नहीं होगा–साथ ही उसे यह मालूम हुआ कि वह चाणक्य से मिलने के लिए बहुत उत्सुक है। इसलिए उसके सब प्रश्न सुनने के पहले ही उत्तर दे देना चाहिए। यह सोचकर उसने कहा–"यह ब्राह्मण मुझे मेरे गुरुजी के घर मिला। वह कैलाशनाथ के मन्दिर में ठहरा है। उसने यह अच्छी तरह जानकर कि मेरे ऊपर आपका पूरा विश्वास है, मुझसे एकान्त में मिल यह पत्र आपको देने के लिए कहा। उसने पहले ही बतला दिया था कि वह कौन है और कहाँ से और क्यों आया है, इसलिए मैंने आनाकानी न की।" इन बातों को सुन शायद मुरा का समाधान हो गया। "ब्राह्मण से मिलना तो अवश्य है, पर कहाँ और कैसे? यही एक कठिन प्रश्न है और यहाँ तो महाराज मुझे क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ते।" इस प्रकार मुरादेवी ने आधा अपने-आपको और आधा वृन्दमाला को लक्ष्य कर कहा, फिर बोली–"वृन्दमाले, तू उसे यहाँ भोजन के लिए बुला–नहीं, रहने के लिए ही बुला। वह यहाँ आकर यज्ञशाला में रहेगा, तब उससे किसी प्रकार अवसर पा बातचीत की जायेगी। महाराज की नींद आने पर मौका निकाल मैं आऊँगी। ब्राह्मण यहीं पास में रहेगा तो समय की अड़चन नहीं। ठीक समय मैं कैसे बतला सकती हूँ?"

मुरादेवी इतना कह रही थी कि सचमुच महाराज के पास से उसकी बुलाहट हुई। वह जल्दी-जल्दी चली गई। जाते-जाते वह वृन्दमाला से कहती गई–"मेरे कहने के अनुसार उस ब्राह्मण को यहीं यज्ञशाला में आकर रहने के लिए कह।"

स्वामिनी की आज्ञा सुन वृन्दमाला आनन्दित हुई। इसमें क्या रहस्य है, अब मुझे मालूम हो जायेगा, ऐसा उसने सोचा। दूसरे दिन वह चाणक्य के पास गई। रास्ते में यह विचार

उसे सता रहा था कि वसुभूति से यह सब बातें कही जाएं अथवा नहीं? चाणक्य ने तो अपने बारे में कुछ भी वसुभूति को बतलाने के लिए मना कर दिया था। यही सब सोचती वह वसुभूति के विहार के पास जा पहुँची। यदि भगवान् वसुभूति पूछेंगे कि तू इस समय क्यों आई तो मैं क्या उत्तर दूँगी, वह इस चिन्ता में भी थी। परन्तु भाग्यवश वसुभूति वहाँ था नहीं; नगर में भिक्षा के निमित्त गया था और सिद्धार्थक का भी कहीं पता न था। उसके मन में जो एक प्रकार का भय था, वह दूर हो गया और वह कैलाश-मन्दिर चली गई।

आर्य चाणक्य प्रात: कर्म से छुट्टी पा बैठा कुछ सोच रहा था कि इतने में ही वृन्दमाला ने उससे जाकर कहा–"ब्राह्मणश्रेष्ठ, आपको मेरी स्वामिनी ने सब सामान लेकर अपने मन्दिर में बुलाया है। वहाँ की यज्ञशाला में आपके रहने की व्यवस्था की जायेगी और अवसर पा वह आपसे मिलने और अपने पितृ-गृह का समाचार पूछने आयेंगी।" यह सुन चाणक्य ने जान-बूझकर आश्चर्य की मुद्रा बनाई। वस्तुत: उसे बहुत आश्चर्य नहीं हुआ। जो कुछ आश्चर्य हुआ, वह इस बारे में कि उसने वहाँ रहने के लिए बुलाया है। मुरा मुझसे मिले बिना न रहेगी, इसका उसे विश्वास था–ऐसा उसके व्यवहार से प्रतीत हुआ; पर वहाँ मन्दिर में रहने के लिए बुलायेगी, इसका उसे तनिक भी विचार न था। अब क्या किया जाये, वह इस विचार में पड़ा। जिस राजा के कुल का विध्वंस करने की मैंने प्रतिज्ञा की, उस राजा के मन्दिर जाकर, उसी का अन्न खाकर, उसी के विरुद्ध कार्यवाही की जाये, यह सोच उसे कुछ विचित्र-सा लगा। साथ ही, उसने यह भी विचार किया कि मुझे वहाँ पहचानना भी स्वाभाविक है। राजसभा में राजा को शाप देकर गया था, उसे अभी बहुत वर्ष नहीं हुए। उस समय तो किसी ने इस बात का ख़्याल न किया था, पर अब यदि मैं राजमन्दिर में वेश बदलकर रहूँगा तो मेरे प्रति सहज ही किसी को भी शंका हो सकती है। तब उसने अपनी रक्षा और जो कार्य राजमन्दिर में किया जायेगा, उस पर विचार कर अन्न ग्रहण करना तो बिलकुल ही असम्भव है, ऐसा उसने अपने मन में (बहाना) निश्चित किया। परन्तु वृन्दमाला को क्या उत्तर दिया जाये, यह उसे न सूझा, अन्त में उसने उससे इस तरह कहा कि–"में इस समय तेरे साथ नहीं आऊँगा। संध्या को आ जाऊँगा। यदि उस समय देवी से भेंट हो गई तो उनसे मिल एकदम प्रात:काल निकल जाऊँगा। मैं वहाँ स्थायी रूप से नहीं रह सकता। श्री कैलाशनाथ का आश्रम छोड़ दूसरी जगह कौन रहेगा? संध्यादि से निवृत्त हो मैं सवा प्रहर रात्रि बीतने पर मन्दिर के द्वार आऊँगा। वहाँ तू मुझसे मिलना और जहाँ ले चलना हो, ले चलना।"

वृन्दमाला ने सोचा था कि चाणक्य देवी का संदेश सुन तुरन्त दौड़ा हुआ चलेगा; परन्तु उसकी बातें सुन उसे बहुत आश्चर्य हुआ, फिर भी उसने अचम्भा प्रकट न किया। सिर्फ "अच्छा है" कहकर चलती बनी।

वापस लौटकर आने पर मुरा और उसकी भेंट नहीं हुई। इसलिए रात्रि में चाणक्य के आने पर उसे ले जाकर यज्ञशाला में बैठाने की योजना उसने की। रात को निश्चित समय पर चाणक्य आया और उसने उसे ले जाकर यज्ञशाला में बैठा दिया। चाणक्य मुरादेवी की राह देखता हुआ बैठा। वृन्दमाला ने उसके आने की खबर मुरादेवी के कानों तक किसी तरह पहुँचा दी, इसलिए वह चाणक्य से मिलने के लिए उत्सुक थी ही। राजा के सो जाने पर

मध्य रात्रि के कुछ पूर्व वह चाणक्य से आकर मिली। जो कुछ बातें करनी हैं, एकान्त में चलकर करनी चाहिए, ऐसा उसके सुझाने पर दोनों एकान्त में जा बातें करने लगे। उन दोनों में देर तक बातें होती रहीं। उनमें क्या बातें हुईं, यह तो वही जानें; पर मुरा जाते समय चाणक्य से बोली–"मुझे सहायता मिल गई तो ठीक ही है, पर यदि न भी मिली तो मैं अपनी प्रतिज्ञा-अनुसार काम करूँगी ही। मेरा उपक्रम आरम्भ भी हो गया है तथा थोड़े ही दिनों बाद उसका प्रथम फल भी मिलेगा। आपकी कही बात यदि सिद्ध हो गई तो फिर और क्या चाहिए? परन्तु रात को मैं फिर यहाँ आऊँगी; उसका कोई निश्चय नहीं है। मुझे अब जाना ही चाहिए। कल आप यहाँ आयें। मैं फिर मिलूँगी और फिर उसके बारे में विचार किया जायेगा।" इतना कह वहाँ से तुरन्त निकल गई। वृन्दमाला ने भी इनकी अन्तिम बातें सुनी थीं। यह बात सुन वह बहुत आश्चर्यचकित हुई। उसने तो सोचा था कि राजा का प्रेम पा मुरा अपनी प्रतिज्ञा भूल जायेगी और फिर सब कुछ शान्त हो जायेगा। परन्तु आज की बातें सुन उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसका विचार ग़लत था। "मेरा उपक्रम आरम्भ हो गया है तथा थोड़े ही दिनों बाद उसका प्रथम फल भी मिलेगा।" उसकी इस बात का अर्थ क्या है? यह प्रश्न उसके मस्तिष्क में उठा और वह उसमें लीन हो गई। वृन्दमाला अन्दर ही अन्दर पापभीरु, धर्मभीरु और भोली थी। उसकी स्वामिनी को उसका यह स्वभाव अच्छी तरह ज्ञात था इसलिए वह अपने कामों में उसे बिल्कुल साधारण अथवा जिससे उसके मनोविचार न प्रकट होते, ऐसे ही काम वह वृन्दमाला से लेती थी, तो दूसरे कामों के लिए दूसरी परिचारिकाओं से कहती–क्योंकि कोई धोखे का काम होगा, तो यह करेगी नहीं तथा आज्ञा समझ करेगी भी तो सब गुड़-गोबर हो जायेगा और बात बाहर फूट जायेगी। वह सीधे रास्ते पर चलने वाली तथा स्वामिभक्ता अवश्य थी। वृन्दमाला स्वामिभक्ति की दृष्टि से बहुत उपयोगी थी, पर जैसे काम मुरा को करवाने थे उसके लिए तो यह शून्य थी। यदि कुछ हो भी गया तो उसके भोलेपन से उससे लाभ के बदले हानि अधिक होगी, यही सब सोच-विचार कर मुरादेवी उसको वैसे कामों में न डालती और क्या कर रही है तथा क्या करने वाली है, इसकी सूचना भी उसे न होने देती।

ऐसी स्थिति में वृन्दमाला ने ऊपर के उद्‌गार सुने तो उसका मन घबरा गया। क्या मेरी स्वामिनी पूर्व-प्रतिज्ञा-अनुसार राजकुल के विध्वन्स में लगी है? "राजा को पुन: अपने ऊपर खींच, उसे अपने वश में कर, सब काम अपनी इच्छा से करवा अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगी।" ऐसा वह बन्दीगृह से छूटने और यौवराज्याभिषेक के समय से कह रही थी, तो क्या अभी भूली नहीं वह? आज की बात से तो ऐसा ही प्रतीत होता है। यह सोच उसका शरीर काँप उठा। राजवंश पर कोई भयंकर अनर्थ होने वाला है क्या? भगवान् वसुभूति के कहे अनुसार पाटलिपुत्र पर अनिष्ट आयेगा? ऐसा नाना प्रकार के दुखदायक विचार उसके मन में आये और चुपचाप खड़ी रही।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

चाणक्य की कार्यवाही

मुरादेवी ने जिस दिन से अपने कपट-नाटक में प्रवेश किया उसी दिन से राजा ने निश्चय कर लिया कि मुरा के अन्त:पुर को छोड़कर और कहीं नहीं जाऊँगा। मुरादेवी सच्चे कुलीन की कन्या दीखती है। आज मेरा प्रेम मुरा से है, इसलिए अन्य रानियों ने द्वेष करना आरम्भ कर दिया है और मेरी जान तक लेने की घात में हैं। सत्रह-अठारह वर्ष पूर्व मैंने व्यर्थ में इस बेचारी पर संशय कर अपनी मूर्खता द्वारा इसके लड़के की हत्या करवाई और इसे कारागृह में डाला। इन सब बातों को सोच उसे बुरा प्रतीत होता। आज मुझे उसका सच्चा मूल्य मालूम हो गया है। इसलिए अब उससे पूर्ण स्नेह रखना चाहिए, ऐसा उसने निश्चित किया। उसकी जान पर अन्य रानियों की निगाह है, यह सुनकर उसने उन रानियों को त्यागने का विचार किया था, पर मुरादेवी ने निषेध कर दिया। वह बोली–"महाराज, दासी ने सिर्फ सुनी हुई बात आपसे कही है, इस पर पूर्ण विश्वास नहीं करना चाहिए? पता नहीं, शायद वह सब सुनी हुई बातें झूठी हों, अथवा दासी ने सुना होगा कुछ, और यहाँ आकर बताया होगा कुछ, और मेरी सुमतिका कभी झूठ नहीं बोल सकती, पर सम्भव है, उसके सुनने में भूल हो गई हो ? महाराज, एक बार मेरे सम्बन्ध में आपका अविचार हो गया था, इतना ही बहुत है। किसी दूसरी को मैं अब जान-बूझकर दण्ड न देने दूँगी। जो कुछ सुना गया है, यदि उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया तो आप जो चाहें सो कर सकते हैं।"

यदि मुरादेवी के उस समय के कटाक्ष और हाव-भाव किसी ने देखे होते तो वह समझता कि यह दया की मूर्ति है तथा जो कुछ कह रही है, एकात्म सरल भाव से। राजा तो उसके इस भाव से मुग्ध हो गया और उसने उसकी बहुत प्रशंसा की तथा उसकी बात को ठीक समझ बोला–"तेरे कहने से मैं चुप बैठता हूँ, नहीं तो जिन्होंने अनेक झूठी बातें कह मेरा मन तेरे विषय में कलुषित किया और अब मेरा तुझसे प्रेम हो जाने पर अपनी झूठी बातों के खुल जाने के डर से क्या अंट-संट कर डालेगी इसका प्रचार कर रही हैं, उन्हें ठिकाने लगा देता। फिर भी तेरे कहने से मैं जब तक कोई प्रमाण न मिले तब तक चुप बैठता हूँ। मुझे तो पूरा विश्वास है कि सुमतिका की कही बातें सब पूरी तरह से सच हैं।" ऐसा कह उसने बड़े प्रेम के साथ आलिंगन किया।

मुरादेवी को इससे बहुत आनन्द हुआ। जो काम करना चाहूँगी, उसमें सिद्धि प्राप्त होगी, ऐसा उसे प्रतीत होने लगा। तथापि इस विचार से आपे के बाहर हो अपनी मन:स्थिति बिगड़ने नहीं देनी चाहिए; जो कुछ हो, खूब अच्छी तरह सोचकर करना चाहिए और एक बार कदम आगे बढ़ाने के बाद पीछे हटने का अवसर न आने देना चाहिए, ऐसा सोच वह

जिन-जिन उपायों से राजा के मन में अन्य पत्नियों के विरुद्ध विचार पैदा कर सकती थी, उन उपायों में लग गई।

चाणक्य जिस समय मुरा से बात कर उसके अन्त:पुर से बाहर निकला उस समय वह बहुत आनन्दित था। पाटलिपुत्र में पैर रखे अभी बहुत दिन नहीं बीते, पर इतनी ही अवधि में इतने काम उसके अनुकूल हो गए, इसकी आशा चाणक्य को न थी। पर जब वे कार्य हो गए तो उसके आनन्दित होने में नवीनता ही क्या थी? मुरादेवी मेरी पूरी तरह से सहायता करेगी, इसमें कोई शंका नहीं। जो एक बात अब तक उसने नहीं कही थी, उसको कहकर उसे उकसाने के बाद वह कुछ उठा न रखेगी, इसका उसे पूरा विश्वास था। अगर अपने भीगे हुए दु:ख के बदले वह साहस करेगी तो उससे दस गुना नहीं, सौ गुना साहस वह अपने पुत्र को चक्रवर्ती राजा बनाने के लिए करेगी। यह समझकर चाणक्य ने आगे के कामों को करना निश्चित किया। इसलिए, अब पहला काम क्या करना चाहिए, इसका उसने विचार किया और ऐसा निश्चित किया कि सर्वप्रथम राजगृह और इसके बाद अवसर पर राजा के भी सामने खुले तौर पर आने-जाने का प्रबन्ध किया जाये। मैं खुले तौर पर आने-जाने लगूँगा तो कुछ लोग यदि "यह राज-सभा से अपमानित होकर तथा राजा को अभिशाप देकर जाने वाला ब्राह्मण है" यह बात कहेंगे तो इसका विरोध कैसे किया जायेगा; इसका विचार सर्वप्रथम करना चाहिए। "मैं क्रोध में आकर जो कुछ बोल गया, उसको राजा, अधिकारीगण अथवा पण्डित लोग अपने मन में न लायें" यह बात कहकर एक बार अपने को नीचे कर लोगों की आँखों में धूल झोंक अपना कार्य करना चाहिए, यह एक उपाय है अथवा यह कहा जाये कि मैं वह ब्राह्मण नहीं हूँ, मैं मुरादेवी के भाई के राज्य में हिमालय के अंचल में मरुद्वती के किनारे आश्रम बनाकर रहने वाला ब्राह्मण हूँ, और मुरादेवी के भाई के द्वारा दिए गए कुमार की शिक्षा पूरी हो जाने के बाद उसे लेकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकला हूँ जिससे रही-सही शिक्षा भी दे दूँ। ऐसा कह लोगों को भ्रम में डाला जाये, यह दूसरा मार्ग है अथवा जैसा समय पड़े वैसा रूप बनाकर काम किया जाये, यह तीसरा मार्ग है। इन तीनों मार्गों में से किस मार्ग को चुना जाये, इसके लिए उसने बड़ी देर तक विचार किया और अन्त में निश्चित किया कि वसुभूति से कहा जाये कि वास्तव में मैं किरातराज के यहाँ से मुरादेवी का हाल-चाल जानने आया हूँ। मैंने पहले जो परिचय दिया था, वह झूठा है। अब यहाँ का सब हाल-चाल मालूम हो गया है और यह सब बताने के लिए कि मुरादेवी अच्छी तरह और सुख से है, मैं यहाँ से वापस जाता हूँ। यदि उन्होंने फिर किसी काम से मुझे यहाँ भेजा तो आऊँगा, और आऊँगा तो फिर आपसे आकर अवश्य मिलूँगा। किसी तरह उसे उल्टी-सीधी बातें समझा उससे अपनी असली हालत छिपा रखने के लिए क्षमा मागूँगा और उसे ठंडा करूँगा। वसुभूति को अपने वश में रखना चाहिए। उसकी और मेरी मित्रता अवश्य किसी मौके पर बहुत काम आयेगी। सिद्धार्थक तो अवश्य किसी-न-किसी काम आयेगा। ऐसा विचार कर उसने वसुभूति के विहार में पहुँच उससे कहा–"मुझे आपसे कुछ एकान्त में कहना है।" वसुभूति उसे एक तरफ़ ले गया। उसने अपने चेहरे के हाव-भाव से प्रकट किया कि वह वसुभूति जैसे व्यक्ति से अपना परिचय अब तक छिपा रखने के लिए बहुत लज्जित है तथा अपना गढ़ा हुआ नवीन परिचय उसे देकर अपराधों के लिए क्षमा माँगी। उसकी बातचीत इतनी चातुर्यपूर्ण हुई कि वसुभूति बेचारा उसमें फँस गया और उल्टा चाणक्य से

बोला–"ब्राह्मणश्रेष्ठ ! कोई बात नहीं। परदेश में अपना नाम, काम और आने का कारण सहसा किसी पर प्रकट न करना बुद्धिमान् पुरुषों की नीति ही है।" यह कह वसुभूति ने चाणक्य को सन्तुष्ट कर दिया तथापि चाणक्य ने ऐसी मुखमुद्रा बनाई कि वह वसुभूति जैसे सरल भिक्षु से असली बात छिपाकर बहुत पश्चाताप कर रहा है। उस समय चाणक्य के चेहरे का हाव-भाव ऐसा था कि कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। वसुभूति चाणक्य की बातों में बुरी तरह फँस गया और बार-बार उसका समाधान करने लगा। इतने में वृन्दमाला आ गई। चाणक्य बोला–"मैं कौन हूँ, और पाटलिपुत्र में क्यों आया हूँ, यह मैंने इसे बतलाया, तब इसने मेरी सहायता की और अपनी स्वामिनी से मुझे मिला दिया। मेरा काम हो गया। मैं अच्छे समाचार लेकर लौटूँगा इसके लिए मुझे अतिशय आनन्द है। पर, इस आनन्द का सच्चा मूल तो आपकी शिष्या वृन्दमाला है। सच्ची बात बताते ही अपनी स्वामिनी से मेरी भेंट करवाने तथा मुझे सहायता प्रदान करने की बात स्वीकार कर ली।" इतना कह वह वृन्दमाला की स्तुति करने लगा। वृन्दमाला अपनी स्तुति सुन उसी में डूब गई और वह यहाँ किसलिये आई है, शायद यह भी भूल ही गई। बाद में चाणक्य ने उन दोनों से कहा–"अब मैं अपने आश्रम को लौटकर जाता हूँ। मुझे यहाँ आये काफ़ी दिन हो गये, इसलिए कुलपति भी क्रुद्ध होंगे और किरात-राज को भी मेरी आवश्यकता पड़ेगी।" ऐसा कह उसने उन दोनों से छुट्टी ली और यह भी कहता गया–"किरातराज ने मन में अपने पुत्र, अर्थात् मुरादेवी के भतीजे को पाटलिपुत्र में राजधर्म सीखने अथवा पर्यटन के लिए भेजने का विचार किया है। यदि उसने उस लड़के के साथ मुझे भेजा तो मेरा यहाँ आना सम्भव है। आऊँगा तो बिना आपसे मिले न रहूँगा।"

चाणक्य के रुकने पर वृन्दमाला की तन्द्रा टूटी। जो कुछ थोड़ा-सा अंश मैंने इनकी बातों का स्पष्ट सुना था, क्या चाणक्य पूछने पर सब स्पष्ट बता देगा? यदि उसने न भी बतलाया तो देखूँ कहता क्या है, यह सोचकर उसने चाणक्य से कहा–"ब्रह्मश्रेष्ठ, आपके निकलते समय मुरादेवी आपसे क्या बोली थी, क्या आप बतायेंगे? मैंने थोड़ा-सा सुना था। अवसर पाकर मैं सब बातें आपसे पूछने वाली थी, सो अब मौक़ा आ गया है।"

"मुरादेवी ? मुरादेवी ने अपने बन्धु और माता के लिए जो संदेश कहना था, यह कह रही थी। कोई उनके मैके जाने वाला मिल जाये तो स्त्रियाँ क्या कहती हैं, यह तो तुझे मालूम ही है। वैसे ही संदेश वह भी दे रही थी। मुझे तो सब अच्छी तरह याद भी नहीं रहे। कुछ संदेश का मतलब मिला-जुलाकर यही था कि वह अब सुख से है। जो कुछ दु:ख पहले सत्रह-अठारह वर्षों में हुआ था, अब इस सुख द्वारा उसी की पूर्ति हो रही है। उसने अपने पितृगृह से अपना सुख देख जाने के लिए किसी को बुलाया है और खासकर अपने भतीजे को भेज देने के लिए कहा है। इसी प्रकार के संदेश दे रही थी। दूसरा संदेश क्या हो सकता है, स्त्रियों को अपने पीहर के आदमी के लिए?"

"छि:, छि:," वृन्दमाला इस पर एकदम बोली–"यह संदेश नहीं। उधर से आप जो सहायता कह रहे हैं वह मिल गई तो ठीक ही है, नहीं तो मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार करने के लिए तैयार ही हूँ, ऐसा जो वह बोली वह क्या था ? आप जब जाने के लिए निकले तो ये शब्द मेरे कानों में पड़े।"

यह सुन चाणक्य कुछ हड़बड़ा गया। परन्तु उसने अपनी दशा को प्रकट न करते हुए कहा–"प्रतिज्ञा? और इधर की सहायता? ऐसे शब्द उसके मुँह से निकले? मुझे तो कोई ऐसा शब्द याद नहीं। पर...पर...पर वह यह बोली थी, हाँ, यही कि महाराज का प्रेम मुझ पर स्थायी रहे, इसलिए किसी का मेरे पास मायके से आकर रहना आवश्यक है। मेरी सौतें यहाँ क्या न कर बैठें, इसका कुछ ठिकाना नहीं। यदि वहाँ से इस सुख के मौके पर भी कोई न आया तो मैं उन लोगों का मुँह न देखूँगी, ऐसी उसने प्रतिज्ञा की है। कुछ ऐसी ही बात वह बोली थी। इसमें का जो कुछ भाग तूने सुना है, वह सच है। उसने मुझसे आग्रह किया है कि उसकी माता और भतीजा यहाँ आकर कुछ दिन साथ रहें। इतने आग्रह के बाद भी अगर कोई न आया तो मैं उन लोगों का नाम तक न लूँगी। ऐसी उसकी प्रतिज्ञा है, और कुछ नहीं।" यह सुन वृन्दमाला आश्चर्यचकित हो गई। मुझे जो संशय हुआ था, क्या वह सच नहीं? मुरादेवी ने कारागृह से छूटते ही जो प्रतिज्ञा की थी कि राजा और राजवंश का नाश कर अपने पितृगृह में से किसी को राजगद्दी पर बैठाऊँगी, क्या उसका यह प्रथम अध्याय नहीं है? वह बड़े सोच में पड़ी, पर उसने चाणक्य से कुछ पूछा नहीं; जो कुछ था, मन-ही-मन में रखा।

चाणक्य दूसरे दिन निकल गया।

यहाँ तक तो सब ठीक हुआ; पर अब आगे क्या हो? अब तक केवल शोध कर अपने लिए अनुकूल अंत:स्थिति मगध में है या नहीं, इतना ही देखना था। यह सब हो गया। परन्तु अब आगे क्या हो ? मुरादेवी से कहा जाये कि चन्द्रगुप्त तेरा भतीजा है, और फिर चन्द्रगुप्त को राजपूतों की भाँति एक पुष्पपुरी में लाया जाये। ये सब विचार तो ठीक है, पर उन्हें कार्यरूप में कैसे परिवर्तित किया जाये? मैं दरिद्र और चन्द्रगुप्त गुराखियों के मध्य में पला हुआ। ऐसी स्थिति में उसे राजपुत्र के वेश में शान के साथ यहाँ कैसे लाया जायेगा। मेरी पर्णकुटी में तो कुछ भी नहीं है। और मुझे इस राजपुत्र को लेकर मगध देश में कुछ दिन रहना है। केवल मेरी मोहक बातचीत पर और चतुरता से धोखा खाकर कोई हमारी सेवा नहीं करेगा! अब तक मेरे अकेले के लिए कुछ भी कठिन न था, परन्तु अब आगे अनेक गुप्तचर रखने होंगे, जिन्हें अनेक प्रकार से सन्तुष्ट कर उनसे नाना प्रकार के काम लेने होंगे। यह सब करने, गुप्तचर तथा नौकर रखने के लिए पैसे कहाँ से आयेंगे? चाणक्य को, स्वयं के लिए एक दमड़ी की भी आवश्यकता न थी। उसके समान सादा मनुष्य उस समय वही था; दूसरा कोई नहीं। परन्तु इस कार्य में द्रव्य की आवश्यकता थी। वह द्रव्य कहाँ से लाया जाये? यह उसके लिए एक चिन्ता का विषय हो गया। इसी चिन्ता में डूबा वह धीरे-धीरे डग बढ़ाये चला जा रहा था। मेरे पीछे चन्द्रगुप्त ने आश्रम की कैसी व्यवस्था की होगी ? मेरे उन भील, खासी, प्राच्य, गोंड और खोंड आदि जाति के लड़कों को ठीक से सँभाला होगा या उनसे लड़-झगड़ कर आश्रम को अस्त-व्यस्त बना दिया होगा? यह भी उसकी चिन्ता का कारण हुआ। आज तक उसे आश्रम चलाने में किसी प्रकार कष्ट नहीं होता था। क्योंकि कन्द-मूल, फल लाकर उसके शिष्य उसे देते और स्वयं शिकार वगैरह कर पेट भरते तथा उससे शिक्षा ग्रहण करते। यही क्रम चलता था। परन्तु अब आगे क्या कैसे होगा? आगे का काम ऐसे-वैसे नहीं चलेगा। उसके लिए अब और धन की आवश्यकता है। कोई परवाह नहीं। अब मैं जाकर उन लड़कों से उनकी शिक्षा का उपयोग करा ग्रीक, यवनों को लूटकर द्रव्य इकट्ठा

करूँगा। शीघ्र ही किसी तरह द्रव्य इकट्ठा करने की व्यवस्था करूँगा। ऐसा मन में सोच खिन्न-चित्त चाणक्य अपने आश्रम की और चला।

आश्रम के पास पहुँच वह सोचने लगा कि मेरा प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त मुझसे क्या कहेगा? उसे कितना आनन्द होगा? ऐसे ही कुछ चिन्ता, कुछ उत्सुकता से वह अपने आश्रम की सीमा पर पहुँचा। उसका चित्त आनन्दित हो उठा। क्या था उस आनन्द का कारण? ऐसा विचार करता हुआ वह अपने तपोवन में घुसा। कुछ दूर पर कहीं आनन्द मनाया जा रहा है, ऐसा उसे प्रतीत हुआ। किसी लड़के ने जंगली भैंसा, सुअर, व्याघ्र अथवा सिंह मारा होगा, उसी के लिए यह आनन्द मनाया जा रहा होगा। ऐसी स्थिति में यदि मैं वहाँ गया तो उनके आनन्द का पारावार न रहेगा, यह सोच वह यह देखने के लिए कि वहाँ क्या हो रहा है, आगे बढ़ा। देखता है कि सब लड़के इकट्ठे हुए हैं और चन्द्रगुप्त मध्य में खड़ा है। उसके सामने कुछ है और एक तरफ दो-चार यवन बँधे हुए हैं तथा लड़के आपस में बातचीत कर रहे हैं। कुछ देर पेड़ की आड़ में खड़े हो इन लोगों की बातें सुनूँ, तब उनके सामने जाऊँ। यह सोच वह रुक गया और कान लगाकर उनकी बातें सुनने लगा। तब उसके कान में आगे लिखा संवाद पड़ा–"चन्द्रगुप्त, यदि आज गुरुजी यहाँ होते तो तुझे कितनी शाबाशी देते!"

"वीरव्रत, 'तुझे' क्यों कहता है, 'हमें' ऐसा क्यों नहीं कहता? इस प्रसंग में जितना पराक्रम मैंने दिखाया है उससे कहीं अधिक तुम लोगों ने दिखाया है। कुछ भी हो, पर मित्रो, यह निधि–यह सब द्रव्य हम ऐसे ही रखें और गुरुजी के आने पर हम सब लोगों की ओर से उनके चरणों पर गुरुदक्षिणा देंगे। क्यों, ठीक है न?

"हाँ, ठीक है!" ऐसी चिल्लाहट मची।

'पराक्रम', 'निधि' और 'द्रव्य' यह सुनते ही चाणक्य को एकदम आश्चर्य हुआ। इन लड़कों ने कुछ पराक्रम कर कहीं से निधि सम्पादित की है क्या? वाह, यदि ऐसा हुआ तो मैं उन्हें शाबाशी क्यों न दूँगा। मन में यह कह चाणक्य आगे बढ़ा। जिस समय मुझे द्रव्य की आवश्यकता है उस समय यदि इन बालवीरों ने किसी शत्रु को हरा द्रव्य का सम्पादन किया हो तो मेरा कितना काम हो जायेगा! ऐसा मन में आने पर वह अपने गुप्त-स्थान पर एक क्षण भी न खड़ा रहा। "वत्सो! चिरायु होओ, अपने प्रति तुम्हारी यह भक्ति देख मैं मन ही मन आनन्दित हुआ।" ऐसा कहते हुए वह आगे बढ़ा। इतने में लड़कों के आगे रखी हुई स्वर्ण-राशि को देख उसकी आँखें बन्द होने लगीं। वे लड़के गुरुजी के सम्बन्ध में ही बातें कर रहे थे, इसलिए उन्हें प्रत्यक्ष देख वे आनन्दित हुए, यह कहने की बात नहीं है। आश्चर्य के झोंके से ज़रा शान्त होने पर उन लोगों ने बड़ी भक्ति के साथ प्रणाम किया। किसी ने आसन बिछा दिया और उनसे बैठने की प्रार्थना की। उसके बैठते ही वीरव्रत एकदम बोला–"गुरुजी, इस चन्द्रगुप्त ने आज पाँच-सात सौ ग्रीक यवनों पर हमला कर उन्हें पराजित किया है। कितने ही मारे गए, कितने भाग गए और ये पाँच-चार जन बचे तो उन्हें बाँध लिया गया। गुरुजी ! इन यवनों ने किसी राज्य में घुस वहाँ की प्रजा को लूट लिया था, और लूट का माल अपने राजा सल्यूकस निकत्तर के पास ले जा रहे थे। यह माल उनके पास से हराकर लिया गया है। गुरुजी इसका पराक्रम..."

"गुरुजी" चन्द्रगुप्त बीच ही में बोला–"मेरे अकेले का नाम ये व्यर्थ ले रहे हैं। आज इन

सबने पराक्रम दिखाया, पर कुछ भी हो, यह सब द्रव्य गुरुदक्षिणा के रूप में और इन यवनों को आपको दास के रूप में देने का हमने निश्चय किय था। हमारा बड़ा भाग्य है कि आप आज ही पधारे। अब ये सब चीज़ें स्वीकार कर हम सबको आशीर्वाद दें।" चन्द्रगुप्त की बात समाप्त होते ही सब शिष्य मण्डली ने–"गुरुजी की जय ! आर्य चाणक्य की जय!" उच्च स्वर से एक साथ कहा।

वह सुन चाणक्य के नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गए। उसका कण्ठ गद्‌गद हो गया। उसके मुँह से एक भी शब्द न निकला। वीरव्रत, चन्द्रगुप्त आदि शिष्य जो पास ही थे, उनसे वह बड़े ही प्रेम से बोला–"वत्सो, तुमने यह द्रव्य सम्पादित कर कैसा महत्वपूर्ण कार्य किया, इसकी तुम्हें कल्पना नहीं हो सकती।" इतना वह बड़ी कठिनता से बोल पाया।

इसके दो-तीन घण्टे बाद चन्द्रगुप्त, वीरव्रत आदि विशेष शिष्यों से जो कुछ कहना था, एक तरफ ले जाकर कहा। वीरव्रत को आश्रम की व्यवस्था करने के लिए वहीं रखा और उसे समझाया कि जैसा मैं लिख भेजूँ वैसी व्यवस्था करनी है;तथा राजपुत्र के योग्य मनुष्य ले और वस्त्रादि से अच्छी तरह चन्द्रगुप्त को सजाकर चाणक्य पाटलिपुत्र आया। वह सब द्रव्य उसने अपने साथ ले लिया था, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

बारहवाँ परिच्छेद

चाणक्य का विचार

जैसा पिछले परिच्छेद में कहा गया है चाणक्य पाटलिपुत्र में आया तो एक राजपुत्र को लेकर। इस समय पाटलिपुत्र में कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, ये विचार उसके मन को नहीं सता रहे थे। वह सीधे मुरादेवी के महल में गया और उसके सामने चन्द्रगुप्त को खड़ा कर बोला–“देवि, तेरे बन्धु प्रद्युम्नदेव व माता मायादेवी ने तुझे आशीर्वाद दिया है। वे तेरे आमन्त्रण पर न आ सके, इसका उन्हें खेद है–फिर भी तेरे भतीजे को, जिसे वे प्राण से भी बढ़कर प्यार करते हैं, तेरे पास मेरे साथ भेजा है। इसे चार दिन अपने पास रख। इसकी और तेरी बिल्कुल जान-पहचान नहीं है, फिर भी तू इसे सँभालकर रख। अगर उसे वहाँ की याद न होने देगी तो वह आनन्द से तेरे साथ रहेगा उसे वहाँ की याद न आने पाये, इसका एक ही उपाय है, उससे वहाँ के बारे में कुछ न पूछना। उसने तुम्हें देने के लिए मुझे एक पत्र भी दिया है।” इतना कह चाणक्य ने एक पत्र मुरादेवी को दिया।

चन्द्रगुप्त को देख मुरा की मुद्रा चमत्कारपूर्ण हो गई। पर वह कुछ बोली नहीं। कितनी ही देर चुप रही। कुछ देर उसने वह पत्र पढ़ा, फिर चाणक्य से बोली–“आर्य चाणक्य! इस लड़के को देख मुझे बहुत आनन्द हुआ। अब मैं इसे महाराज का दर्शन करवाती हूँ। आप भी महाराज के दर्शन के लिए चलें।”

मुरादेवी का वह आमन्त्रण सुन चाणक्य घबरा-सा गया, पर उसने घबराहट को अधिक देर तक स्थान न दिया; बोला–“मुझ जैसे ब्राह्मण को राजदर्शन करके क्या करना है? इसलिए तू अब मुझे जाने दे। जब तक चन्द्रगुप्त यहाँ है तब तक मैं भी यहीं पाटलिपुत्र में ही रहूँगा। चार दिन रहने के बाद चन्द्रगुप्त को लेकर वापस चले आना, ऐसा प्रद्युम्नदेव और मायादेवी ने कहा है। अब मैं अपने ठहरने के स्थान पर जाता हूँ।”

“आप ठहरने के स्थान? पाटलिपुत्र में आपके ठहरने का स्थान कहाँ है? यदि आप स्थान की खोज में जा रहे हों, तो वह कष्ट न करें। मेरी यज्ञशाला में आप सुखपूर्वक रहें। आपकी तपस्या आदि में किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने पायेगी और मेरे इस भतीजे से जब तक मेरी अच्छी तरह जान-पहचान न हो जाये तब तक आप यहीं रहें तो अच्छा। मेरी यज्ञशाला आप जैसे ब्राह्मण के चरण-कमलों से पुनीत हो, ऐसी मेरी भी बड़ी इच्छा है, बाहर आप कहाँ रहेंगे?”

“देवी मुरे!” चाणक्य तुरन्त बोला–“तेरी मेरे प्रति भक्ति है, यह देखकर मुझे बहुत आनन्द होता है, परन्तु मुझसे यहाँ न रहा जायेगा। पाटलिपुत्र के बाहर गंगा के किनारे मैंने एक छोटी-सी पर्णकुटी बनवा ली है। मेरे शिष्यों ने हम लोगों के आने के चार दिन पहले ही आकर सब काम ठीक कर रखा है। देवी, मैं बिल्कुल सीधा-साधा ब्राह्मण हूँ। मुझे तेरे इस

राजमन्दिर का सुख लेकर क्या करना है? प्रद्युम्नदेव ने बहुत आग्रह और विनती कर मुझे कुमार चन्द्रगुप्त के साथ भेजा, इसलिए मैं उसके आग्रह के कारण आया हूँ। चन्द्रगुप्त पर मेरा बहुत प्रेम है–इसे बचपन से ही प्रद्युम्नदेव ने मेरे अधीन कर दिया है। इसे दो दिन न देख पाऊँ तो मुझे अच्छा नहीं लगता, इसलिए मैं आया हूँ। देवी, कुमार चन्द्रगुप्त का एक-एक गुण तू जैसे-जैसे देखेगी वह तुझे अच्छा लगने लगेगा और तुझे गुप्त रूप से बतलाता हूँ कि उसके हाथ पर चक्रवर्ती होने के सब लक्षण हैं। भगवान कैलाशनाथ केवल उसे चिरायु रखें। चन्द्रगुप्त, मैं जाता हूँ। ये देवी मुरा सदा तेरे लिये अच्छा करेंगी। मैं एक-दो दिन में अथवा नित्य तुझसे मिलता रहूँगा। तू बिल्कुल चिन्ता न करना।”

ऐसा कह चाणक्य उठ गया। मुरादेवी के आग्रह का कुछ भी उपयोग न हुआ। चाणक्य ने सचमुच यहाँ से जाने के पूर्व एक पर्णकुटी गंगा के किनारे एक शांत एवं रम्य स्थान पर बनवाने की व्यवस्था की थी तथा उसने सब सामग्री का प्रबन्ध करने के लिए सिद्धार्थक से कहा था। जब से सिद्धार्थक और चाणक्य का मिलाप हुआ तभी से इन दोनों में खूब पटती थी। सिद्धार्थक ने सब प्रकार से चाणक्य की सहायता करना स्वीकार किया था। उसी के अनुसार चाणक्य के शिष्यों को उसने पर्णकुटी तैयार करने में बहुत सहायता की थी।

मुरादेवी को इस बात पर थोड़ा क्रोध आया कि यह तुच्छ ब्राह्मण मेरा आतिथ्य स्वीकार नहीं कर रहा है; परन्तु राजा की प्यारी रानी आग्रह कर रही हो और यह उसे ठुकरा दे, इससे तो यही मालूम होता है कि यह निर्लोभी है। यह सोच उसके मन में चाणक्य के प्रति थोड़ा आदर भी हुआ।

चाणक्य वहाँ से निकला तो सचमुच गंगा-किनारे अपनी पर्णकुटी में गया। वहाँ अपने मन के अनुसार व्यवस्था देख वह बहुत आनन्दित हुआ। और जो प्रतिज्ञा की थी उसके लिए कदम उठाने में अब उसे किसी प्रकार की आशंका नहीं थी। अब नाना प्रकार के उपक्रम कर नंद राजा का विध्वंस करने का अवसर मिल गया था। जिस दिन चन्द्रगुप्त को मुरा के हाथ दे दिया उस रात सब शिष्यमंडली तो नींद लेने लगी, पर चाणक्य अकेला ही बैठा तरह-तरह के विचारों में लीन हो गया। चाणक्य की प्रतिज्ञा यह थी कि नन्दवंश का नाश कर अपने द्वारा शिक्षित किसी पुरुष को सिंहासन पर बैठाया जाये। उसने सोचा कि अब तक मेरी चतुरता की अपेक्षा दैव-योग ने कार्य की सम्पादित करने में अधिक सहायता प्रदान की। नन्दराज के व्यवहार से सन्तप्त हो जब प्रतिज्ञा कर बाहर निकला तभी बिना अधिक हैरानी उठाये आसानी से चक्रवर्ती-चिह्न से युक्त बालक मिल गया। इतना ही नहीं, केवल ज़रा-सा प्रयत्न करने पर वह मेरे हाथ भी लग गया। उसे क्षत्रिय योग्य मैंने सब शिक्षा प्रदान की। उसे आगे के लिए उपयोगी, व्याध, खासी आदि जाति के तरुण लड़कों के साथ शिक्षा दे उसके प्रति उन लोगों में भक्ति के भाव पैदा किए। यहाँ तक तो सब बात ठीक हुई। अब एक क़दम आगे रखना चाहिए, इसलिए चन्द्रगुप्त को आश्रम में छोड़ यहाँ पाटलिपुत्र का हाल-चाल लेने आया। यहाँ बहुत अनुकूल परिस्थिति मिली। भगवान् ने, मालूम होता है, मेरी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए ही मुरादेवी को बन्धन-मुक्त करवाया और उसके मन में मत्सर का संचार किया। उससे मिलकर मैंने उसके मन में और भी अधिक मत्सराग्नि भड़काई तथा चन्द्रगुप्त को उसके पास लाकर रखा। जिस प्रकार सिंहनी अपने छोटे से बच्चे की रक्षा में रत

रहती है, उसी प्रकार मुरा चन्द्रगुप्त की रक्षा करेगी, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। काल-सर्पिणी भले ही अपने बच्चे को डस ले, पर मुरा ऐसा नहीं कर सकती तथापि मैंने अभी पूरी व्यवस्था नहीं की है। वह चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए जागरूक रहेगी, यही सोचकर हाथ पर हाथ रख बैठे रहना उचित नहीं। स्वयं भी काफी जागरूक रहना चाहिए। उसी के ऊपर ती मेरा सब आधार है। अगर उसी की जान को कुछ हो गया, तो मेरा सारा व्यूह ढह जायेगा। इसलिए अब आगे क्या-क्या करना चाहिए? अब पहली बात यह है कि म्लेच्छराज पर्वतेश्वर का प्रतिनिधि यहीं पर है, उससे मिलकर यह कहा जाये कि यदि पर्वतेश्वर इस समय आक्रमण करे तो अवसर बहुत ही अच्छा है। ऐसा अवसर फिर कभी न आयेगा। उससे यह बात कही जाये कि में उसे किरातराज और खासी आदि लोगों द्वारा सहायता दूँगा। मृत्युंजय कुछ कम चतुर नहीं है। उसने यह जान ही लिया होगा कि यह प्रसंग नन्दराज का नाश करने के लिए उत्तम है। उस पर यदि मैं उसे सहायता देने का वचन दूँगा, तो उसके मुँह में पानी आ जायेगा और नन्दराज ने आज तक उसके साथ जो-जो अन्याय किए हैं, उनका बदला लेने की इच्छा उसे होगी। ऐसी इच्छा हो गई तो पर्वतेश्वर को यथेष्ट सहायता देकर नन्दराज की खबर लूँ। परन्तु इस तरह नन्दराज की खबर लेने जब वह मगध में जायेगा तो सिंहासन पर अपना अधिकार घोषित करेगा। फिर उसे सिंहासन पर से उठाना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में क्या किया जाये? सोचना चाहिए। सुमाल्य का वध करना चाहिए और बाद में पर्वतेश्वर द्वारा सब नन्दों का नाश करा देना चाहिए। नन्द के मरने पर चन्द्रगुप्त कौन है, यह बात प्रकाशित की जाये और उसके प्रति लोगों के हृदयों में भक्ति का भाव जाग्रत किया जाये। नन्द का सच्चा पहला पुत्र जीवित है, इसलिए उसी को राजसिंहासन दिया जाये, यह बात कहकर लोगों में पर्वतेश्वर के विरुद्ध भावनायें पैदा की जाएं। यदि वैसे बात न बने तो विश्वास और घनिष्ठता-द्वारा पर्वतेश्वर को मार डाला जाये। इसका पुत्र मलयकेतु छोटा है, उसके अनुकूल लोग होंगे नहीं। उसे किसी तरह फुसला लूँ अथवा समय पड़ने पर उसका भी वध करा दूँ। और इस ख़ून की ज़िम्मेदारी नंद के पक्षपातियों–राक्षसादि पर डलवा दूँ। काम है तो विकट। व्यूह कुशलतापूर्वक रचना चाहिए। परन्तु सब बातें अभी ही पूर्णरूप से रचित नहीं की जा सकतीं। मेरे सामने तीन बातें हैं। एक सुमाल्य की मृत्यु, भागुरायण सेनापति का अपने ऊपर स्नेह और पर्वतेश्वर के पक्षपाती मृत्युंजय से भेंट कर पाँसा फेंक कर देखा जाना। सुमाल्य की मृत्यु जिस तरह करने का मैंने निश्चय किया है, यदि वह उपाय सिद्ध होगा तो ठीक है और अगर न भी हुआ तो पुनः प्रयत्न किया जायेगा। राजा के मन में अधिकारियों के विरुद्ध संशय उत्पन्न हो जायेगा। इतना भी कार्य हो गया तो कुछ कम नहीं है। भागुरायण का प्रेमसम्पादन करने के लिए अधिक कठिनता नहीं होगी। मेरी खोज ने तो यही बतलाया है कि सेनापति का मन राजा की ओर शुद्ध नहीं है। दासी कन्या को क्षत्रिय-कन्या कह राजा को अर्पण किया और उसके पेट से उत्पन्न पुत्र को नन्द के पवित्र सिंहासन पर बैठाने का जानबूझ कर प्रयत्न किया। ऐसा अन्य मन्त्रियों का भागुरायण के प्रति विचार था, और उसके ऊपर से राजा का मन फिर जाये, ऐसा व्यूह रचा था। इसलिए उसके विरोधियों का यदि नाश हो जाये तो वह प्रसन्न ही होगा। वह यदि किसी युक्ति से मेरे पक्ष में आ गया तो ठीक ही है। और अगर न आया तो चन्द्रगुप्त का सच्चा वृत्तान्त कह उसे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करूँगा। पर यह तीर

अन्तिम होगा। साधारण तीरों के रहते उस अमोघ तीर का निकालना उचित नहीं। भागुरायण मेरे पक्ष में आ गया तो नब्बे प्रतिशत काम हो जायेगा क्योंकि वह सेनाधिपति है। वह और अन्य लोग इस तरह अनुकूल हो गए, तो राक्षस-जैसे अनुकूल न भी हुए तो कोई हर्ज न होगा। राक्षस के अनुकूल होने की आशा ही व्यर्थ है। वह नन्द का सच्चा सेवक है। नन्द वंश का नाश होने तक–एक भी नन्द के जीवित रहने तक वह दूसरे पक्ष की ओर नहीं झुक सकता। नन्द का नाश होने के बाद–मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार पृथ्वी के निनन्द होने के बाद वह अवश्य उस नाश का बदला लेने का सामर्थ्य और प्रयत्न करेगा, और अपने चातुर्य का उपयोग करेगा। प्रजा में से जितने लोगों को हमारे विरुद्ध कर सकेगा, करेगा। अवसर आने पर किसी दूसरे राजा की सहायता से हमारा नाश करने का प्रयत्न भी करेगा। पर मैं उसकी एक भी कोशिश सफल न होने दूँगा। अगर अन्त में हो सकेगा तो उसे भी अपनी ओर झुकाकर चन्द्रगुप्त को प्रधान बनाऊँगा। मैं क्या हूँ? कुल मिला-जुलाकर एक ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण-मात्र ही तो? मुझे राज्य की, धन की, अधिकार की अथवा अन्य किसी प्रकार की लालसा नहीं। मेरी लालसा तो केवल यही है कि नन्द-वंश का नाश स्वप्रतिज्ञानुसार कर चन्द्रगुप्त को चक्रवर्ती सम्राट् बनाऊँ। इसे इस पुष्पपुरी के सिहांसन पर बैठाना अन्याय नहीं, न्याय ही होगा। वस्तुत: इसी लड़के का अधिकार राजसिंहासन पर सबसे पहले है। सुमाल्य को जो यौवराज्याभिषेक हुआ वह इसे होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं हुआ। जो समझते थे कि उन्होंने इस बालक को संसार से उठा दिया उनकी आँखों में अंजन डालना चाहिए। ऐसा अंजन यदि डाला जाये तो उसमें अन्याय क्या होगा? एक बार जान-बूझकर अन्याय करने के बदले यदि उन्हें कड़ा दण्ड मिल गया तो उसमें अन्याय क्या? और मेरी तरह सर्वथा पवित्र विद्वान्, चतुर और राजा का हित सोचने वाला ब्राह्मण द्वार पर आकर आशीर्वाद देता है, उसे प्रथम तो आश्रय देने की वाणी ज़ोर से उच्चारित करता है, और फिर मूर्ख पंडित के कहने से वाणी वापस ले लेता है, और उसी तपोनिष्ठ, कर्मनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ और क्रोधी ब्राह्मण का अपमान करता है। इसलिए अगर वह ब्राह्मण उसका नाश करने को उद्यत हो जाये तो इसमें अन्याय क्या?

इसी प्रकार नाना प्रकार के विचार चाणक्य के मन में समुद्र हिल्लोल की भाँति ऊपर उठ और गिर रहे थे। अन्त में स्वयं के विषय में विचार उठे तो चाणक्य क्षुब्ध हो उठा। जिस दिन राजसभा में उसका अपमान हुआ, उसी दिन से उसकी आँखों में यह विलक्षण दिखावा दिखायी देने लगा था। मैंने बड़ी उद्धतता से राजसभा में घुस राजा को आशीर्वाद दिया, यह देख पण्डित-गण आँखें फाड़-फाड़कर मेरी ओर क्रोध और आश्चर्य से चकित होकर देखने लगे तथा बाद में जब राजा ने मेरा आदरातिथ्य किया तो उनका क्रोध और भी बढ़ गया। इतना ही नहीं, बल्कि उस क्रोध में मत्सरता की भी मिलावट थी। वह देख मुझे बहुत आनन्द हुआ और मैं उसकी ओर आदरपूर्वक देख उसकी स्तुति ही करने वाला था कि एक मूर्ख पंडित खड़ा होकर अण्ट-सण्ट बकने लगा। राजा ने इस मूर्ख पण्डित की बात मान कर ही मेरा अपमान किया। तब मेरा क्रोध सीमा को पार कर गया और मुझसे जो कहा गया, मैंने कहा। मैं क्रोधित हो और पैर पटकता हुआ राजसभा के बाहर जाने लगा और उसी समय मेरे मुँह से प्रतिज्ञा का उच्चार हुआ। उस समय की बातें उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष नाच उठीं और मैं इस समय कहाँ हूँ, क्या कर रहा हूँ, यह सब भूल वह कोपिष्ठ ब्राह्मण एकदम उठकर खड़ा

हो गया। उसके मुँह से निकलने लगा–"अरे मूर्ख धनानन्द! तूने मेरा अपमान किया यह न समझ, बल्कि यह समझ कि तूने जान-बूझकर एक दीर्घद्वेषी कराल काल-सर्प के फनों पर पैर रखा है। वह काल-सर्प अब तुझे ही क्या, तेरे सब कुल को, तेरे सब पक्षपातियों को डस कर काल के मुँह में ठूँस देगा। यह विष्णुगुप्त नहीं, चाणक्य है। अब वह विष्णुगुप्त नाम क्या ऐसे ही आयेगा? जब प्रतिज्ञानुसार मैं नन्दों का नाश कर लूँगा, तभी यह नाम स्वीकार करूँगा। बीच में वह मन में भी क्यों आये?" ऐसे ही तथा इसी प्रकार के अन्य उद्‌गार उसके मुँह से जोरों से निकले। इस समय की अपनी आवाज़ तथा पैर पटकने की बात उसके कानों में पड़ी तो वह थोड़ा हड़बड़ाकर होश में आया। बाद में उसके मन में आया कि जो कुछ मैं बोल गया, वह मेरे शिष्यों में से किसी ने सुन तो नहीं लिया? सुना होगा तो वे क्या कहेंगे? वे सोचेंगे कि उनके गुरु का मस्तिष्क बिगड़ गया है अथवा उनके मनोनुकूल कोई बात न होने के कारण सन्तप्त हो रहे हैं। इसलिए मुझे अब शान्त होकर सोना चाहिए। चाणक्य ने सोने की बात सोची तो अवश्य, पर उसके सन्तप्त हृदय में नींद कहाँ? एकदम अरुणोदय होने तक उसे नींद न आई। उसके नेत्र एकदम लाल हो गए थे जैसे प्रात: सूर्य ने अपनी लालिमा उसकी आँखों में उतार दी हो। अन्तर सिर्फ यही था कि प्रात: सूर्य सौम्य होता है, पर चाणक्य के नेत्र रौद्रतम रूप में दिखाई दे रहे थे।

तेरहवाँ परिच्छेद
स्वर्णपात्र में लड्डू

चन्द्रगुप्त जब से मुरा के पास रहने आया, तब से मुरा की स्थिति कुछ चमत्कारपूर्ण हो गई। चन्द्रगुप्त के प्रथम दर्शन से ही मुरा कुछ खिन्न हो गई। मेरे भाई का लड़का इतना सुन्दर, शूर और गुणी है, यह देख उसे बहुत आनन्द हुआ। और जब इसके मन में यह विचार आता कि यदि मेरा पुत्र आज जीवित होता तो वह भी आज इतना ही बड़ा, सुन्दर, तेजस्वी, शूर और गुणी होता। यही सोच वह बार-बार खिन्न हो उठती। उसने चन्द्रगुप्त को राज-दर्शन करवाया। उस समय "महाराज, यह मेरे भाई प्रद्युम्नदेव का लड़का है, इसे चार दिन मेरे पास रहने के लिए मेरे भाई और माँ ने भेजा है। आपकी अनुमति हो तो इसे रख लूँ।" ऐसा वह महाराज से बोली। तब उसका कण्ठ अत्यन्त गद्‌गद हो उठा। आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। महाराज ने पूछा, "इसमें रोने की क्या बात है?" यह सुन उसका शोक और भी बढ़ गया, और वह और भी ज़ोर से सिसकने लगी। धनानन्द ने उससे बहुत पूछा, पर उसने उत्तर न दिया। अन्त में राजा के बहुत आग्रह करने पर वह बोली–"आर्यपुत्र! मैं कैसे कहूँ? जिस बात को आपने भूल जाने के लिए कहा, वह बात मैं मुँह से कैसे निकालूँ? पर आपकी आज्ञा होने के कारण कहती हूँ। पुत्र का स्मरण माता को न होगा तो किसे होगा? इस चन्द्रगुप्त को देख मुझे यह बात याद आई कि मेरा पुत्र भी आज इतना ही..." परन्तु आगे उसके मुख से शब्द नहीं निकले। आँसू तो इतने बहे कि राजा का कन्धा और उदर भीग गया। राजा ने उसे बहुत समझाया और अन्त में थोड़ा हँसता हुआ बोला–"प्रिय मुरे! चन्द्रगुप्त यहाँ रहेगा तो इसी तरह तुझे शोक होगा। इसे देख तुझे गत बातों का स्मरण होगा। इससे अच्छा तो तू इसे दो दिन बाद वापस भेज दे। तुझे और अधिक दु:ख मैं नहीं देना चाहता। और तू इसी तरह गत बात का स्मरण कर शोक करने लगेगी तो कैसे काम चलेगा?"

"नहीं, नहीं, आर्यपुत्र!" मुरादेवी महाराज के कन्धे पर से अपना सिर उठाकर बोली–"मैं अपना यह शोक बन्द करती हूँ। चन्द्रगुप्त को मैंने आज प्रथम बार देखा इसलिए मुझे इतना शोक हुआ। परन्तु अब कभी शोक न होगा। इसे मेरे भैया ने भेजा है, इसे यहाँ चार दिन रहने दें, ऐसी मेरी विनती है?"

"चार दिन?" धनानन्द तुरन्त उससे बोला–"चार दिन क्यों? तेरी जितने दिन इच्छा हो, अपने पास रख। चार ही दिन क्यों कहती है? चाहिए तो उसे अधिकार भी दे दूँ। मतलब कि वह भी मेरे सुमाल्य के साथ कुछ राज्य-कार्य सीख ले। क्यों रे चन्द्रगुप्त! सीखेगा कि नहीं?"

यह सुन चन्द्रगुप्त किंचित् लज्जित हुआ और नम्रता से बोला–"महाराज का अनुग्रह होने पर अपने को धन्य न माने, ऐसा आर्यावर्त में कौन है?" उत्तर सुन राजा बहुत आनन्दित

हुआ। और बोला–"शाबाश, तू बड़ा वाक्-चतुर भी दीखता है, मेरे सुमाल्य के साथ तू अच्छा शोभेगा। ठहर जा, उसके पास तुझे भेजता हूँ।"

"नहीं, नहीं आर्यपुत्र!" मुरादेवी बीच ही में बोली–"आज ही यह आया है। आज न भेजा तो कोई हर्ज़ न होगा। सुमाल्य नित्य की तरह आपके दर्शन के लिए आयेंगे, तब उनकी और इसकी भेंट समक्ष ही करा दीजियेगा। बस, तभी ठीक रहेगा।"

मुरादेवी जब बोल रही थी उस समय राजा के नेत्र एकटक चन्द्रगुप्त की ओर लगे थे। उसका सुन्दर चेहरा देख उसके मन में कुछ विचार आया और वह मुरादेवी से बोला–"प्रिय मुरे! मैं जब से इस सुन्दर मुख की ओर देख रहा हूँ तब से मेरे मन में इसके प्रति विलक्षण वात्सल्य उत्पन्न होता जा रहा है। प्रथम ही दर्शन में इतना वात्सल्य क्यों उत्पन्न होने लगा, जब मैंने यह बात सोची तो समाधान बहुत जल्दी और बहुत पास ही मिल गया।"

"वह क्या महाराज!" मुरादेवी ने तुरन्त उत्सुकता और कौतुक के साथ पूछा।

"अरे, तेरे और इसके चेहरे में विलक्षण साम्य है! तू ही देख, इसके मुख पर की प्रत्येक रेखा तथा बनावट हूबहू तेरे मुख कमल के समान है। चन्द्रगुप्त, भाई तू आते ही ऐसी चोरियाँ करने लगा तो मैं तेरे रहने की अनुमति नहीं दे सकता" महाराज विनोद कर रहे हैं, यह मुरा समझ गई। पर वह ऐसे घबराकर बोली जैसे समझी ही न हो–"चन्द्रगुप्त वत्स, तूने क्या किया? किसका क्या चुराया?" फिर महाराज की ओर देखकर बोली–"महाराज, इसने किसका क्या चुराया? मुझे तो ऐसा नहीं मालूम होता कि यह ऐसा–"

धनानन्द ने एकदम बीच ही में चन्द्रगुप्त की ओर आँख मारी, परन्तु मुरा की ओर गम्भीरता से देखता हुआ बोला–"अरे, नहीं कैसे? जिसका मैं स्वामी हूँ ऐसी वस्तु इसने चुराई। खैर, चुराई तो चुराई; पर वह चीज़ लेकर अकड़ता हुआ मेरे सामने भी आ खड़ा हुआ। इसलिए अब इसको उसका कठिन दण्ड देना चाहिए। तेरा भतीजा है, इसलिए इसे क्षमा नहीं किया जा सकता। वाह रे चन्द्रगुप्त, ऐसा है क्या तू?"

इतनी देर तक तो मुरादेवी को यह विनोद-सा मालूम हो रहा था, पर अब तो उसे पूरा विश्वास हो गया कि महाराज विनोद नहीं कर रहे हैं। उसे जितना ही विश्वास हुआ उतना ही उसने अपनी मुद्रा घबराहट की बना ली और एकदम खड़ी हो महाराज के सामने हाथ जोड़कर बोली–"महाराज, उसे अभी यहाँ आये चार घण्टे भी नहीं हुए इसलिए उसे दण्ड आदि न दें। जो कुछ अपराध उसने किया हो तो आप क्षमा करें। उसने जो कुछ लिया है उसे आपके चरणों पर रखने के लिए इसे कह दूँगी। आप उसे क्षमा कर दें।'

"नहीं, नहीं," राजा धनानन्द और भी अधिक निष्ठुरता का भाव बना बोला–"इसका अपराध क्षमा करने योग्य नहीं है। किसी दूसरे की वस्तु इसने चुराई होती तो मैं क्षमा भी कर देता, परन्तु मेरी ही चीज़ लेकर मेरे ही सामने आकर खड़ा होता है। अगर यह इतना ढीठ है तो इसे इसका दण्ड क्यों न दिया जाये? में उसी समय अपनी चीज़ पहचान लूँगा, इसका डर भी इसे नहीं है? चन्द्रगुप्त बोल..."

अन्त में राजा ने चन्द्रगुप्त को जो बुलाया तो वह अत्यन्त कठोर वाणी में आवाज़ सुन घबरा गया। इसके चढ़े हुए नेत्रों से कुछ क्रोध और कुछ आश्चर्य प्रगट होने लगा और वह इस

तरह खड़ा हो गया, जैसे युद्ध के लिए उद्यत हो। उसी तरह मुरादेवी ने भी एकदम घबराने का भाव बनाया और बोली–"नहीं, नहीं।" इन दोनों की यह स्थिति देख राजा को बहुत हँसी आई और वह अपनी प्रिय पत्नी से बोला–"अरे पगली, एक शीशा लाकर देख तू अपने मुख की ओर तथा उसके मुख की भी ओर। फिर तुझे मालूम हो जायेगा कि वह मेरी वस्तु की चोरी कर अपने चेहरे पर ले आया है। तेरा यह अलौकिक सौन्दर्य इसने ले लिया है, देख! और तेरे सौन्दर्य का स्वामी कौन है? फिर इसने मेरी वस्तु चुराई या नहीं? इसने चुराई है इसके लिए और भी प्रमाण चाहिए क्या? क्यों रे चोर? तू अपना अपराध स्वीकार करता है या नहीं? तूने मेरी मुरा का सौन्दर्य चुराया है या नहीं?" यह सुन मुरा ज़ोर से हँस उठी और साँस खींचकर बोली–"अरे, मैं तो घबरा गई थी। मुझे तो विश्वास था ही कि यह ऐसा काम नहीं कर सकता; पर आपकी गम्भीर मुद्रा देख मेरा कलेजा काँप उठा!"

"कुछ भी हो, पर देख जैसा मैंने कहा था, वह सत्य है या नहीं? प्रिय मुरे! अभी यह बालक है इसलिए कुछ फर्क तो होगा ही। परन्तु जब शुरू में तू इसकी उम्र की थी तब यहाँ आई भी तो ऐसी ही दीखती थी! मुझे तेरा वह रूप याद आ गया, बहुत साम्य है तेरे और इसके चेहरे में। यह बहुत ही भाग्यशाली निकलेगा। इसकी सामुद्रिक रेखाएँ ही ऐसी हैं।"

"अलाएँ-बलाएँ टलें, यह मेरी तरह भाग्यशाली न हो, बस....."

"क्यों तेरा भाग्य क्या बुरा है?" राजा बीच में ही उससे बोला, और उसकी ओर देखकर हँसने लगा।

"आर्यपुत्र! अगर आपको क्रोध न आये तो मैं बता दूँ कि आपके इस हँसने में ही इस बात का उत्तर है।"

इसी प्रकार और भी विनोदपूर्ण तथा अन्य प्रकार की बातें हुईं और राजा ने चन्द्रगुप्त को मुरा के पास रहने की आज्ञा दे दी।

प्रथम भेंट का समारम्भ तो जैसा मुझे चाहिए था उससे भी अधिक अनुकूल हुआ, यह सोचकर मुरा प्रसन्न हुई तथा उसने उसी संध्या को चन्द्रगुप्त के रहने का उत्तम प्रबन्ध अपने ही मन्दिर में कर दिया। सिर्फ उसके खाने-पीने की चीज़ें वह स्वयं देखती। उसने चन्द्रगुप्त को खूब अच्छी तरह समझा दिया कि यदि एक घूँट भी पानी पीना हो तो बिना मुझे दिखाए मत पीना अथवा कोई भी किसी प्रकार की चीज़ खाने को दे तो मत खाना। इस पाटलिपुत्र की स्थिति बहुत खराब है। कब क्या हो जाये, इसका कोई ठिकाना नहीं। मेरी बुआ ने मुझे इस तरह क्यों समझा कर ऐसी बातें कहीं, यह चन्द्रगुप्त की समझ में न आया। परन्तु फिर भी चाणक्य ने उसे जो आज्ञा-पालन की आदत डलवा दी थी, इसीलिए उसने 'ऐसा क्यों, वैसा क्यों' यह सब न पूछते हुए "आज्ञा का पालन करूँगा।" ऐसा वचन दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की, नन्द के राज्य पाटलिपुत्र में, रानी के ही मंदिर में स्थापना हो गई।

इस बात को पाँच दिन हुए। एक दिन रानी मुरा महाराज के पास बैठी थी। इतने में उसकी एक दासी उससे आकर बोली–"देवि! पटरानी सुन्दरबाई के पास से एक परिचारिका महाराज के लिए सुवर्ण का पात्र और पत्रिका लेकर आई है। "हमारे पास दे दे, हम पहुँचा देंगे," यह कहने पर वह बोली–"महाराज के सामने मैं स्वयं ले जाकर रखूँ, यही

महादेवी की आज्ञा है, नहीं तो वापस चली जाऊँ।" वह बाहर खड़ी है। आगे जैसी आपकी आज्ञा।"

यह सुनकर मुरादेवी एकदम उसके पास आकर बोली–"हाँ मूर्खे, उसे न आने देने के लिए तुमसे किसने कहा था? हज़ार बार तुम लोगों को समझाया कि अन्य रानियों में से अगर किसी की परिचारिका कुछ भी लेकर आये तो उसे 'न' कहकर न लौटाना। एकदम बेधड़क चली आने देना। मेरे समान दु:ख अन्य किसी को इसके आगे न मिलने पाये। जैसी मैं महाराज की पत्नी हूँ। वैसे क्या वे सब नहीं हैं? जा, उससे कह, जो कुछ हो महाराज को लाकर अर्पण कर जाये। उसे कोई नहीं रोकेगा। जा, जा, मुँह क्या देखती है? उसे ले आ।"

यह सुन राजा धनानन्द बोला–"उस दासी के अन्दर आने की क्या ज़रूरत? जो कुछ वह लाई हो वह अन्दर ले आओ, बस।" परन्तु मुरादेवी पुनः राजा से बोली–"महाराज, यह नहीं होगा। यदि उसकी स्वामिनी की यही आज्ञा है कि वही आपके चरणों के पास जो कुछ हो आकर रख जाये, तो हम क्यों उसे आज्ञाभंग के लिए बाध्य करें? आपके चरणों के पास आकर रखा जायेगी, बेचारी ! जा, जा, उससे कह, जो कुछ लाई हो, लेकर आये। महाराज राह देख रहे हैं।"

दासी बाहर गई और थोड़ी देर में एक अन्य दासी को अन्दर लेकर आई। इस दासी के हाथ में एक सुवर्ण-पात्र था और एक पत्र। अन्दर आते ही उसने वे चीज़ें महाराज के चरणों के पास रखीं और बोली–"महाराज! महादेवी सुनन्दा ने कहा कि महाराज यह पत्र पढ़ें और सुवर्ण-पात्र में रखा प्रसाद ग्रहण करें। कोई उत्तर वापस ले जाना हो तो मुझे रुकने के लिए कहा है। आगे जैसी महाराज की आज्ञा।"

"परिचारिके! यह पत्रिका और पात्र दोनों वापस ले जा। अभी चार ही दिन पूर्व मैं उससे मिलने गया था। वह कैसी पत्रिका और कैसा प्रसाद भेजती है? तुम दासियों में भी कुछ अक़्ल नहीं है। जा, एक क्षण भी यहाँ खड़ी न रह। उससे कहना कि जब मैं उससे मिलने आऊँगा तब यह पत्रिका तथा अन्य जो कुछ भी होगा, लूँगा। स्त्रियाँ कितनी मत्सर-पूर्ण होती हैं!"

"महाराज!" मुरादेवी बीच ही में बोली–"पटरानी सुनन्दा का आप इस प्रकार क्यों अपमान करते हैं? पत्रिका लेकर पढ़ी तो जाये। अगर कोई उत्सुकता और प्रेम से कोई चीज़ भेजे, और उस चीज़ को वापस कर दिया जाये तो उससे भेजने वाले को कितना दु:ख होगा? इसलिए मेरी आप से हाथ जोड़कर विनती है कि आप महादेवी की पत्रिका और प्रसाद का इस तरह अपमान न करें। मैं वह पत्रिका खोलकर आपको पढ़कर सुनाती हूँ।"

"प्रिय मुरे! तू ही कैसी इतनी निर्मत्सर और निर्द्वेष हो गई है। सो भी सपत्नियों से निर्मत्सरता! वे सब तेरे साथ इतना मत्सर करती हैं और तू–मैं जब से तेरे रंगमहल में आया तब से देख रहा हूँ–तू उन्हीं का पक्ष लेकर लड़ती है। इसे क्या कहा जाये? तुझे तो सदा उनसे द्वेष करते रहना चाहिए था। पर यह क्या?"

यह सुन मुरा हँसी और बोली–"महाराज, बिना अपराध पति के छोड़ देने पर स्त्री को कितना दु:ख होता है, इसका मुझे अनुभव है, इसलिए मैं स्वप्न में भी नहीं सोचती कि किसी

को मेरे दुःख झेलने पड़ें। फिर मैं सुनन्दादेवी जैसी साध्वी देवी के साथ कैसे द्वेष कर सकती हूँ? कभी नहीं कर सकती। मेरा लक्ष्य ही नहीं, और क्या कहूँ?"

मुरादेवी की बातें सुनन्दा की परिचारिका बड़े आश्चर्य के साथ सुन रही थी। महाराज भी उसी की तरह मुरा की ओर देख रहे थे। उनके देखने में आदर का भी मिश्रण था। उस अन्तिम बात ने तो बहुत काम किया। धनानन्द को पूरी तरह से विश्वास हो गया कि मुरा के समान सुशील, सच्चरित्र, शुद्ध और निष्कपट स्त्री बहुत कम होगी और यह कि मुरा के समान स्त्री का मिलना ही अशक्य है। उसके बोलने के बाद वह कुछ देर उसकी ओर शान्ति से देखता रहा, फिर सुनन्दा की परिचारिका की ओर देखकर बोला–"परिचारिके, तू अपनी स्वामिनी से कहना कि महाराज वह पत्रिका, और पात्र वापस ही कर रहे थे, परन्तु मुरादेवी ने तुम्हारा पक्ष लिया–जिस मुरादेवी से तुम लोगों ने इतना द्वेष किया, उसे बिना कारण जग से उठाने का प्रयत्न किया–उस मुरादेवी ने तुम्हारा पक्ष लिया। इसीलिए वह पात्र और पत्रिका उसने लेकर रख ली। जा, उस पत्रिका का इतना ही जवाब है, दूसरा कोई भी उत्तर नहीं।"

महाराज की बात सुन वह दोनों चीज़ों को महाराज के चरणों के पास रख चलती बनी। केवल जाते समय उसने मुरादेवी की ओर एकदम आश्चर्य की दृष्टि से देखा।

इधर मुरादेवी ने वह पत्रिका महाराज के हाथ से ले उसे देखते-देखते कहा–"आर्यपुत्र! आप इसे स्वयं पढ़ेंगे कि मैं आपको पढ़कर सुनाऊँ? मेरी पत्रिका को अगर आपने न पढ़ा होता और ऐसे ही वापस कर दिया होता तो कितना दुःख हुआ होता मुझे। वैसा ही उन्हें भी बुरा लगेगा। इसीलिए मैं आपसे कहती हूँ कि आप वैसा न करें। मैं पढ़ती हूँ।"

ऐसा कह जब मुरादेवी वह पत्रिका खोलने लगी तो महाराज ने उसके हाथ से पत्रिका छीनते हुए कहा–"छिः, छिः, तू उसे खोलकर मत पढ़। न जाने तेरे विरुद्ध क्या-क्या लिखकर मुझे उकसाने की कोशिश की होगी। मैं ही देखता हूँ।"

"अच्छा, तब तक मैं यह स्वर्णपात्र खोलकर देखती हूँ, इसमें क्या है?" यह कह कर उसने वह पात्र खोला। तब अन्दर सुन्दर रीति से बनाये हुए लड्डू दीखे। महाराज उधर पढ़ रहे थे। पत्रिका में लिखा मज़मून बहुत थोड़ा था, इसलिए महाराज उसे एक ही क्षण में पढ़कर बोले–"कुछ नहीं। कल महादेवी ने कोई व्रत किया था, उसी व्रत के प्रसाद के चार लड्डू भेजे हैं। ये लड्डू उसने स्वयं अपने हाथों से बनाये हैं। इसलिए मैं इस प्रसाद में से एक टुकड़ा तो अवश्य खाऊँ ऐसा उसका अनुरोध है। प्रिय मुरे! यह कैलाशनाथ का प्रसाद है, इसका अनादर नहीं किया जा सकता। आ, मैं और तू दोनों एक-एक टुकड़ा खायें।"

ऐसा कह राजा ने पात्र में हाथ डाल एक लड्डू निकाला और उसका एक टुकड़ा तोड़कर मुरा के हाथ पर रख दिया और दूसरा लेकर वह अपने मुख में रखने ही वाला था कि इतने में मुरादेवी एकदम, "महाराज धोखा है, कुछ धोखा है, आप न खायें।" ऐसा वह घबराई आवाज़ में बोली और इनका हाथ नीचे खींच लिया।

राजा चकित हो, "क्या? कहती क्या है? कैसा धोखा?" यह पूछने लगा। तब वह घबराती हुई बोली–"आप की जान को धोखा है और कैसा धोखा? इस लड्डू में विष है। मैं

अपनी बात प्रत्यक्ष करके दिखलाती हूँ।”

ऐसा कह उसने अपनी एक दासी से तुरन्त कहा–“मेरी उस श्वेताम्बरी बिल्ली को ले आ।”

चौदहवाँ परिच्छेद

बिल्ली की मृत्यु

जब तक दासी श्वेताम्बरी को लाये तब तक की मुरा की मुद्रा देखने योग्य थी। जैसे एक प्रेममयी माता अपने वत्स का बहुत जागरूक हो पालन कर रही हो और एकदम आकस्मिक रूप में उसे वत्स के ऊपर भयंकर संकट देखती है और उसका मन फ़क़ हो जाता है तथा वह सोचने लगती है कि अब क्या किया जाये और क्या न किया जाये, यही दशा इस समय मुरादेवी की थी। जिस तरह जननी संकट आने पर अपने बच्चे को पीछे कर स्वयं आगे हो उसके कष्ट निवारण के लिए उग्र रूप धारण करती है, ऐसी ही दशा मुरा की हुई। लड्डू के पात्र और राजा के बीच स्वयं हो उसने पात्र ढाँककर रख दिया। जाने क्यों, राजा उसमें से एकाध टुकड़ा निकाल कर खा लेगा, ऐसा उसे भय मालूम होता हुआ दिखाई दिया।

राजा उसका स्वरूप देख बहुत विस्मित हुआ। यह 'धोखा', 'धोखा' कह रही है और इसने अपनी श्वेताम्बरी बिल्ली को लाने के लिए कहा है, इसका क्या कारण है, यह सब-कुछ राजा की समझ में न आया। उसने कई बार "क्या? क्या?" करके पूछा। परन्तु अत्यन्त भ्रान्तचित्त मनुष्य के समान वह किसी प्रश्न का उत्तर न देते हुए उस पात्र और राजा के मध्य में अपना हाथ रख क्रोधित नेत्रों से उस लड्डू की ओर देख रही थी। इतने में दासी श्वेताम्बरी को ले आई। उसे देखते ही मुरादेवी हँसते हुए बोली–"हाँ, अच्छा हुआ ले आई; ला इधर।" उस बिल्ली को उसने ले लिया और एकदम खिन्न स्वर में बोली–"वत्स, श्वेताम्बरी, आज तक मैंने इन्हीं हाथों से तुझे दूध पिलाया, प्रेम बढ़ाया, पर आज इन्हीं से तुझे विष देकर तेरी जान लूँगी। समझी? बिना तेरी जान लिये यह विश्वास नहीं हो सकता कि इसमें विष है। यह विश्वास हो जाना चहिए जिससे आगे सावधानी बरती जाये।" यह सब बातें तो वह स्वगत बोल रही थी–पर धीरे से नहीं, काफी ज़ोर से। राजा ने उसकी बात सुन वह लड्डू का टुकड़ा बिल्ली के सामने फेंक दिया। पर क्या चमत्कार! वह टुकड़ा बिल्ली ने खाया नहीं, सिर्फ सूँघकर ही अलग हो गई। तब मुरादेवी, "हँ, हँ। तुझे भी यह बात समझ में आ गई कि इसमें विष है, अयँ? पर इतने से मेरा विश्वास नहीं होगा, अगर तू नहीं खाएगी तो तेरे मुँह में खोलकर डाल दूँगी, तब सब स्थिति समझ में आ जाएगी।" ऐसा उसने कहा और तुरन्त वह टुकड़ा उसके मुँह में घुसेड़ दिया। बिल्ली ने क्रोधित हो अपने नाखून बाहर निकाल लिए और पूँछ उछालने लगी। परन्तु दृढ़निश्चयी मुरा ने उधर ध्यान नहीं दिया। उसने उसका मुँह दबाकर पकड़ लिया। बिल्ली ने मुरा के हाथ को नोच लिया, उसके कोमल हाथ से खून बहने लगा, पर उसने बिल्ली का मुँह न छोड़ा। राजा ने उसे कहा–"यह क्या? यह क्या? उसे छोड़ दे।" परन्तु उसने उसे छोड़ा नहीं। बिल्ली का नाखून

चलाने का काम जारी ही था। मुरा के कुहनी तक का भाग रक्त से लाल हो गया। परन्तु उसने उस तरफ ध्यान न दिया। जब मुरा को निश्चय हो गया कि इसने थोड़ा लड्डू खा लिया है तो उसने उसे छोड़ दिया। बिल्ली ने छूटते ही शेषांश उगल दिया और भगी। पर अभी 15-20 हाथ भी न जाने पायी थी कि तड़फड़ाने लगी। जब वह छटपटाने लगी तब मुरा धनानन्द से बोली–"देखिए, महाराज, अब वह कितनी विकल हो गई? अब घंटे भर में वह गिरकर मर जाएगी, इसमें कोई शंका नहीं। आप यह चमत्कार देखें। ऐसा विष मिलाकर स्वर्ण पात्र में लड्डू आपको खाने के लिए भेजने वाले का साहस तो देखिए–साहस नहीं तो मूर्खता ही देखिए। पर उन्हें शायद इस मुरा की याद न रही जो महाराज की रक्षा के हेतु आँखों में तेल डाले यहाँ बैठी है। अगर मुरा जागृत न होती तो पता नहीं, कभी वह अपना काम कर चुकी होती। देखिए महाराज, आपकी पटरानी के लड्डू ने मेरी बिल्ली की क्या दिशा की! अरे, कितना कड़ा विष! देखिए, इस बिल्ली की क्या अवस्था हो रही है, आँखें भयंकर हो गई हैं, शरीर काला पड़ गया है। देखिए, उसकी साँसें किस कठिनाई से आ रही हैं। उस लड्डू का सेवन करने वाले की यही दशा होने वाली थी। ठीक-ठीक, राज्य-लोभ से और अधिकार-लोभ से तथा मत्सर के जोश में यह मंडली क्या-क्या करने को उद्यत होगी, कुछ कहा नहीं जा सकता।" ऐसा बोल मुरादेवी महाराज की ओर अत्यन्त उद्विग्न दृष्टि से देखने लगी। इतने में वह बिल्ली मर गई। उसके खुले नेत्र भयंकर दीख रहे थे और सारा शरीर तथा होठ कोयले की तरह काले हो गए। यह देखते ही धनानन्द सन्तप्त हो बोला–"अरे, चण्डालिनी! तू मेरी जान लेने पर तुल गयी थी ?"

विष के लड्डू बना उन्हें स्वर्णपात्र में रख मेरी ही जान लेने को भेजा? और साथ में अपने ही हाथों चिट्ठी लिखकर। वाह! अब तुझे क्षणभर भी तेरे ऐश्वर्य पर कैसे रखता हूँ, देख तुझे तेरे अन्त:पुर में गर्दन पर उल्टा बिठाकर तेरे शरीर को कुत्तों और भेड़ियों से नुचवा दूँगा। मेरे सुमाल्य की माता होने के नाते तुझे ऐसी शिक्षा न दी जाये, पर नहीं, तू मेरे प्राण लेने पर तैयार हो गई, फिर, फिर कैसी रियायत? तू कल अपना स्वयं का कार्य निकालने के लिए अपने पुत्र ही की जान लेने को उद्यत होगी। कुछ नहीं, तुझे अच्छा दण्ड देना चाहिए... ।"

मुरादेवी उससे बीच ही में बोली–"महाराज, इस प्रकार इतने क्षुब्ध न हों। महादेवी ने ही यह सब कुछ किया, यह कहने का क्या आधार है?" यह बोलते समय मुरा का भाव देखने-योग्य था। जिस प्रकार दुष्ट मनुष्य और भी विष बढ़ाने के लिए विरोधी पक्ष लेकर बोलते हैं, वैसी ही दशा मुरा की थी। परन्तु राजा को वह दीखा नहीं। वह एकदम बोला–"क्या आधार है? इसी पात्र के लड्डू का एक टुकड़ा खाकर-बल्कि पूरी तरह खाकर भी नहीं, मात्र उससे निकले रस से मरी बिल्ली मैंने देखी। फिर और आधार क्या चाहिए? मैं स्वयं खाकर मरूँ और आधार देखूँ क्या ?"

"महाराज, इस तरह क्रोध से उतावले न हों!" मुरादेवी अत्यन्त शान्त व दृढ़ आवाज़ में बोली–"उतावली करने से कोई काम नहीं होता। मेरे सम्बन्ध में जो आपने उतावली की थी, उस उतावली का क्या उपयोग हुआ? ऐसा पुत्र चला गया जो युवराज होकर आपको आज राजकार्य में मदद दे सकता था। किसी ने आपकी जान लेनी चाही तो वह सफल नहीं हुआ

न? कृष्ण सर्पिणी की तरह जागृत मुरा क्या कभी ऐसा होने देगी? जब कुछ हुआ ही नहीं, तो आप उतावली क्यों करते हैं? शान्त चित्त से विचार करें, खोज करें और तब जिसको जो दण्ड देना हो, दें।"

धनानन्द हँसकर उससे बोला–"दूध का जला छाछ को फूंक-फूंक कर पिये, तू यह कहने वालों में से है। पागल कहीं की? विचार और खोज कैसी? मेरे देखते उसकी दासी स्वर्ण-पात्र और पत्र लेकर आती है। मैं वह पत्र पढ़ता हूँ। उसने लड्डू मेरे लिए भेजे हैं, यह लिखा है– मुझे देने के लिए तो बनाये ही थे–उस लड्डू में का टुकड़ा मैं अपने हाथों तुझे देता हूँ। वही टुकड़ा तू उस बिल्ली को खिलाती है और बिल्ली मेरे देखते ही मरती है! तो अब विचार क्या करूँ, और खोज क्या करूँ?

मुरादेवी उसकी यह बात सुन हँसी और बोली–"महाराज, जिस सपत्नी ने मेरा इतना मत्सर किया उसकी बुरी अवस्था में देख मुझे प्रसन्नता होती होगी, ऐसा आप सोचते होंगे। पर मुझे ज़रा भी खुशी नहीं है। वह यथार्थ निपराध होगी तो शीघ्रता से उसे दण्ड देना कितना बुरा होगा? इसीलिए मैं आपसे सब कुछ सोच-समझ कर करने के लिए कहती हूँ। कहीं बाद में अविचार के लिए पछताना न पड़े।"

"किन्तु प्रिये, इसमें शंका ही कौन-सी, तू ही बता!"

"क्यों, शंका क्यों नहीं महाराज?" मुरा कपट दृष्टि का एक कटाक्ष फेंककर बोली–"देखिए, कितनी शंकायें हैं। महादेवी ने कोई व्रत किया आज ? किया होगा, तो भी उस समय क्या लड्डू ही प्रसाद के रूप में बनाये थे? बनाये भी होंगे, तो क्या अपने ही हाथों? उसने ही वे लड्डू स्वर्ण पात्र में भरे क्या? उस पात्र के साथ वाली पत्रिका उसी ने लिखी है क्या? रास्ते में किसी ने पात्र में से लड्डू निकाल कर विष के लड्डू तो नहीं रख दिये? किसी ने देवी का झूठा नाम लेकर यह काण्ड किया हो और उन्हें फँसाने का प्रयत्न किया हो, यह हम कैसे नहीं कह सकते? एक नहीं, दो बल्कि हज़ारों शंकायें करने योग्य हैं। अधिक तो क्या? मैंने ही तो पहले से उस बिल्ली को विष नहीं खिला रखा था और आपके सम्मुख यह सब बहानेबाज़ी की? यह सोचने योग्य बात है। इन सब खोजों के पहले ही यदि आप कोई दण्ड और सो भी पटरानी महादेवी–युवराज माता को देंगे, तो लोग यही समझेंगे कि यह सब मैंने ही करवाया है। आपको कौन क्या कहेगा? चार दिन जब तक आपकी मुझ पर कृपा है तब तक कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, परन्तु कालान्तर के कारण यदि आपकी दृष्टि मुझ पर से फिर गई तब मेरे प्राण भी लेने के लिए सब तैयार हो जायेंगे। आप अपनी रक्षा करने में समर्थ ही हैं।" इतना कह मुरा विषण्ण नेत्रों से राजा की ओर देखने लगी।

राजा उसकी बात सुन ज़ोर से हँसा और बोला–"प्रिय मुरे! तू बहुत डरपोक हो गई है। मेरा प्रेम तुझ पर से कम होकर दूसरे पर जायेगा? क्या तुझे ऐसा सचमुच मालूम होता है? छिः, छिः! ऐसा कभी नहीं हो सकता और मुझे देखने तो दे, कौन तेरा बाल बाँका करने का साहस करता है। तुम्हारी सब बातें व्यर्थ हैं। मुझे उस दुष्ट चण्डालिनी को जो कुछ दण्ड देना होगा, आज्ञा भेज देता हूँ। ऐसे न्याय के काम में देर करनी उचित नहीं। मैं अपनी पत्नी को भी, युवराज की माता को भी, क्षमा करने वाला नहीं हूँ। मैं कितना न्याय-निष्ठुर हूँ, यह

प्रजा को मालूम होना चाहिए। वैसा न करते हुए यदि चुपचाप बैठ रहा, तो अच्छा नहीं।”

“महाराज”, मुरादेवी हाथ जोड़कर बोली–“नहीं, ऐसा न करें। आज तक आपने मेरी बात मानी, इसलिए इस प्रसंग पर भी मेरी बात मान लें। इससे आपको वास्तविक बात मालूम हो जायेगी। महादेवी ऐसा नहीं कर सकती, यह मेरे मन की आवाज़ है। इसका कर्ता कोई दूसरा ही है... ।”

“यह कौन?” धनानन्द ने बीच ही में आश्चर्य से उससे पूछा। उस पर वह पुनः बोली–“कौन है, यह तो मैं भी अभी नहीं कह सकती। परन्तु आप अगर दो दिन शान्ति से बैठकर मामले को न उठायें, तो सब बात निकल सकती है। जो मुझे नहीं चाहते उन्हीं लोगों का यह काम है। आप मेरे महल में हैं, ऐसी अवस्था में यहाँ जो कुछ दुर्घटना होगी, उसका दोषी मुझे ही ठहराने में कितनी देर? ‘मैंने यह अपराध नहीं किया है’–ऐसा कितनी ही बार मैं कहूँ तो कौन भरोसा करता है? इसलिए जिन्होंने व्यूह रचा होगा, वे इसी प्रतीक्षा में होंगे कि देखें क्या होता है? आप बुरी तरह बीमार होने का बहाना करें तथा मैं यह प्रसिद्ध किये देती हूँ कि जब से महाराज ने लड्डू खाया तभी से उनकी दशा बुरी है। पेट में ज़ोरों से दर्द होता है, शरीर में आग जैसी लगी हुई प्रतीत होती है। फिर वह अपराधी-मण्डल और भी ढीठ हो जायेगा और वह पूछताछ का काम अधिकाधिक पास आ करने लगेगा। फिर हमारा खोज का काम आसान-सा हो जायेगा। यह बिल्ली मुझे बहुत प्रिय थी, यह तो आपको मालूम ही है! अस्तु, आप बहाना करके पड़े रहें। मैं बिल्ली को बाहर लेकर चली जाती हूँ और वहाँ बाहर से पता लगाऊँगी कि कौन-कौन मेरे महल की ख़बर लेने के लिए व्यग्र हैं।” राजा ने जल्दी से आने को कह उसकी बात का अनुमोदन किया। उसने एक दासी से बिल्ली का शव उठवाया और स्वत: वह स्वर्ण का पात्र तथा लड्डू उठा लिए। महादेवी का पत्र तो उसने कभी का ले लिया था। वह लाश बाहर ले जाने के बाद मुरा उसकी ओर देखकर बोली–“श्वेताम्बरी, तूने आज मेरा कितना काम किया!”

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

चाणक्य के प्रयत्न

चन्द्रगुप्त को मुरादेवी के मन्दिर में छोड़ चाणक्य ने जो काम आरम्भ किया, वह यह खोज करना था कि पाटलिपुत्र में किसका किससे वैमनस्य है और किसका किससे वैमनस्य कराया जा सकता है? इस बात का तो इसे पूर्ण विश्वास था कि मुरा राजा को अपने बन्धन से, बिना उसको डुबाये नहीं छोड़ सकती। चाणक्य के पास कुछ मुरा का वैर-भाव जाग्रत करने और उसके कार्य में शिथिलता न आने देने के लिए रामबाण था। इस रामबाण का उपयोग उसने अवसर पर करने का निश्चय किया। जब तक राक्षस सब कार्य-भार सँभाले हुए है तब तक धनानन्द इसी प्रकार निद्रित रहेगा ही, क्योंकि राक्षस पर राजा का पूर्ण विश्वास था और राक्षस विश्वास योग्य था भी। नन्दराज के हित के लिए हमेशा जाग्रत रहने वाला यदि कोई था तो केवल राक्षस ही। राजा को यह पूर्ण निश्चय था कि राक्षस जो कुछ करेगा, वह अच्छा होगा। मुरा के महल में जब से राजा गया तब से किसी दूसरे को राजा का दर्शन करने को न मिलता इसलिए लोगों का मत्सर राक्षस के प्रति जाग्रत हो गया, यह चाणक्य को स्पष्ट प्रतीत हुआ। यह देखकर चाणक्य को बहुत आनन्द हुआ। राक्षस बहुत स्वामिनिष्ठ था; वह अपने लाभ की ओर ज़रा भी नहीं देखता था। लोगों में यह बात प्रसिद्ध थी कि राक्षस जो कुछ करता है महाराज के भले ही के लिए। परन्तु जो कार्य महाराज को करने चाहिए थे वह स्वयं ही करता, इसलिए वस्तुत: वही राजा था। इसी से तो और लोगों का वैमनस्य उसके प्रति और भी अधिक था तथा यह कि 'यदि कोई स्वामिनिष्ठ है तो राक्षस ही' राजा का यह विश्वास लोगों को अन्याय प्रतीत होने लगा। राजा कुछ देखता न था और सुमाल्य अभी छोटा ही था, इसलिए राक्षस ही को राजा की तरह आज्ञा देनी होती। राक्षस इस प्रकार की आज्ञाएँ देता जो भागुरायण आदि सेनापतियों को ठीक न जँचती। पर उससे लाभ क्या था? उन्हें अपने आप तड़पकर चुप रह जाना पड़ता।

किसी भी राज्य में यह स्थिति बहुत बुरी होती है। मन्त्री कितना ही अच्छा और सब लोगों के मान-सम्मान के योग्य हो, फिर भी उसी के सत्ता है तथा राजा कुछ देखता नहीं, यह अन्य अधिकारियों को पसन्द न आता। अब अपने गुण का उपयोग नहीं होगा; अब हमें चुपचाप बैठकर भाव मारना है; ऐसी स्थिति होगी, यह सोच उनका असन्तोष बढ़ता ही जाता है। परन्तु राजा यदि स्वयं राजकाज देखने वाला होगा तो आज नहीं तो कल, कभी तो अपनी सेवा राजा की नज़रों में आयेगी और हम उसकी कुछ सेवा कर सकेंगे, यह आशा उन्हें थी। परन्तु जब उनकी आशा नष्ट हो गई तो भागुरायण आदि असंतोष में डूब से गये। चाणक्य ने यह सब जाना और एक दिन इस परिचय से कि मैं प्रद्युम्न के लड़के का शिक्षक हूँ

तथा उसी के साथ आया हूँ, भागुरायण से मिलने गया। सेनापति भागुरायण ने उसका आदर-सत्कार किया और उसकी बातचीत से तो बहुत ही प्रसन्न हुआ। यहाँ तक कि जब चाणक्य जाने के लिए उठा तब भागुरायण उसे उसकी पर्णकुटी तक छोड़ने गया तथा वहाँ की दरिद्रता देख उसने उसे कुछ दक्षिणा लेने को भी कहा। परन्तु "मैं किसी के पास से एक पाई भी दक्षिणा नहीं लेता और न सहायता ही।" ऐसा चाणक्य ने स्पष्ट कहा। उस बात से भागुरायण के मन में उसके प्रति और भी श्रद्धा बढ़ गई। मनुष्य की अच्छी बुद्धि देख लोगों में उसके प्रति आदर-भाव उत्पन्न होता है। ऐसी ही अवस्था भागुरायण की भी हुई। चाणक्य एक महाविभूति हैं–प्राचीन काल के वसिष्ठ, वामदेव की तरह हैं–ऐसी उसकी भावना हो गई तथा वह बिना चाणक्य के दर्शन किए एक दिन भी न रहता। नित्य नियमित समय पर वह चाणक्य की पर्णकुटी में जाने लगा। सेनापति की स्थिति देख चाणक्य को आनन्द हुआ। राजा के मुख्य अंग दो ही हैं–एक सेनापति, दूसरा मन्त्री। कितने ही अवसर पर सेनापतियों का महत्त्व मन्त्रियों तथा अन्य अधिकारियों से अधिक होता है, क्योंकि सेनापति ही के हाथ में सेना होती है, और सेना का हाथ में होना राज्य के हाथ में होने के बराबर होता है। भागुरायण ने ही मुरा को अर्पण किया था। उसके पेट से राजा के बालक उत्पन्न हुआ, यह देखकर उसे बहुत आनन्द हुआ था। व्याधराज सचमुच क्षत्रिय है और मुरा क्षत्रिय कन्या ही है, यह बात उसने राजा से अनेक बार कही थी; परन्तु उसकी किसी ने न सुनी। उस समय उसे बहुत बुरा लगा था। परन्तु राजा के मन में उस समय अन्य अधिकारियों ने भ्रम उत्पन्न कर दिया था इसलिए राजा ने भागुरायण सेनापति की बात न सुनी। उसे कितनों ने यह बात कहकर उसकी अवहेलना की कि इसी ने आपको यह कन्या अर्पण की थी, इसलिए उसका पक्ष ले रहा है। कितनों ही ने तो यहाँ तक कह डाला कि यह बातें इसलिए कह रहा है कि यदि मुरा का प्राबल्य बढ़ जायेगा तो इसका महत्त्व बढ़ जायेगा। तब से उसका मन अत्यन्त खिन्न हो गया था। मुरादेवी के फिर अच्छे दिन आ गये, यह देखकर उसे आनन्द हुआ। यह जानकर वह और भी प्रसन्न हुआ कि राजा ने अपनी भूल समझ मुरा को ग्रहण कर लिया।

एक दिन शाम को भागुरायण और चाणक्य संगम के तीर पर एकान्त में बैठकर रम्य व शीतल गंगा की लहरों का उपभोग कर रहे थे। भागुरायण मुरादेवी को कैसे लाया, राजा को उसे कैसे अर्पण किया, आदि बातें बतलाईं और फिर आगे मुरा के पुत्र कैसे हुआ तथा कैसे सपत्नियाँ सौतें और अधिकारीगण उससे और उसके पुत्र से मत्सर करने लगे। मेरा वश उन लोगों ने एक न चलने दिया, आदि बातें बता कर भागुरायण बोला–"मैंने वह पुत्र देखा था। उसके हाथ पर चक्रवर्ती राजा के चिह्न थे। आज यदि वह होता तो सुमाल्य से बड़ा होता। राजा ने दूसरों की उल्टी बातों में फँस उसको मरवा डाला। क्या किया जाये? उसके लिए मुझे अब भी दु:ख है।" भागुरायण की बात सुन चाणक्य कुछ देर चुप बैठा और फिर यह देखकर कि बोलने का यह अवसर अच्छा है; वह बोला–"सेनापति भागुरायण, सत्य की ओर आपकी प्रवृत्ति देख मुझे बहुत आनन्द होता है। राक्षस की स्वामिनिष्ठा की इधर-उधर ख्याति है; परन्तु सत्य की निष्ठा उसमें कितनी है? किसे मालूम? आपकी सत्य-निष्ठा का फल शीघ्र मिलेगा, घबराइए मत! आप जिस विश्वास से मुझसे यह सब पुरानी बातें कह रहे हैं, वैसे ही मैं भी आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, सेनापति! परन्तु पहले मैं एक प्रश्न पूछता हूँ।

उसका उत्तर दें। मान लीजिए कि वह पुत्र मरा नहीं है, जीवित है–ऐसा आपके मन को किसी ने पूरा विश्वास दिलाया, इतना ही नहीं, उसे आपके सम्मुख खड़ा कर दिया, तो आप उसके लिए क्या कुछ करने की तैयार हो जाएंगे? वह लड़का सचमुच जीवित है। और मैं शीघ्र ही उसे आपके सामने लाकर खड़ा करने वाला हूँ। अशान्त होने की बात नहीं। मैं आपसे पूछता हूँ कि आपका क्या कहना है?"

"ब्राह्मणश्रेष्ठ, तू मौज में पूछता है तो मैं भी तुझे मौज ही में उत्तर देता हूँ कि यदि वह बालक मेरी दृष्टि में पड़ जाये तो मैं उसे यौवराज्य दिलवाऊँगा। और वह देते समय यदि कोई प्रसंग पड़ गया तो मैं उसे यह राज्य भी दे दूँगा। मेरे मन में यह विश्वास था कि यदि राक्षस आदि ने उसे मरवा न डाला होता तो उसने महाराजाधिराज होकर बड़ा राज्य स्थापित किया होता। उसके जन्म के ग्रह और सामुद्रिक लक्षण ही ऐसे थे। परन्तु पता नहीं क्या ग्रह बिगड़ गया जो वह समूल ही नष्ट हो गया !"

"क्या कहते हैं आप? उसे राज्य देंगे? पर सेना आपके अधिकार में हुई भी तो वह आपकी बात कैसे सुनेगी? राजा के विरुद्ध, मन्त्री के विरुद्ध वह आपकी बात कैसे सुनेगी? मुझे लगता है कि सेना पर निर्भर रहने से आपका काम नहीं चलने का। मुझे राजनीति से प्रेम है, इसीलिए मैं जान-बूझकर इस प्रसंग पर आप से घड़ी भर बातें कर रहा हूँ। मुझे कल्पना करनी चाहिए कि यदि आप, अपने निश्चयानुसार करना चाहेंगे तो सेना राजा तथा मन्त्री के विरुद्ध आपके पक्ष में कैसे आयेगी? और आप यदि सेना पर निर्भर करेंगे तो आपका हाल क्या होगा? ऐसे समय में आप क्या युक्ति कर अपना कार्य सिद्ध करेंगे?"

"ब्राह्मणश्रेष्ठ चाणक्य, इन शुष्क बातों के करने का क्या अर्थ है? मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी सेना पूरी तरह मेरी आज्ञा में है। मैं जो कहूँगा उसके विरुद्ध वह नहीं जा सकती। अधिक क्या कहूँ–इस बात का प्रसंग आयेगा तो नहीं,–पर यदि कदाचित् आयेगा तो मैं जो कुछ ये कह रहा हूँ वह सत्य है अथवा नहीं, यह दिखा दूँगा।"

"आपकी बातें सत्य नहीं हैं, जो ऐसा कहे उसकी जिह्वा विदीर्ण हो। उलटा मैंने तो कहा कि आप बहुत सत्यनिष्ठ हैं; पर भागुरायण! सत्य की रक्षा सत्यनिष्ठता ही से नहीं होती। उसमें थोड़ा दण्डनीति का उपयोग करना भी पड़ता है। नीतिशास्त्रकार महागुरु चणिक ने भी कहा है कि शत्रु को पटककर मारने का अवसर आने तक यदि उसे कंधे पर भी चढ़ाना पड़े तो कोई हर्ज नहीं; वैसा ही किया जाये और अवसर आने पर उसे पटककर मार डाला जाये। इसी के अनुसार मैं कहता हूँ कि अगर सत्य हो तो कुछ समय तक उसका गोपन कर बाहर से असत्य ही का आश्रय लिया जाये। यदि ऐसा आपने न किया तो आपकी निष्ठा का कोई उपयोग नहीं होने का। जो मैं कहता हूँ उसका ठीक से विचार करें, नीतिशास्त्र का यह एक पाठ ही है।"

भागुरायण यह सुन उससे बोला–"आपका कहना बिलकुल ठीक है। समय पड़ेगा तो मैं वैसा नहीं करूँगा; परन्तु इन काल्पनिक विचारों को ले वाद-विवाद करने का क्या अर्थ? छोड़ ही दिया जाये तो क्या बुरा? वह लड़का फिर उत्पन्न नहीं होता, और हम कुछ करते नहीं।"

"हाँ, ठीक है!" चाणक्य थोड़ा सोचकर उससे बोला–"परन्तु आप जैसे राज्याधिकारी से भी मिलकर ऐसी बात न की जाये तो की कब जाये? मैं आपको एक बात सुझाता हूँ; वह कैसी जँचती है, मुझसे कहें। पाटलिपुत्र के पास ही पर्वतेश्वर का राज्य है। राक्षस के नाम से यदि कोई दूत उसके पास भेजकर उससे ऐसी बात कही जाये कि तू आकर पाटलिपुत्र को घेरकर बैठ–मैं तुझे अन्दर से सहायता दे पाटलिपुत्र हस्तगत करा देता हूँ। स्वयं राक्षस ही मेरे अनुकूल है, यह देखकर पर्वतेश्वर आनन्दित होगा, क्योंकि इसकी निगाह इस पाटलिपुत्र पर है। संदेश सचमुच राक्षस ही के पास से नहीं आया है, यह उसे मालूम न होने दिया जाये, उसे राक्षस की ही बात कहकर यह भी कहा जाये–"ऊपरी रूप से में अपनी राजनिष्ठा का ढोंग कायम रखकर तुझसे वैषम्य दिखाऊँगा, जिससे धनानन्द को मेरे प्रति तनिक भी शंका नहीं होगी और अन्दर तुझे पूरी तरह से सहायता दे धनानन्द का नाश तेरे हाथ से हो, ऐसा कर तुझे राज्य सौंप दूँगा। यदि यह युक्ति सफल हुई तो पर्वतेश्वर आशा के वशीभूत हो सेना लेकर आयेगा। वह राक्षस के आमन्त्रण पर आया है, यह बात हम सर्वत्र प्रसिद्ध कर दें। पर्वतेश्वर के पास से भी अपने इस कहने का आधार मिलेगा। बाद में नन्द का नाश होने तक तू और तेरी सेना शांत बैठी रहे और नन्द का नाश होने पर उस पुत्र को आगे कर अपनी सेना ले पर्वतेश्वर से लड़े। इससे का लोंगो का चित्त तेरी तरफ़ हो जायेगा और तू सच्चा स्वामिनिष्ठ होगा और लोंगो का बालक के प्रति–अब वही नंदवंश का प्रेमांकुर बढ़ रहा है, यह समझकर–प्रेम उत्पन्न होगा। मैं सब बातें कल्पना ही से कह रहा हूँ। मैं तो केवल नीतिशास्त्र का दाँव बनाकर आपके सामने रख रहा हूँ–देखूँ आप कितने चतुर हैं? वैसे यह कुछ नहीं, अवकाश के समय की गप्पे हैं।"

"आपकी कही बात यदि साधी जाये तो बहुत उत्तम है। पर, यदि किसी कारण असफल हुई तो मेरा सर्वस्व चला जायेगा। हाँ, यदि सध गई तो राक्षस की अच्छी गति बनेगी। उसे अपनी राजनीति पर घमण्ड है, पर कभी तो गर्व का घर खाली होगा ही !"

चाणक्य बोला–"पर, ऐसे दाँव के साधने में तुझे अशक्य क्या प्रतीत होता है? राक्षस के पास से ऐसे स्वामिघात का संदेश नहीं आ सकता, यह सोचकर पर्वतेश्वर दूत पर विश्वास नहीं करेगा? ऐसा मालूम होता है। परन्तु पर्वतेश्वर को विश्वास हो जायेगा, इसका मुझे पूरा विश्वास है। राजा धनानन्द मुरा के पीछे लगा हुआ ऊल-जलूल काम कर रहा है–हम उसकी सेवा से तंग आ गये हैं–राजा उस शूद्री के कहने से क्या न कर देगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं, इसलिए आपको पहले ही बुला रहा हूँ; आदि अंट-संट बातें दूत द्वारा कहलाई जाएंगी, तो पर्वतेश्वर उसमें फँस राज्य के लोभ से सेना लेकर आयेगा और घेरा डाल देगा। राक्षस के ही आमन्त्रण पर पर्वतेश्वर आया है, यदि यह बात एक बार फैल गई तो फिर क्या? सब मौज ही मौज होगी। आप तो केवल सेना को हिलने न देना, फिर जैसा दाँव चाहिए, वैसा मिलेगा। जो कहता हूँ, झूठ है या सच?"

"आर्य चाणक्य, वह राजपुत्र एकदम नष्ट हो गया है, यदि मुझे यह ज्ञात न होता तो मैं यही कहता कि तुझे मालूम है कि वह कहाँ है? क्योंकि जो रचनाएँ तू पेश कर रहा है, वह इस तरह की हैं जैसे हमें सचमुच व्यूह-रचना ही करनी हैं?"

"सेनापति! बुद्धिमानों को मौज की बातें बोलते समय भी समझदारी बढ़े, ऐसी बात

करनी चाहिए। मैंने पहले आपसे कहा है कि मुझे नीतिशास्त्र से–उससे भी कुटिल नीतिशास्त्र से–बहुत प्रेम है। इसलिए नाना प्रकार की रचना कर मैं अपने मन को शान्ति देता रहता हूँ। सपत्नियों और अधिकारियों ने केवल द्वेष के कारण मुरादेवी के पुत्र की हत्या की, यह बात मुझे बुरी लगी, देखकर सहज मेरे मन में आया कि समझ लीजिए यह पुत्र मरा नहीं और आज आपके सम्मुख किसी ने उसे लाकर खड़ा कर दिया, तब आप क्या करेंगे, वह देखूँ इसलिए मैंने आपसे ऐसा प्रश्न पूछा। ऐसे प्रसंग पर यदि आप मेरे कहे अनुसार जाल रचें तो सफलता प्राप्त कर सकते हैं, अस्तु जो हो, अब चलो।"

भागुरायण और चाणक्य को बातें करते-करते इसी तरह पर्याप्त समय बीता। तब चाणक्य अपनी पर्णकुटी और भागुरायण अपने मन्दिर में जाने को निकले। भागुरायण को रास्ते से जाते हुए शंका हुई कि कोई पीछा कर रहा है। कदाचित् राक्षस का कोई दूत हो और मेरे पीछे घूम रहा हो। यह मन में आते ही भागुरायण को बुरा लगा और थोड़ा क्रोध भी आया, परन्तु "नीतिशास्त्र ऐसा ही होता है" यह कहकर उसने मन का समाधान किया। वह घर पहुँच सांध्य कर्मों से निपटकर खाने के लिए बैठा ही था कि राक्षस के यहाँ से तुरन्त आने का बुलावा आया जिसे सुन उसे और भी क्रोध आया। फिर भी वह भोजन किये बिना ही राक्षस के पास पहुँचा। उसका प्रथम प्रश्न यही था–

"जिस ब्राम्हण के पास आप नित्य जाकर बैठते हैं, वह कौन है, क्या आप बतायेंगे?"

यह प्रश्न सुनते ही भागुरायण के माथे पर बल पड़ गये।

सोलहवाँ परिच्छेद

भागुरायण सेनापति

राक्षस का प्रश्न सुनते ही भागुरायण के माथे पर बल पड़ गये और वह क्रोधित हो उठा। मन्त्री के प्रति उसके हृदय में अन्दर-ही-अन्दर आदर था। उसे यह मालूम था कि राक्षस जैसे स्वामिभक्त का मिलना कठिन है और इसी भक्ति के कारण वह सब पर कड़ी दृष्टि रखता है, यह भी उसे दीखता था तथापि मेरे-जैसे का भी हालचाल जानने के लिए गुप्तचर रखता है और उनसे बातें जान मुझसे ऐसा प्रश्न पूछता है, यह मन में आते ही भागुरायण को यदि क्रोध आया तो इसमें नवीनता क्या? इतना क्रोध आया कि अपने की बहुत रोकने पर भी वह इतना कह बैठा–“अमात्यराज, मुझे व्यर्थ में बुलाकर ऐसा प्रश्न पूछने का मतलब क्या है?”

मेरे प्रश्न पर सेनापति को क्रोध आया है, यह मन्त्री को उसी समय मालूम हो गया था। पर, वह ऐसी मुद्रा बनाकर, जैसे कुछ समझा न हो, शान्ति से बोला–“सेनापति, मुझे इस ब्राह्मण के विषय में कुछ संशय है तथा मेरे गुप्तचरों को संशय का दृढ़ कारण भी मिल गया है। परन्तु आपका वहाँ आना-जाना है, यह मुझे गुप्तचरों द्वारा मालूम हुआ। इसलिए आपसे मिलकर उस सम्बन्ध में पूछूँ, इस विचार में था। एक-दो बार आपसे भेंट भी हुई, पर उस समय मुझे ख्याल न आया। आज सहज स्मरण हो आया, सो आपको बुला भेजा। दूसरा कुछ मेरे प्रश्न का हेतु नहीं है। दूसरा क्या उद्देश्य हो सकता है?” इतना बोल भागुरायण के चेहरे की ओर मन्त्री देखने लगा। “सहज स्मरण हो आया।” यह राक्षस का कहना व्यर्थ ही है। मैं जाता हूँ, काफी देर बैठता हूँ, नाना प्रकार की बातें करता हूँ, यह सब बातें जानकर ही इसने मुझे जान-बूझकर बुलाया है। यह भागुरायण को अच्छी तरह मालूम था। परन्तु राक्षस से यह कैसे कहा जाये कि आप मन में कुछ छिपा रहे हैं। यह सब सोच वह शान्ति से बोला–“मुझे इस ब्राह्मण के सम्बन्ध में कुछ नहीं मालूम। एक दिन वह मेरे पास आया और बोला कि मैं इस प्रदेश में कुछ दिन गंगा के किनारे रहने आया हूँ। आप जैसों से भेंट हो, इसलिए आया हूँ। बोलने-चालने के रंग-ढंग से मुझे मालूम हो गया है कि ब्राह्मण विद्वान् है, इसलिए उससे अधिक परिचय किया। ब्राह्मण कितना विद्वान् है उतना निरपेक्ष है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। उसके प्रति मेरे हृदय में आदर का भाव उत्पन्न हो गया और मैं उससे कभी-कभी मिलने जाता हूँ। बस।”भागुरायण ने इतना कह मन्त्री के चेहरे की ओर देखा। उसे स्पष्ट मालूम हो गया कि मेरे बोलने से इसका समाधान नहीं हुआ है तथापि राक्षस के बोलने की प्रतीक्षा करने लगा और चुप रहा। मन्त्री भी कुछ देर चुप रह पुनः बोला–

“सेनापति, यह ब्राह्मण मुरादेवी के बन्धु के यहाँ से उसके लड़के के साथ आया है, यह आपको मालूम नहीं है, ऐसा ही मालूम होता है आपकी बातों से।”

राक्षस की बात एकदम छद्म-पूर्ण थी, यह भागुरायण समझ गया। मैंने ब्राह्मण के सम्बन्ध में इतना नहीं कहा इसलिए उसने वह उद्‌गार प्रकट किया, यह देखकर ही भागुरायण उससे बोला–“हाँ, ऐसा मैं सुनता हूँ।”

“आपको अच्छी तरह नहीं मालूम फिर? ”राक्षस ने फिर पूछा।

“अच्छी तरह मालूम कैसे होगा! मैं कुछ गुप्तचर रख कर उन्हें लोगों के पीछे फिराया नहीं करता। इसलिए मुझे कुछ निश्चित रूप से मालूम नहीं।”

राक्षस ने ऐसी मुद्रा बनायी जैसे कुछ समझा न हो, फिर बोला–“पर मैंने गुप्तचर रख पता लगाया है कि ब्राह्मण जो कुछ दीखता है उससे कुछ भिन्न ही है। आपको कदाचित् मालूम नहीं और आप उसके बोलने में न फँस जाएं इसलिए मैंने आज इतनी त्वरा से आपको बुलाकर कहा। ब्राह्मण कहता है कि वह मुरादेवी के यहाँ से आया है–पर मुझे इसमें भी शंका होती है। इसका लाया हुआ मुरा का भतीजा यथार्थ में मुरा का भतीजा ही है, इसके बारे में मुझे शंका है। इसलिए आप भी इस तरफ से सावधान रहें तो अच्छा है। मेरी तो इच्छा है कि दो दिन में इस ब्राह्मण को पाटलिपुत्र के बाहर निकाल दिया जाये। यह ब्राह्मण यवनों की ओर से गुप्तचर बनकर आया हो, यह भी हो सकता है। सेल्यूकस के मन में पाटलिपुत्र में घुसने की प्रबल इच्छा है, यह आपको बताना न पड़ेगा। इसलिए ऐसे आदमी की, जिसके विषय में हमें कुछ मालूम न हो, निकाल देना अथवा रोक देना ही अच्छा है। आपका क्या विचार है? आपका और उसका बहुत स्नेह है, इसलिए ऐसा कहता हूँ।”

राक्षस की अन्तिम बात सुन भागुरायण को बहुत क्रोध आया। उसे ऐसा मालूम हुआ कि राक्षस अपने ही को चतुर और स्वामिहितैषी, और मुझे मूर्ख तथा स्वामिनिष्ठ की अनास्था करने वाला समझता है। वह तुरन्त बोला–“मन्त्रिवर, आप पाटलिपुत्र में जो कुछ करना चाहें, समर्थ ही हैं, पर बिना कारण एक पवित्र ब्राह्मण पर सन्देह कर उसका अपमान न करें, यही अच्छा है। आप सब प्रकार के नीति-शास्त्र में विशारद हैं इसलिए आपको कुछ सुझाया जाये, यह उचित नहीं है। आप गुप्तचरों द्वारा ब्राह्मण को यवनों का भेदिया समझ जो चाहे सो करें। परन्तु मेरा उससे जो चार दिन का परिचय है उससे तो मेरा यही विश्वास है कि वह सहज रूप में यहाँ पाटलिपुत्र में रहने आया है। मुरादेवी ने उससे कितना आग्रह किया कि वह उसी के मन्दिर में आकर रहे, पर निर्लोभ ब्राह्मण ने उसकी न सुनी। तब वह किसी का गुप्तचर अथवा और कुछ बनकर आया हो, यह सम्भव नहीं। तथापि आप खोज करें और खोज के अनुसार जो कुछ करना हो, करें। आप बहुत ही शान्त तथा विचारवान् हैं, इसलिए आपसे और कुछ कहना उचित नहीं। गरीब ब्राह्मण का अपमान न हो, बस मैं यही चाहता हूँ। ब्राह्मण बहुत ब्रह्मनिष्ठ और पंडित है।”

बातें हो जाने के बाद भागुरायण अपने मन्दिर की ओर जाने को निकला। राक्षस के विषय में उसकी बुद्धि में आज फर्क आ गया। राक्षस मुझ पर भी संशय कर मेरे पीछे गुप्तचर रखता है। ऐसे मन्त्री के अधिकार के नीचे रहना अपना अपमान कराने के समान है। मन्त्री

और सेनापति दोनों समानाधिकारी होने चाहिए; यदि वैसा न भी हो, तो मन्त्री की सेनापति पर संशय नहीं करना चाहिए। वैसा न करते हुए मन्त्री मुझ पर संशय करता है, इसका अर्थ यह है कि जब तक राक्षस इस राज्य में है तब तक मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिए–इस राज्य को छोड़ ही देना चाहिए, ऐसा भी आज उसके मन में आया। एक बार ऐसे विचार आने के बाद वे मछलियों की ही तरह बढ़ते जाते हैं। मैं इतनी अच्छी तरह व्यवहार करता था, फिर भी मन्त्री का मुझ पर संशय करने का क्या अर्थ है? इस बात की खोज में उसका मन लगा तथा वह इस निर्णय पर पहुँचा कि जब से मैंने मुरा का अर्पण किया तभी से राक्षस मुझसे मत्सर अथवा द्वेष करने लगा होगा। कुल मिला-जुलाकर राक्षस के मन में मेरे प्रति संशय है और वह कब पककर ज़रा से भी कारण पर मेरी पगड़ी उछाल देगा, इसका कोई ठिकाना नहीं, यह भी उसके मन में आया। ऐसी स्थिति में मैं ही क्यों यहाँ रहूँ! राजा धनानन्द कुछ करता धरता नहीं, इसलिए यही अपने को राजा समझ सब व्यवस्था करता है। यह व्यवस्था करे, इसमें कोई हर्ज नहीं; परन्तु दूसरे अधिकारी का–समान अधिकारी का–कुछ ख्याल रखकर व्यवस्था की जाये या यों ही? जिन गुप्तचरों को इसने मेरे पीछे लगा रखा होगा, उनकी नज़रों में मेरी क्या क़ीमत है? पुष्पपुर का एक चोर और मैं बराबर हुए या नहीं? और चाहे जिसके ऊपर संशय किया जाए, पर मेरे ऊपर संशय का अर्थ क्या? आर्य चाणक्य कितना गरीब, कितना उत्तम मनुष्य है? कैसा ब्रह्मनिष्ठ, कैसा विद्वान् है, उसे बाहर निकालने को कहता है! क्यों? वह मुरा के भाई के पास से आया है इसलिए! शाबाश राक्षस-मन्त्री, यदि तू इसी तरह व्यवहार करेगा तो मुझ जैसा मानी पुरुष इस पाटलिपुत्र में क्षण-भर भी नहीं रहेगा। आर्य चाणक्य ने आज संध्या को विनोद में जो प्रश्न पूछा, उस प्रश्नानुसार यदि सचमुच बालक जीवित होता तो उसका पक्ष ले इस मन्त्री की भी अच्छी खबर लेता; पर ऐसा तो है नहीं। वह कैसे हो सकता है? हिमालय-अंचल के वन में मरवाया हुआ वह बालक कहाँ से जीवित रहेगा? पर यदि हो तो ? वाह फिर क्या, मैं मन्त्री की अच्छी खबर लूँगा। राजा धनानन्द को क्या, राज-कार्य में मन नहीं लगाता। फिर उसकी जगह सुमाल्य हो या कोई दूसरा, उसके लिए बराबर है, बल्कि वह बालक ही हो तो और अच्छा; क्योंकि असली अधिकार तो उसी का है। इसी तरह का विचार मन में घोलता हुआ वह जा रहा था। जाते-जाते वह अपने मन्दिर में पहुँचा। उसकी भूख मर चुकी थी तथा इस विचार के कारण उसे नींद भी न आई। उसके मन में ऐसा आया कि आर्य चाणक्य को सचेत कर देना चाहिए। मन्त्री के मन में उसके प्रति संशय हुआ ऐसी अवस्था में वह क्या न कर डाले, इसका कुछ ठिकाना नहीं। वह इस ब्राह्मण का अपमान कर उसे हद-पार कर दे तो ? इससे अच्छा तो चाणक्य को पूर्व ही से सावधान कर दिया जाये। यह विचार आते ही वह प्रातःकाल की राह बड़ी व्यग्रता से देखता रहा।

प्रातःकाल भागुरायण चाणक्य के पास गया। मेरे पीछे गुप्तचर रहते हैं, यह उसे पिछले दिन मालूम हो गया था। इसलिए उसने यह देखने के लिए कि आज भी गुप्तचर हैं कि नहीं, चारों तरफ नज़र घुमाई। उसे विश्वास हो गया कि गुप्तचर पीछे लगे हुए हैं। उसका क्रोध भभक उठा। सेनापति होकर जिस नगरी में मेरा अपमान हो उसमें रहा ही क्यों जाये? दूसरे किसी राज्य में जाकर मुझमें पेट भरने की सामर्थ्य नहीं है क्या? ऐसे ही प्रश्न उसके मन में खड़े हो रहे थे। उस गुप्तचर को पकड़कर पूछा जाये कि तू किसकी आज्ञा से मेरा पीछा कर

रहा है? यह कोई बड़ी बात नहीं–केवल एक ही सैनिक से कह देने भर की देरी है। पर, उसने वह विचार स्थगित कर दिया और चाणक्य की पर्णकुटी की ओर चला। जाते-जाते उसके मन में एक विचार और आया, उसने साथ के प्रतिहारी को वापस भेज दिया। एक नौकर भी साथ न रखा। नौकर को वह आदेश सुन बहुत आश्चर्य हुआ; परन्तु स्वामी की आज्ञा सुनने के बाद वह क्या कर सकता था? चला गया बेचारा! भागुरायण अकेला ही अपने तप्त मस्तक को गंगा के शीतल पवन से शान्त करता हुआ चाणक्य की पर्णकुटी में आया।

चाणक्य को विश्वास था कि सेनापति आयेगा; पर उसके आने की जैसे अनपेक्षित समझ उसने कहा- "सेनापति, आज आप इस ओर आयेंगे, ऐसा मुझे नहीं मालूम हो रहा था। कल के बाद इतनी जल्दी आपके आगमन की आशा न थी। वैसे तो आपके आने से मुझे बहुत ही आनन्द होता है, यह मुझे अपने मुख से कहना पड़े, ऐसा नहीं है।"

"और आपके दर्शन से और आपसे बातचीत करने में मुझे आनन्द मिलता है, यह भी मेरे कहने की बात नहीं है। मैं तो अब आपको गुरु ही समझता हूँ। जो हो, पर आर्य चाणक्य, मैं आज आपसे कुछ कहने तथा पूछने आया हूँ। मैं जो कुछ कहूँ अथवा पूछूँ उसके लिए आप विषाद न करें।" भागुरायण ने कहा।

"मुझे क्रोध और विषाद! सेनापति, इस दरिद्र ब्राह्मण ने लज्जा, क्रोध और खेद कभी से छोड़ दिया है। तब ये सब अब कहाँ से आयेंगे? जो कुछ आपको पूछना अथवा कहना हो, आप बेखटके कहें, मैं सुनने और उत्तर देने के लिए तैयार हूँ।"

चाणक्य की बात सुन सेनापति कुछ देर चुप रहा, फिर बोला–"आपने जो अपना परिचय दिया, वह यथार्थ है अथवा कुछ भिन्न? यदि भिन्न हो तो मुझसे कहें, ऐसी मेरी विनती है। और उत्तर मिल जाने के बाद मुझे जो कुछ कहना होगा, कहूँगा।"

बात सुन चाणक्य हँसा और बोला–"सेनापति, कल रात को यहाँ से जाने के बाद मेरे विषय में किसी ने आपसे कुछ कहा होगा। इसके बिना आपका यह प्रश्न आ नहीं सकता। इसलिए जिसने आपको यह प्रश्न पूछने की बुद्धि दी, यदि उसी से आपने कुछ भी पूछ लिया होता तो आपको मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछना पड़ता। जो परिचय मैंने दिया उससे भिन्न क्या हो सकता है! गरीब ब्राह्मण की वृत्ति और क्या हो सकती है? जो कुछ है, वह आपसे मैंने कह ही दिया है। परन्तु जो अपना परिचय मैंने आपको दिया, यदि उसके सम्बन्ध में किसी ने आपसे कुछ कहा हो तो वह मुझे बतायें। फिर मैं बता सकूँगा कि उसकी बात में कहाँ तक सत्यता है। परन्तु किसी ने आपसे क्या कहा होगा, इसके विषय में मैं तर्क कर ही चुका हूँ। सेनापति, नीतिशास्त्र यही कहता है कि जो नया व्यक्ति नगरी में आवे उसके पीछे गुप्तचर रख पता लगाया जाये कि वह क्या करता है, किससे मिलता है, कहाँ जाता है; इस पर दृष्टि रखा जाये। उसी तरह मन्त्री ने मेरे ऊपर गुप्तचर रखे होंगे, यह मैं जानता ही हूँ। राजा सजग रहता है और राक्षस राजा ही के स्थान पर है। ऐसी अवस्था में यदि वह सजग रहता है, तो इसमें नवीनता ही क्या? परन्तु मेरे चरित्र में कुछ छिपाने योग्य बात नहीं, तो मैं उससे क्यों डरूँ? पर सेनापति, जो सच्चा नीतिशास्त्रज्ञ है, वह केवल अपने गुप्तचरों ही पर भरोसा नहीं रखता। बात का बिना पूरा प्रमाण मिले वह किसी बात पर विश्वास नहीं करता। इसलिए मेरे सम्बन्ध में अगर किसी ने पूछा होगा तो वह मन्त्री राक्षस ही हो

सकता है, क्योंकि जिस तरह मेरे पीछे उसके गुप्तचर घूमते रहते हैं, उसी तरह आपके पीछे में घूमते होंगे तथा यह जानकर कि आप मेरे पास आते हैं, आपसे उसने पूछा ही होगा। जो मैं कह रहा हूँ, यह सत्य है न? मेरा तर्क ठीक है न? ”

चाणक्य की बात सुन भागुरायण चकित हो गया। चाणक्य का तर्क इतना सत्य कैसे हो गया, यह सोच उसे आश्चर्य होने लगा। राक्षस के गुप्तचरों की भाँति इसके गुप्तचर भी मेरे पीछे घूमते हों, यह असम्भव है। केवल यह नीतिशास्त्री है इसीलिए इसने ऐसा किया क्या? यह वह सोच दुविधा में पड़ गया। यह देखकर चाणक्य हँसकर बोला–“अच्छा, आप जो कुछ पूछने वाले थे, वह तो हो चुका, पर जो कहने वाले थे, वह क्या है? यह सुनने के लिए मैं बहुत उत्सुक हूँ।”

यह प्रश्न सुन भागुरायण होश में आया और “कहता हूँ” कहकर उसने पिछले दिन की घटना कह सुनाई। वे बातें सुन चाणक्य सन्तापित हुआ; पर वह बात उसने बाहर प्रकट न होने दी। मन में बोला–“राक्षस, अब तेरा और मेरा युद्ध ही होगा। इस युद्ध में कौन जीतता है और कौन इस नगरी के बाहर निकाला जाता है, यह देखूँगा।” बाद में भागुरायण से प्रकटतया बोला–“सेनापति, जैसी बात आपने मुझसे कही वैसी ही बात मुझे भी आप से कहनी है, पर वह बहुत ही गुप्त तौर से। तट पर चलें, वहाँ कहूँगा।”

परन्तु इन लोगों की बातों को यहीं छोड़ हम अपने अन्य पात्रों की ओर मुड़ें।

सत्रहवाँ परिच्छेद

राक्षस मन्त्री

पिछले परिच्छेद में कही बात के दूसरे दिन राक्षस अपने मन्दिर के अन्तर-गृह में अकेले बैठा कुछ सोच रहा था। जब उसे एकान्त में कुछ सोचने की आवश्यकता प्रतीत होती तो वह इसी अन्तर्गृह में आ बैठता और प्रतिहारी को कठोर आदेश कर देता कि वह उसके पास किसी आदमी को लेकर न आये, न उसके आने का समाचार देने ही आये। केवल अमुक चार आदमी आयें तो उनके आने की सूचना देने में कोई हर्ज़ नहीं। इसी प्रकार की आज्ञा आज भी दे राक्षस विचार करने बैठा था।

राक्षस मन्त्री देखने में तेजस्वी और डील-डौल में भी अच्छा-खासा था। उसके चेहरे पर के भाव और शरीर का रोब दूसरों के मन पर प्रभाव डाल सकें, ऐसे थे। आँखें पानीदार तथा सर्वग्राही दीखती थीं। माथा ऊँचा और विस्तीर्ण तथा उर-प्रदेश विशाल था। इसलिए तथा उसके अच्छे कामों के कारण लोगों पर उसका बहुत प्रभाव था। मन्त्री ने जो एक बात कह दी कि वह ऐसे हो, तो उसके विरुद्ध जाये कौन? परन्तु राक्षस को जितना लोकप्रिय होना चाहिए था वह उतना न था। वह जितनी क़द्र अपने नौकरों, कारकुनों की करता था उतनी ही अन्य मन्त्रियों की भी, इसलिए उनके हृदय में राक्षस के प्रति उतना प्रेम न था। राज्य-प्रतिनिधि और सच्चा स्वामी-हितदर्शी तथा उसी तरह बड़ा न्यायनिष्ठ एवं स्वहित निरपेक्ष होने के कारण वह बहुत लोकप्रिय था। सब लोग इस बात से परिचित थे कि मन्त्री से कोई बात छिपा रखना असम्भव-सा है। परन्तु जिस तरह का व्यवहार वह साधारण लोगों से करता था वैसे ही मन्त्रियों से भी, इसलिए वे इससे असन्तुष्ट रहते थे। हम पर भी राक्षस का अविश्वास है, यह सोच मन्त्रिगण उदासीन रहते। परन्तु राक्षस को उनकी मन की स्थिति नहीं दिखाई देती थी। अब हम राक्षस के विचार की ओर मुड़ते हैं।

ऊपर कहा ही जा चुका है कि राक्षस अकेला बैठा था और विचार में मग्न! उसके विचार का विषय तात्कालिक स्थिति थी। वह विचार मुरा, चन्द्र-गुप्त और चाणक्य तीनों के सम्बन्ध में थे। मुरादेवी को जब से कारागृह-मुक्त किया गया, तब से उसने राजा पर कैसा प्रभाव डाला है। मुझे राजा से मिलना हो तो इसमें भी अड़चन पड़ने लगी है। आखिर यह सब हुआ कैसे? इसका उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने बहुत दिमाग़ लड़ाया, पर कुछ समझ न पाया। इस मुरादेवी के बन्धन से यदि राजा न छूटा तो कब क्या हो जाये, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। परन्तु अपने मन से राजा के प्रति सम्पादित स्वामित्व को अलग कर कैसे उससे पूर्व-स्थिति पर आने के लिए कहा जाये, यही इसकी समझ में न आता। मुरादेवी राजा के पास से क्षण-भर भी दूर नहीं होती और अगर होती भी है तो इस ढंग से कि राजा के पास कोई जा न सके तथा वह अकेले ही रहें। अगर किसी के आने का आभास उसे मिल

जाये तो वह फिर राजा के पास उपस्थित। जिस तरह अन्य सब स्थानों पर मैंने गुप्तचर रखे हैं उसी तरह मुरादेवी के मन्दिर में भी एक अच्छा-सा गुप्तचर ढूँढ़कर रखना चाहिए। और उसने अपने अन्त:पुर की एक दासी द्वारा वहाँ की किसी दासी को तोड़ने का विचार किया तथा वैसा उपक्रम भी किया। मुरादेवी की सबसे प्यारी और विश्वासिनी दासी वृन्दमाला है, यह उसे मालूम था। इसलिए यदि उसी को किसी तरह फाँस अपने अनुकूल बना लिया जाये तो अति उत्तम होगा। यह सोच उसने एक बार वृन्दमाला को अपने पास बुला उससे बातचीत करने की योजना की। वृन्दमाला जैसी दासी यदि मेरे अनुकूल हो जायेगी, तो बहुत अच्छा होगा। मुरादेवी जो कुछ बातें करेगी वह शब्दशः मालूम होती रहेंगी, और यदि वह बराबर मालूम होती रहीं तो राजा को पूर्व-स्थिति पर लाने में कितनी देर? बस, वृन्दमाला से एक बार बातचीत होने भर की देर है, फिर तो वह मेरे अनुकूल हो ही जायेगी। वह सामान्य व्यक्तियों से कुछ भिन्न है, इसका उसे पूरा विश्वास था। एक-दो दिन में कार्य सिद्ध हो जाये, इसकी व्यवस्था भी हो चुकी थी। इसीलिए मुरादेवी से सम्बन्धित विचार उसने थोड़ी ही देर में दूर कर दिया। बाद में वह चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में विचार करने लगा। चन्द्रगुप्त को जब से राक्षस ने देखा तथा तब से उसकी दशा कुछ चमत्कारिक हो गई थी। जैसे एक तेजस्वी, अत्यन्त चंचल नाग के बच्चे को देखकर कुछ भीति, कौतुक तथा कुछ आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण उससे डर मालूम होने लगता है और प्राणों का संकट हो जाता है तथा उसे पास न रखकर मार डालने–जान से मार डालने का साधन ढूँढ़ा जाता है, उसी भाँति चन्द्रगुप्त को प्रथम बार देखकर राक्षस की दशा हुई। लड़का बहुत सुन्दर, तेजस्वी, साहसी, चतुर और सब कलाओं में निपुण है, ऐसा मन को विश्वास हुआ और कुछ ही दिनों में अनुभव भी हो गया। परन्तु यह लड़का पाटलिपुत्र में मुरादेवी से सम्बन्धित होकर आया इसलिए इसे यहाँ रखना उचित नहीं है। इसके यहाँ रहने पर क्या संकट आयेगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। मुरादेवी तो आजकल राजा की साँस-साँस में बसी है, इसलिए यदि राजा को यह ज्ञात हो गया कि मैं मुरा के भतीजे के सम्बन्ध में कुछ गड़बड़ी कर रहा हूँ तो वह क्षुब्ध हो जायेगा। इसलिए इस लड़के के सम्बन्ध में जो कुछ किया जाये वह भली-भाँति सोच-समझकर। प्रथम तो उसने यह विचार किया कि कोई गुप्तचर भेजकर यह पता लगाना चाहिए कि प्रद्युम्नदेव के कोई लड़का है भी या नहीं। यह सोच उसने प्रतिहारी को बुलाकर कहा–"हिरण्यगुप्त को बुला ला!" प्रतिहारी "जैसी आज्ञा!" कह कर वहीं खड़ा रहा। तब मन्त्री ने, "कहे हुए काम को करने के बदले तू यहाँ क्यों खड़ा है?" यह प्रश्न सुन प्रतिहारी हाथ जोड़कर बोला–"मन्त्रिराज, हिमालय से कोई एक भील अपने राजा के पास से पत्र लेकर आया है, और आपको देने के लिए बाहर बैठा हुआ है।"

यह सुन राक्षस आश्चर्यचकित हो अपने मन-ही-मन में सोचने लगा–"भील, और अपने राजा के पास से पत्र लेकर आया है। यह है क्या ! हिमाचल का राजा प्रद्युम्नदेव के अलावा और कौन हो सकता है? तथापि जो बात प्रत्यक्ष ही है, उसके लिए मन में विचार कैसा? उसे बुलाकर पत्र पढ़ने पर सब खुलासा हो जायेगा।" फिर उस प्रतिहारी से बोला–"ठीक है, उस भील को अन्दर ले आ।"

प्रतिहारी बाहर जा उस भील को अन्दर ले आया। भील एकदम काला था; परन्तु दूर से

चलकर आने के कारण उसके शरीर पर धूल जमी हुई थी, जैसे कृष्णवर्ण मेघ पर एकदम अस्त होते हुए सागर में निमग्न होने के बाद सूर्य की धूसर छटा छिटकी हो। अन्दर आते ही वह राक्षस को दण्डवत् कर, उसके सामने थैली रख, हाथ जोड़कर बोला–"महाराज, मेरे महाराज ने कुशल-प्रश्न-पूर्वक यह पत्रिका आपके पास भेजी है। कुछ उत्तर हो तो उसे ले जाने के लिए दास प्रस्तुत है।" राक्षस ने वह थैली इधर-उधर से देख खोली और भोज पत्र पर लिखी हुई पत्रिका निकाल कर पढ़ी। वह इस प्रकार थी–"स्वस्ति श्रीमत्सकलसामन्त-मुकुटमणि-रंजित-चरण नरवर महाराज धनानन्दामात्यवर राक्षसवर्य यांप्रत! हिमाचलांतर्गत निषाधरवासप्राच्याधिपति महाराज प्रद्युम्नदेव का अनेक कुशल प्रश्न। उपरिलेखन कारण; महाराज प्रद्युम्नदेव की भगिनी श्रीमन्मन्हादेवी मुरा की विज्ञप्ति पर महाराज ने अपने पुत्र युवराज चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र में चार दिन रहने और वहाँ की राज-व्यवस्था समझने के लिए भेजा है? वे जब यहाँ से गये, उस समय आपको भी एक पत्र देने का विचार था, परन्तु लिखा हुआ पत्र कुछ दृष्टि-भ्रम के कारण यहीं रह गया, इसलिए अब एक शीघ्रगामी दूत भेजा है। उसी के साथ यह पत्र भेजा है। हमारी भगिनी मुरादेवी पर महाराज की पुन: पूर्ण कृपा हो गई है; यह जानकर मुझे और माताजी को आनन्द हुआ और अब आपको भी उसके प्रति संशय व रोष नहीं रहा, यह सुनकर और भी आनन्द हुआ। और इसीलिये युवराज के साथ हमारे यहाँ के एक ऋषि-समान-पण्डित को भेजा गया। युवराज नयी नगरी देख और आप जैसे चतुर मन्त्री की राज-व्यवस्था देख आप जैसे नीतिज्ञ का दर्शन करें, इसीलिए उन्हें भेजा गया है। वह जब तक वहाँ हैं तब तक आपकी देखरेख के नीचे हैं, इसीलिए मैं निश्चिन्त हूँ। आप जैसे विद्वान् द्वारा शिक्षा कितनों को मिल सकती है! वह कुमार चन्द्रगुप्त को मिले इसीलिए उसे भेजा है। आर्य चाणक्य एकदम निरपेक्ष और नि:स्पृह है। वह स्वयं आपके पास नहीं जा सकता अर्थात् वह आपके पास चन्द्रगुप्त को लेकर नहीं जायेगा। इसीलिए मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। चन्द्रगुप्त को अपना ही समझ उस पर कृपादृष्टि रखें। इति।"

पत्र पढ़ मन्त्री-राक्षस अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया। प्रद्युम्नदेव इतने आदर के साथ उसे पत्र लिखेगा, इसका उसे स्वप्न में भी विचार न था। क्षण-भर पहले ही विचार किया था कि गुप्तचर भेज पता लगाना चाहिए, परन्तु अब गुप्तचर की आवश्कता क्या? यह धूल-धूसरित भील उसके पास से पत्र लेकर आया तो उसके प्रति शंका ही क्या? चन्द्रगुप्त और मुरादेवी के चेहरे में साम्य दीखेगा, यह ठीक ही है। अब उसके लिए आश्चर्यचकित होने का कारण ही क्या होगा। प्रद्युम्नदेव मुझे इतने आदर के साथ लिखे और मैं उसका आदर न करूँ, यह अच्छा नहीं। कुछ भी हो, आखिर है तो वह राजा। और जब उसने इतनी नम्रता से पत्र लिखा तो उसके पुत्र का ख्याल रखना ही चाहिए। मुझे जो शंका हो रही थी, वह दूर हो गई, इसलिए उसके लिए अब विचार की आवश्यकता नहीं। ऐसा सोच उसने पत्र का उत्तर बहुत ही नम्रता और विनय से युक्त लिखा तथा उसी भील को भोजनादि देने का आदेश दिया। भील वहाँ से चला गया।

थोड़ी ही देर में हिरण्यगुप्त आया। हिरण्यगुप्त राक्षस के अत्यन्त विश्वासी सेवकों में से था। जो चार व्यक्ति राक्षस की आज्ञा से काम करते थे उनके सम्बन्ध में इसे सब कुछ मालूम रहता था। हिरण्यगुप्त के अन्दर आने के बाद उससे किवाड़ बन्द करने की कह, उससे

कहा–"हिरण्यगुप्त, जिस काम के लिए तुझे बुलाया था, वह हो गया। इसलिए अब उसके लिए कुछ बोलना नहीं है। परन्तु वृन्दमाला के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की?"

"स्वामिन्" हिरण्यगुप्त ने उत्तर दिया–"वृन्दमाला से मैंने स्वयं मिलकर जब उससे कहा कि मन्त्रिवर तुझसे मिलना चाहते हैं तो वह घबराई-सी दिखी। उस पर जब मैंने यह बताया कि तुझसे वे गुप्त रूप में मिलना चाहते हैं तो वह और भी घबराई। उसे बहुत समझाने पर कि तेरे और तेरी स्वामिनी के भले ही के लिए तुझे बुलाया है तो उसने आज आना स्वीकार किया।" हिरण्यगुप्त की बात सुन राक्षस असन्तुष्ट हो बोला–"हिरण्यगुप्त, तुझे मेरे पास रहते इतने वर्ष हो गए, पर तुझे अभी तक समझ न आयी, यह कहना पड़ेगा। अरे पागल, तुझे उसके आने के विषय में पहले अपनी पत्नी से कुछ अच्छे रूप में कहलाना चाहिए था। वैसा न करते हुए तूने क्या किया? 'हिरण्यगुप्त वृन्दमाला से मिला था', अगर यह बात मुरा को मालूम हो गई तो उसका विश्वास वृन्दमाला पर से उठ जायेगा। और उस पर से यदि उसका विश्वास उठ गया तो उपयोग ही क्या? हाँ, वृन्दमाला यदि आज आई तो कोई उपाय न रहेगा। यदि आज न आई तो तेरी पत्नी जाकर उसे तेरी स्वामिनी के पास कह कर लाये और तब उस निमित्त वह यहाँ आ गई तो मैं उससे मिलूँगा। फिर वह यहाँ क्यों आई; कैसे आई आदि बातों की खोज कोई न करेगा। हिरण्यगुप्त, भाई, इस बारे में सँभलकर रहना चाहिए।" हिरण्यगुप्त सब बातें ध्यान से सुन रहा था। राक्षस के बोल चुकने के बाद वह बोला–"मुझे यह सूझा नहीं। परन्तु वह आज जहाँ तक होगा, आयेगी अवश्य। न आई तो आपकी आज्ञा के अनुसार ही व्यवस्था करूँगा।" हिरण्यगुप्त के मुँह से इस बात के निकलते न निकलते प्रतिहारी ने आकर विनती की–"स्वामी, कोई एक दासी आपके बुलाने पर आई है; ऐसा कहती है। कौन, किसकी है, आदि पूछने पर कहती है कि मन्त्रिवर को सब मालूम है; उन्हीं के बुलाने पर आई हूँ, यही उत्तर देती है और कुछ भी नहीं बोलती। फिर जैसी स्वामी की आज्ञा!"

राक्षस यह सुन बोला–"देखा हिरण्यगुप्त! बहुत कर वही होगी। परन्तु थोड़ी सावधान ही दीखती है। नहीं तो तुरन्त मैं यहाँ से आई हूँ, मेरा नाम यह है; बता बैठती। ठीक है, उससे कह–अन्दर आए। उसे लाकर यहाँ पहुँचा जा और बिना उसके यहाँ से गये, फिर लौटकर न आ!"

प्रतिहारी–"जैसी आज्ञा!" वह वहाँ से चला गया। थोड़ी ही देर में वह दासी अन्दर आई। राक्षस मन्त्री ने उसे थोड़ा मान देते हुए कहा–"आइए वृन्दमाला देवी, आपकी तबीयत तो ठीक है?" यह दासी कुछ हंसकर बोली–"अमात्यराज, मेरे समान दासी का इतना कैसा आदर-सत्कार! जो आज्ञा हो, दासी से कह भर दें।"

वृन्दमाला, दासी हुई तो क्या हुआ? उसे यदि अपने काम के लिए बुलाया है तो उसका सत्कार करना ही चाहिए। खैर, पर आपकी स्वामिनी तो कुशलपूर्वक हैं न? आप क्या और हम क्या, यदि स्वामी कुशलपूर्वक हैं तो हम भी हैं, नहीं तो हमारी कुशलता और अकुशलता बराबर ही है। सच कहता हूँ न मैं।" यह कह, मन्त्री ने हँसकर उस दासी की ओर देखा।

दासी रुकती-रुकती बोली–"यह क्या, आपकी और मुझ जैसी दासी की क्या समानता।

मन्त्रीजी ने आज्ञा दी ती...”

“वृन्दमाला देवी, आज्ञा कैसी, महाराज सदा आपकी स्वामिनी के मन्दिर में रहते हैं। हमें उनकी कुशलता का कुछ समाचार मिलता नहीं। इसलिए मैंने आपसे मिलकर बातें करनी चाहीं। इसके अतिरिक्त आपकी अपनी स्वामिनी पर विलक्षण निष्ठा है, ऐसा सुनने पर आपको इस गुण पर पारितोषिक देने की भी इच्छा हुई। आपको तो मालूम ही होगा कि स्वामिनिष्ठ व्यक्ति मुझे बहुत अच्छे लगते हैं।”

“कैसे? किस बात को? क्या पहने हुए वस्त्रों और खाये हुए अन्न के कारण ? हमारी स्वामिनिष्ठा कैसी? और मुझ गरीब दासी को पारितोषिक लेकर क्या करना है?”

अपना ही समझकर लेने में क्या हानि है? ले लीजिए।” ऐसा कहकर मंत्री ने अपने बैठने के आसन के नीचे से दो सुवर्ण कंगन निकाले और उसके हाथ पर फेंक दिये। उसने भी किंचित् ऊँ-ऊँ करते हुए ले लिए।

बाद में अमात्य राक्षस उससे बोला–“वृन्दमाला, आप तनिक संकोच न करें। मैं इतनी ही विनती करता हूँ कि आपके यहाँ तक आने का कष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं है। यह हिरण्यगुप्त आता-जाता रहेगा, इसी से कह देंगी तो कोई हानि नहीं। जब आपके आने योग्य कोई बात होगी तो मैं आपको सन्देश भेज दूँगा अथवा आप हिरण्यगुप्त को भेज दीजिएगा कि आप अमुक समय आ रही हैं, जिससे मैं आपके अन्दर आने की व्यवस्था कर दूँ। आपको सिर्फ इतना ही करना होगा कि वहाँ जो-जो बातें हों, मुझसे साफ-साफ कह दें–और कुछ नहीं। उसमें कुछ महत्व की बात हो, या न हो...”

“मैं कह दूँगी, मेरा क्या जाता है? मैं इनसे नित्य जो कुछ होगा, कहती जाऊँगी। और जब आपकी आज्ञा होगी तो आ जाऊँगी। मेरा क्या–दासी को जैसी आज्ञा होगी, करती जायेगी।”

“परन्तु वृन्दमाला देवी, मैं आपसे ऐसे कुछ बुलवाकर पूछता हूँ।

अथवा आप मेरे आदमी से कुछ कहती हैं, यह किसी को मालूम नहीं होना चाहिए।”

“नहीं मालूम होगा। पर मैं कभी से कहने वाली थी, आपके मुँह से ‘वृन्दमाला’ सुनकर मैं कुछ बोलना ही चाहती थी कि फिर आपकी बातों में उलझ गई। मैं वृन्दमाला नहीं हूँ। मैं वृन्दमाला के साथ अपनी स्वामिनी की सेवा करने वाली उसकी मित्र-सखी हूँ। वृन्दमाला अपनी स्वामिनी से क्षण-भर भी अलग नहीं रहना चाहती, इसलिए उसने मुझसे कहा–सखी सुमतिका, मन्त्रिराज के पास से मुझे बुलावा आया है, पर मुझ से तो जाया जायेगा नहीं, पर मैं और तू कोई दो नहीं हैं। इसलिए मेरे बदले तू जा और इस कारण में नहीं आई, इसलिए तुझे–अर्थात् मुझ सुमतिका को भेजा है। मैं और वह एक ही हैं। इसलिए आप जो आज्ञा एक को देंगे दूसरी जान जायेगी। आते ही मैं आपसे यह कहने वाली थी, पर बोलने का अवसर ही न मिला तो क्या करूँ ? अब अन्त में बोल सकी।”

मन्त्री को यह सुन बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसने हिरण्यगुप्त की ओर भी विचित्र दृष्टि से देखा। परन्तु कुछ विशेष न बोलते हुए उससे इतना ही कहा–“कोई बात नहीं। तू क्या अथवा वह क्या। वह तेरी मित्र है और यदि उसने तुझे भेजा है तो कोई हर्ज नहीं; किसी के

भी द्वारा मेरे कहे अनुसार प्रबन्ध कर दे, बस।"

"हाँ, हाँ, करूँगी, इसमें आप संशय न करें। अब आज्ञा चाहती हूँ।"

मन्त्री ने उसे आज्ञा दे दी, वह वहाँ से निकली तो मुरादेवी के मन्दिर की ओर न जाती हुई गंगा-तीर की ओर अग्रसर हुई।

अठारहवाँ परिच्छेद

अपराधी कौन?

मन्त्री राक्षस इस तरह दोनों कामों को इच्छानुसार होता देख अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। चन्द्रगुप्त सचमुच कौन है–उसका यह संशय दूर हो गया और मुरादेवी के महल में अपना कोई गुप्तचर न होने से वहाँ की बातों का कुछ, पता न लगता था सो, अब उसका प्रबन्ध भी कर दिया गया। मुरादेवी के एकदम निकट रहने वाली दासी ही मेरे अनुकूल हो गई। अब और क्या चाहिए? इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के पिता ने इतनी नम्रता के साथ पत्र लिखा है, इसलिए चन्द्रगुप्त की ओर भी ध्यान रखने की व्यवस्था हो जायेगी। इसी तरह के विचारों में वह उलझा हुआ था कि चोबदार ने आकर विनती की–"स्वामिन, बाहर कोई एक राजपुत्र आया है। उसका प्रतिहारी कहता है कि प्रद्युम्नदेव के कुमार चन्द्रगुप्त आपसे मिलने आये हैं। उसी के अनुसार मैं आया हूँ।" यह सुनते ही मन्त्री जल्दी से उठा और चन्द्रगुप्त को लाकर उच्चासन पर बैठाया तथा उससे आज इतने दिनों बाद इस ओर आने का कारण पूछा। तब कुमार चन्द्रगुप्त बोला–"मित्रवर, अभी कल ही पिताजी की चिट्ठी आई है कि मन्त्री जी के पास जाकर उनकी अनुमति से रहो, इसलिए मैं आया हूँ।" यह सुन मन्त्री कुछ सन्तुष्ट ही बोला–"कुमार, मुझे भी आपके पिता प्रद्युम्नदेव के पास से आज्ञापत्र आया है। आप जब तक यहाँ हैं, मेरे योग्य सेवा बताते रहें, मैं अवश्य करूँगा। प्रद्युम्नदेव के पास से पत्र आने की राह ही क्यों देखी ? कभी भी आपने मुझे किसी प्रकार की आज्ञा दी होती तो मैं करने के लिए तैयार ही था। आपकी सब मंडली कुशलतापूर्वक है न ?"

कुमार चन्द्रगुप्त ने "हाँ, पिताजी के पत्र में सबकी कुशलता लिखी है।" कहा और थोड़ी देर बाद राक्षस से छुट्टी ले चला गया। राक्षस अपनी ओर से बहुत सन्तुष्ट हुआ।

परन्तु चन्द्रगुप्त को जब से देखा तब से उसकी अवस्था कुछ चमत्कारपूर्ण हो गई। मुरादेवी और कुमार के चेहरे का इतना विलक्षण साम्य क्यों? यह विचार एक बार फिर उसके मन में खड़ा हुआ और उसने इस तरह उसका समाधान कर लिया कि प्रद्युम्नदेव और मुरा सगे भाई-बहिन हैं। फिर उसके भतीजे और उसके चेहरे में साम्य हो तो नवीनता क्या? पितृमुखी होगा।

इसी तरह की बातें सोच उसने अपना संशय दूर किया और उस दिन निश्चिन्त हुआ। अब उसे केवल एक ही चिन्ता थी, वह यह कि राजा धनानन्द राज-काज में ज़रा भी मन नहीं लगाते, यह अच्छा नहीं। उसका चित्त मुरादेवी की ओर से कैसे खींचा जाये। इसका मेरे पास कोई इलाज नहीं। और तो और, मेरा तो राजा तक प्रवेश भी नहीं है तथापि मुरा की दासी ही मेरी भेदिया है तो कोई-न-कोई युक्ति निकाल राजा से भेंट करूँगा और सब काम

सफल हो जायेगा। इसलिए अब इस बारे में अधिक सोचना व्यर्थ है, यह विचार कर वह वहाँ से अपने अन्य कार्यों की व्यवस्था करने के लिए उठा।

उसके कहे अनुसार हिरण्यगुप्त नित्य गुप्त रीति से सुमतिका से मिलने जाता। सुमतिका भी, उससे जो कुछ पूछता और जो कुछ न भी पूछता, बताती और हिरण्यगुप्त राक्षस के कानों तक सब बातें पहुँचा देता। उन वृत्तान्तों में मुरा के विरुद्ध कितनी ही बातें होतीं। एक दिन तो सुमतिका ने मन्त्रि-राज से मिलने की इच्छा प्रकट की और उसी के अनुसार राक्षस से उसके घर एकान्त में मिल उसने उसे समझाया कि मुरादेवी के मन में कोई बहुत ही बड़ा कृष्ण-काण्ड करने का विचार है। उसने कहा कि और नज़र रख यदि कोई विशेष बात मुझे मालूम हो गई तो मैं आपको सूचित करूँगी। उसने यह भी विनती की कि अब तक हुई बातें किसी अन्य के कानों में न पड़े। उसने कारण यह बतलाया कि अभी आपके कहने योग्य बात मेरे पास कोई नहीं है। केवल जितना संशय था यह आपसे कह दिया। राक्षस ने कितना ही खोद-खोदकर पूछा; पर उसका उत्तर एक ही था कि अभी यह कहना है कि अमुक तिथि को अमुक बात होगी, निश्चित नहीं है। जब किसी बात का पूर्ण विश्वास हो जायेगा तो आपको सूचित करूँगी। अन्त में राक्षस ने यह सोचकर कि इसकी मरजी के अनुसार ही होने देना उचित है, उसे जाने दिया। राक्षस के किसी गुप्तचर ने यदि ऐसी अधूरी बात कही होती तो वह उसे तुरन्त दण्ड देता। पर, सुमतिका से तो उसे बहुत काम निकालना था और दूसरे उसे दण्ड देने का कोई अधिकार उसे था भी नहीं। ऐसी अवस्था में उसे दण्ड देना तो दूर की बात थी ही, उसे त्रस्त करके कोई बात पूछना भी उचित न था। इसलिए राक्षस ने उसे शान्ति के साथ जाने दिया। सिर्फ उसने हिरण्यगुप्त को अच्छी तरह समझाकर कह दिया कि सुमतिका पर नज़र रखो और नित्य यह जो कुछ कहे, मुझसे आकर कहते जाओ। सुमतिका के जाने के बाद राक्षस को विशेष चिन्ता हुई, यह कहने की ज़रूरत नहीं है।

मुरादेवी भयंकर कृत्य करेगी–इसका मतलब क्या? वह किसी को विष देगी क्या? किसी को अर्थात् राजा धनानन्द ही को विष देगी क्या? यह संशय उसके मन में आते ही उसे विशेष चिन्ता ने आ घेरा। यदि मेरा संशय सच होगा– मुरा का और कुछ करना राक्षस को सम्भव ही नहीं दिखा– तो इस भयंकर कृत्य को कार्य रूप में परिणत न होने देने के लिए मुझे क्या करना चाहिए–यही उसकी समझ में न आया। राजा से किसी तरह मिल उसे इस संकट से बचने के लिए कहा जाये, यही एक उपाय उसे सम्भव दिखा। और मिलने का कारण कोई महत्वपूर्ण राज-कारण है, ऐसा ही कहना चाहिए। यही एक उपाय राजा तक पहुँचने और उसे सावधान करने का है! न मिलने से राजा पर क्या संकट आये और क्या न आये! ऐसी स्थिति में कोई महत्वपूर्ण राज-कार्य निकालूँ तो राजा मुझसे तुरन्त मिलेगा। उसकी जान पर आफ़त है–यह यदि मुझे मालूम है तो उसे सूचित करना और सावधान करने पर भी यदि वह होशियार न हो तो स्वयं कोई युक्ति निकालकर उसकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। ऐसा विचार कर उसने कितनी ही युक्तियाँ सोचीं; पर वे उसे ठीक न जचीं। “कोई भी महत्वपूर्ण कार्य हो तो तुम–तुम्हीं कर लो, तुम्हें अधिकार है।” ऐसा संदेश महाराज के पास से इसके पास कितनी ही बार आया था। इसलिए अब उसे राजा से मिलने की एक ही युक्ति गाँठना सम्भव दिखा। कोई परचक्र आने वाला है, ऐसा मेरे गुप्तदूतों ने मुझे सूचित किया है–और उसी के बारे में मैं आपसे मिलकर बातें किया चाहता हूँ। ऐसा

कहलाने पर राजा अवश्य सावधान होगा–दूसरी युक्ति भी नहीं है। अब यह युक्ति करनी चाहिए–पर कैसे? इस बात से सम्बन्धित संदेश अथवा पत्र किसके हाथ भेजा जाये? यह जानकर कि मेरे नये गुप्तचरों में कोई इस योग्य नहीं है, उसने हिरण्यगुप्त द्वारा सुमतिका को बुलाने की व्यवस्था की। सुमतिका योग्य समय पर आई; तब राक्षस ने उससे कहा–"अब तुझे एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य करना चाहिए; यदि करेगी तो तुझे बहुत ही मूल्यवान् पुरस्कार दूँगा।"

"आप जो कुछ आज्ञा देंगे, वह मैं जी-जान से करने के लिए तैयार हूँ। मुझे पारितोषिक अथवा अन्य किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। आप जैसे स्वामिनिष्ठ मन्त्री की आज्ञा का पालन कर उसे सफलीभूत बनाने में जो मुझे आनन्द प्राप्त होगा, वही पारितोषिक के समान है।" इस प्रकार उसने युक्तिपूर्ण तथा चतुरता से भरा उत्तर दिया। यह सुन राक्षस एकदम ठण्डा हो गया; परन्तु दूसरे ही क्षण फिर उसे पारितोषिक का लालच दिलाता हुआ बोला–"कार्य कुछ विशेष नहीं है। यह पत्र अतिशय गुप्त रूप से–मुरादेवी को भी न जताते हुए–महाराज के हाथ में दे सकती हो, तो देख! यदि ऐसा तूने कर दिया और राजा ने मुझसे भेंट करने के लिए मुझे बुला लिया तो तुरन्त ही तुझे तेरा पुरस्कार मिल जाएगा। काम ऐसा है कि तू सहज ही में कर देगी..."

"मन्त्रिराज, आपकी आज्ञा सिर आखों पर है, यह बात मैं पहले ही कह चुकी हूँ। इसलिए यह काम करने के लिए मैं अपनी जान भी लड़ा दूँगी। पर इतना अच्छी तरह ध्यान में रख लीजिए कि जितना सहज आप इस काम को समझे बैठे है, वास्तव में यह इतना सहज नहीं है। एक घंटा क्या, एक क्षण भी मुरादेवी महाराज के पास से अलग नहीं होती। और उनकी नज़रों से छिपकर महाराज से कुछ कहना, यह तो असम्भव है। वह पास न रहे–प्रथम ऐसा अवसर तो आता ही नहीं और कदाचित् आ भी जाये तो देवी की कोई-न-कोई दासी महाराज के पास रहती ही है। इतने ही समय में महाराज से किसी की कोई बात होती भी है तो महाराज देवी के आते ही उससे सब कुछ कह देते हैं। आपसे मैं यह सब इसलिए कह रही हूँ कि आप जान जाएं कि कार्य उतना सरल नहीं है, जितना आप समझते हैं। प्रयत्न करना मेरे हाथ है, पर सिद्धि कैलाशनाथ के हाथ।"

यह कह सुमतिका चुप हो गई। मन्त्री राक्षस ने उससे पुन: कहा, "किसी भी तरह यह पत्र महाराज के हाथों तक पहुँचा दे। आगे हम देख लेंगे।" यह कह उसके हाथ में पत्र लाकर दिया।

वह पत्र लेकर जब सुमतिका राक्षस के घर से निकली तो तुरन्त मुरादेवी के महल की ओर नहीं गई, पर कहीं और ही गई। वहाँ कुछ देर बैठी और फिर वहाँ से उठकर मुरोदवी के मन्दिर की ओर गई। हिरण्यगुप्त रास्ते में उससे मिला और सहज भाव से उसने उससे पूछा–"मन्त्रिराज का पत्र लेकर अपनी स्वामिनी के महल की ओर न जाकर और कहाँ गई थी?" इस पर सुमतिका ने हँसते-हँसते उत्तर दिया–"हिरण्यगुप्त, तू मन्त्रिराज का मुख्य गुप्तचर कहलाता है और उस पर भी ऐसा प्रश्न पूछता है–यह तो सचमुच नवीनतापूर्ण बात है। अरे, मन्त्रिवर के घर से यदि मैं तुरन्त स्वामिनी के घर की ओर जाती तो किसी को भी यह बात स्पष्ट मालूम न हो जाती कि मैं मन्त्रिराज के पास किसी गुप्त कार्य से गई थी और

अब चोरी-चोरी लौट रही हूँ? इसलिए मैं मन्त्रिराज के घर से चुपके से निकलकर अन्य दो स्थानों और कैलाशनाथ के मंदिर में गई, जिससे किसी प्रकार का संशय न हो और देखने वाला समझे कि मैं यों ही घूम रही हूँ। लेकिन कुल मिला-जुलाकर मुझे एक बात मालूम हो गई कि तेरी दृष्टि सदा मुझ पर रहती है। यदि ऐसा ही हुआ तो मैं पुन: तुम लोगों के पास न आऊँगी। मुझे गरज़ नहीं है। मन्त्रिराज के प्रति मेरे हृदय में अपार भक्ति और आदर है, वे जो कुछ करेंगे वह राजा और युवराज के भले के लिए ही करेंगे, यह सोचकर मैंने कार्य करना स्वीकार किया। नहीं तो मेरा क्या काम रुका था? इसलिए यदि मुझ पर तुम्हारा और उनका विश्वास न हो, तो मैं बाज़ आई कार्य करने से। यह लो अपना पत्र और उन्हें ले जाकर दे दो।" ऐसा कह उसने वह पत्र जो उसे मन्त्री ने दिया था, उसके सम्मुख रख दिया। इस समय उसने ऐसे क्रोध का आविर्भाव किया था कि हिरण्यगुप्त घबरा उठा। उसने 'हाँ-हाँ' करते हुए किसी तरह उसे मनाते हुए पत्र उसे वापस दे दिया। सुमतिका जब तक हिरण्यगुप्त के सामने रही, तब तक वैसा ही क्रूद्ध भाव बनाये रही, पर उसके सामने से हटते ही हँसती हुई वहाँ से अपनी स्वामिनी के मन्दिर की ओर गई। उसने क्या युक्ति की, यह तो उसे ही मालूम; पर दूसरे ही दिन महाराज के पास से राक्षस के पास बुलावा गया। संदेश पाते ही राक्षस ने सोचा कि सुमतिका बड़ी चतुर दीखती है, उसने किसी तरह महाराज के पास मेरा पत्र पहुँचा मुझे आने का बुलावा तो दिलवाया। इसलिए सुमतिका मुरा के महल में मुझे एक अच्छी मददगार मिली है; यह सोच वह आनन्दित हुआ। दूसरे दिन महाराज से मिलने पर उन्हें किस प्रकार सावधान किया जायेगा कि उनकी जान पर संकट है आदि, यह सब बातें वह सोचने लगा।

दूसरे दिन योग्य समय पर महाराज ने मन्त्री से भेंट की। उस समय महाराज ने जो पहला प्रश्न किया, वह यह था, "आपने जो परचक्र-भीति का पत्र लिखा, वह किसके द्वारा उत्पन्न किया हुआ है। किसकी मृत्यु इतनी नज़दीक आई है कि उसने मगध देश की ओर वक्रदृष्टि से देखने की दुर्बुद्धि पैदा की?"

मैंने जो कुछ महाराज से भेंट करने के लिए लिखा है उसके सम्बन्ध में महाराज पूछेंगे ही, यह उसे पहले ही से मालूम था। उस वक्त उससे यह कहना कि आपका दर्शन दुर्लभ हो गया था, इसलिए पत्र लिखा, उचित न होगा। इसलिए उसने उत्तर पहले ही से सोच रखा था। और अब वह प्रश्न सुनते ही बोला–"महाराज, मगध देश की ओर वक्रदृष्टि से देखने वाला है कौन इस भारतखण्ड में? पर म्लेच्छाधिपति पर्वतेश्वर हमेशा पुष्पपुरी को हराने के लिए गड़बड़ाता रहता है और आजकल तो उसकी क्रियाशीलता बहुत ही बढ़ती जा रही है। उसने युद्ध की थोड़ी-बहुत तैयारियाँ भी शुरू कर दी हैं, ऐसा मैंने सुना है। मेरे गुप्तचर ने मुझे यह बतलाया, इसलिए, मैंने लिखकर महाराज के कानों तक पहुँचाना उचित समझा जिससे पर्वतेश्वर का घमण्ड तोड़ने का समय कभी-न-कभी तो अवश्य हो जाएगा। वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इस वर्ष के अन्दर ही वह कुछ गड़बड़ उत्पन्न करेगा, सो दीखता है। परन्तु महाराज, मैं मुख्यत: परचक्रभीति के कारण नहीं आया हूँ, बल्कि अन्त:शत्रु के सम्बन्ध में कुछ कहने आया हूँ।"?

"अन्त:शत्रु! अन्त:शत्रु कौन उत्पन्न हो गया है?" महाराज ने हँसते-हँसते पूछा।

“कौन है–यह तो मैं आज नहीं बता सकता; पर आप सावधानी के साथ रहें।”

“हाँ, मुझे भी उसकी कुछ आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। और मैं जागरूक हूँ।”

“महाराज जागरूक हैं तो फिर क्या चाहिए? फिर डरने का कारण नहीं है।”

“मैं भलीभाँति जागरूक हूँ। और मेरे साथ ही मेरे अन्य साथी भी जागरूक हैं। मुझे तो वैसा प्रत्यक्ष अनुभव ही हो गया तो अब शंका कैसी?”

“क्या महाराज ने अनुभव करके भी अपराधी को क्षमा कर दिया” ?

“हाँ! चोर रंगे-हाथों पकड़ा जाये, इसलिए।”

“पर महाराज, शत्रु निकट है और आपने उसे सज़ा न देते हुए क्षमा कर आँखें बन्द कर लीं। तब तो कभी न मालूम होते हुए ही घात होगा, इसलिए कहता हूँ कि क्षमा न किया जाये।”

“आँखें बन्द कर देने से घात होगा न? पर दो की जगह चार नेत्रों के जाग्रत रहने से कैसे घात होगा?”

“शत्रु एकदम निकट है, यह भी महाराज को मालूम है, तो फिर?”

“हाँ, हाँ! अच्छी तरह मालूम है। और मालूम है अथवा नहीं, यह भी आपको शीघ्र मालूम हो जायेगा।”

“महाराज, इतनी देर राह क्यों देखें? यदि संशय हो गया तो उसी संशय के आधार पर उस व्यक्ति को दूर कर दिया जाये।”

“संशय मात्र से दण्ड देना अच्छा नहीं, इसका मुझे अनुभव है। इसलिए एक बार हुआ प्रमाद फिर न हो, ऐसी मेरी इच्छा है। इसके अलावा जिस मण्डली को अपराधी को दण्ड देने के लिए उद्यत होना चाहिए था, वही अपराधी को क्षमा करने के लिए बारम्बार आग्रह कर रही है।”

“महाराज, आज्ञा देंगे तो यह सेवक तत्काल अपराधी को दूर कर देगा।”

“आपके हाथों दूर होने वाली मंडली नहीं है। अस्तु, मन्त्रिराज, प्रिय मुरा से मैं काफी देर दूर रहा हूँ इसलिए अब यदि कोई विशेष कार्य न हो तो छुट्टी लें। मेरी जान को कुछ संकट है, यह आपको मालूम हो गया, इससे प्रिय मुरा को भी पर्याप्त सन्तोष होगा। इतने निकट-सम्बन्धी अपराधी को बिना कुछ समझे-बूझे दण्ड न दिया जाये, यह उसकी इच्छा है, इसलिए मैंने भी जल्दी नहीं की। अमात्यराज, आपने तो रत्नों की माला को व्यर्थ कहकर फेंक दिया था; पर उसका सच्चा मूल्य क्या है, यह अब प्रतीत हुआ। शिव! शिव! आपके हाथों कभी-कभी कैसे प्रमाद होते हैं? मेरे हाथ से हुए प्रमाद को ठीक करने के लिए मुझे अवसर मिला, मैं अवसर को पाकर ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ! उस ईश्वर ने मुझे मेरे कर्मों का प्रायश्चित न दे फिर सुख ही दिया। और चमत्कार देखिए! जिसे आप और हम नवरत्न की माला समझते थे, वही कालकूट निकली–ऐसा अनुभव हुआ। उसने मेरे हाथों बालहत्या करवाई–स्वयं के पुत्र की हत्या करवाई और स्त्री हत्या–संततिहत्या करवाने का भी प्रसंग

लाई और इन कर्मों के पश्चाताप-स्वरूप जब मैं कुछ सुधार की ओर झुका तो उसने मेरी ही जान लेनी चाही।”

यह सुन राक्षस एकदम चकित हो महाराज की ओर पागलों की भाँति देखने लगा !

उन्नीसवाँ परिच्छेद

उपक्रम

सेनापति और चाणक्य में क्या बातें हुईं और सेनापित को चाणक्य-द्वारा क्या नाई बातें ज्ञात हुई होंगी, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु नदी के तीर पर जाकर जब से दोनों में गुप्त बातें हुईं तब से सेनापति की चित्तवृत्ति बहुत ही विलक्षण हो गई तथा चाणक्य के प्रति उसके हृदय में सम्मान पहले से दस गुना हो गया। चाणक्य एक दिन भागुरायण से बातों के सिलसिले में बोला था कि राक्षस-स्वामिनिष्ठ है, इसमें शंका नहीं; परन्तु वह सत्यनिष्ठ है या नहीं, इसके बारे में मुझे शंका है। और यह बात भागुरायण को सदा याद रहती और शायद इसी से प्रभावित हो उसने कई बार चाणक्य से कहा था–"आप जो कुछ कहते हैं, वह मुझे अक्षरश: सत्य मालूम होता है। मंत्री स्वामिनिष्ठ है, पर सत्यनिष्ठ नहीं, और जो सत्यनिष्ठ नहीं, वह स्वामिनिष्ठ नहीं–ऐसा कहना भूल नहीं है। इसीलिए सत्य पक्ष के लिए उससे कपट किया जाये तो भी कोई हर्ज नहीं।"

भागुरायण का यह कहना चाणक्य को आनन्दप्रद लगता। भागुरायण जो कि राज्य का एक प्रकार का आधार है, मेरे हाथ आ गया। सब व्यूह जिस आधार पर रचना है, वही अन्दर-ही-अन्दर मिल गया है तो फिर और क्या चाहिए? परन्तु आगे का उपक्रम जितने शीघ्र आरम्भ करना चाहिए उतने शीघ्र भागुरायण नहीं कर रहा है, यह देखकर उसे थोड़ा बुरा अवश्य लगा। राजनीति का तत्त्व ही यही है कि जो कार्य ढीठपने और कुठार-प्रहार से करना हो, उसमें देर न होनी चाहिए। गुप्त कार्य कितने दिनों तक गुप्त रह सकेगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं। जब तक बात स्फोटित न हो तभी तक उसकी सिद्धि विशेष सम्भव रहती है। एक बार विस्फोट हो, शत्रु चौकन्ना हो जाये तो उसका उपयोग क्या रहा? फिर तो सिद्धि पाने की आधी आशा छोड़नी पड़ती है। यह सब बातें चाणक्य भागुरायण से कही थीं, परन्तु कपट-रचना ही से। शत्रु-पक्ष को अपने राज्य में बुलाना उसे न जँचता। शत्रु की शक्ति का लाभ उठाते हुए उसके पैर में चोट न आये–ऐसा प्रयत्न जो हम करना चाहते हैं, अगर असफल रहा तो उसमें रहा ही क्या? सब कार्यवाही व्यर्थ होगी। इसके अतिरिक्त धनानन्द को गद्दी पर से उतार चन्द्रगुप्त को बैठाने के लिए मैं तैयार हूँ, ऐसा भी भागुरायण ने चाणक्य से कहा था, तथापि वह हृदय से इस बात को करने के लिए तैयार न था। इन दोनों बातों को कैसे मिलाया जाये, इसी विचार में वह कुछ कार्य न कर पाता। चाणक्य को यह अच्छा न लगता, तथापि जिसके हाथों काम निकालना है उसे बहुत उकसाने पर उसका यह कहना सम्भव है कि "मुझे कुछ नहीं करना है। जो कुछ है, सब ठीक है।" इन सब बातों को सोचकर ही चाणक्य कार्यवाही करता था। धनानन्द को राजगद्दी से दूर ही नहीं करना, बल्कि उसके पुत्रों का नाश कर, नन्द-वंश का विनाश कर, चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बैठाने

की जिसकी प्रतिज्ञा हो, उसका कुछ भी करना अतिशयोक्ति न होगी। योग्य अवसर और योग्य साधन मिलने पर चाणक्य का कार्य सिद्ध ही है। कितना भी हो, भागुरायण के मन में धनानन्द के प्रति मान था और वह उसे अपना राजा ही समझता था। उसे एकाएक गद्दी पर से उतारकर चन्द्रगुप्त को बैठाना उसे अच्छा न लगता, यह स्पष्ट ही है।

एक दिन तो उसके मस्तिष्क में एक नया ही विचार उत्पन्न हुआ और यह विचार चाणक्य को बहुत ही अच्छा लगेगा, यह सोचकर वह चाणक्य के पास आकर बोला–"मुनि चाणक्य, मुझे आज एक विचार सूझा है जिससे आपका इष्ट कार्य बहुत ही शीघ्र सिद्ध हो जायेगा। मुझे तो विश्वास है कि आपको मेरा विचार मान्य होगा, क्योंकि मेरे ख्याल में उस विचार से कार्य करने में पूर्ण सिद्धि ही है।"

"सेनापति" चाणक्य आश्चर्य से बोला–"आपके मन में आया विचार अमोघ होगा, क्या इसका मुझे अनुभव नहीं? क्या विचार है, वह तुरन्त कहें। मैं सुनने के लिए बहुत ही उत्सुक हूँ।"

भागुरायण चाणक्य की बात सुनकर तुरन्त बोला–"विचार केवल इतना ही है कि आपने मुझे जो गुप्त बात बतलाई है, वह महाराज के कान तक पहुँचा दी जाये। महाराज का सम्पूर्ण प्रेम मुरादेवी पर है, यह बात जगतविख्यात है। इसलिए जब उन्हें मालूम होगा कि चन्द्रगुप्त वास्तव में कौन है, तो ये आनन्दित हो सुमाल्य को दूर कर नये सिरे से चन्द्रगुप्त को यौवराज्याभिषेक करेंगे। ऐसा हो गया तो पर-लोगों को अपने राज्य में लाने की जरूरत न रहेगी और उससे कदाचित् भय भी उत्पन्न नहीं होगा।"

भागुरायण के बोलते समय चाणक्य के माथे के बल चढ़े हुए थे और वह आँखों को सिकोड़कर एक ओर देख रहा था। परन्तु यह सब उस समय हुआ जब भागुरायण अपने ही झोंके में था। उसे अपने ही विचार में आनन्द आ रहा था और उसी में कुछ ऐसा भान था कि वह यह सब लक्ष्य न कर पाया। चाणक्य ने भी उसका बोलना समाप्त होने पर आनन्द का भाव जताकर, हँसकर ताली बजाते हुए कहा–"वाह! सेनापति, आप बहुत ही नीति-विशारद हैं। राक्षस के स्थान पर आपको होना चाहिए था, क्या मेरा यह बार-बार सोचना यों ही था? आपका विचार बहुत अच्छा है। पर उसे पूरा करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, यह तो आप समझते ही होंगे। यदि सावधानी से कार्य न हुआ तो कुछ-का-कुछ हो जायेगा। पर सेनापति, राक्षस हमारे कार्य में विघ्न नहीं उपस्थित करेगा, क्या आपको कैसा जँचता है? सुमाल्य के प्रति राक्षस के हृदय में भक्ति है, उसे दूर कर चन्द्रगुप्त को–जिसे वह दासी-पुत्र समझता है–गद्दी पर बैठाने पर क्या वह शान्त हो उसकी सेवा करने लगेगा? यदि वह सम्भव होता तो प्रथमत: ही उसने उसको संसार से उठा देने की योजना क्यों रची होती? राक्षस चन्द्रगुप्त का पक्ष नहीं लेगा, इसका एक और भी कारण है। चन्द्रगुप्त सुमाल्य की तरह सीधा और मूर्ख नहीं है। वह तो अपनी माता ही के समान राज-कार्य करेगा और राजा का उस पर प्रेम रहेगा तथा इसी कारण कब मेरा अपमान हो जायेगा–क्या यह भय राक्षस को सदा न लगा रहेगा? राक्षस स्वामिनिष्ठ है, यह ठीक है, किन्तु जब उसकी एक न चलेगी, तब उसकी स्वामिनिष्ठा कहाँ जायेगी–वह जहाँ की तहाँ धरी रह जायेगी, यह कहना कठिन नहीं। हमें जो मुख्य काम करना है वह तो यही है कि

राक्षस के प्रति राजा तथा अन्य मान्य लोगों से अप्रीति उत्पन्न हो जाये। यह काम जब तक न हुआ, तब तक अपने सब कार्य व्यर्थ हैं। अन्त में हम राक्षस को अपने पक्ष में कर लेंगे। परन्तु जब तक वह वश में न होगा, जब तक उसे यह अच्छी तरह न मालूम हो जायेगा कि जैसा नीतिशास्त्रज्ञ वह है वैसा ही सेनापति भागुरायण भी है।"

चाणक्य की बात सुन भागुरायण एकदम चुप बैठ गया। राक्षस हमारा कार्य सिद्ध नहीं होने देगा, हमारी कार्यवाही चल रही है, इसकी भनक पाते ही वह चुप न बैठा रहेगा, इसलिए जब तक वह स्वस्थ है–इसी बीच में उसे कोई यत्न कर एकदम चकित करके छोड़ना चाहिए। जब तक उसकी आँखें खुली नहीं हैं और जब तक वह अन्धा बना बैठा है, तभी तक कोई कार्यवाही करके सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए, ऐसा उपदेश चाणक्य ने कितनी ही बार भागुरायण को दिया था; परन्तु भागुरायण इस सोच में पड़ जाता था कि जो कुछ मैं करूँगा, वह राजद्रोह तो नहीं होगा? इसी कारण वह अन्य उपायों को सोचने के प्रयत्न में रहता है। ऐसा ही उसका एक विचार ऊपर बताया जा चुका है। भागुरायण मेरा बोलना सुन चुप हो गया है, यह देख उसने कितनी ही और भी बातें कह उसे यह बात समझाने की कोशिश की कि जब तक राजा तथा अन्य लोगों का राक्षस पर संशय न हो जायेगा तब तक कार्यसिद्धि असम्भव है। यह काम एक बार हो जाये तो उसे अपने पक्ष में आने अथवा चुपचाप बैठने के और कोई द्वार न मिलेगा। चाणक्य के बोलने का ढंग इतना सुन्दर था कि भागुरायण के मन में यह बात आ गई कि राक्षस के प्रति लोगों में तथा राजा में संशय उत्पन्न किये बिना काम न चलेगा। अब भागुरायण के हाथों शीघ्र कोई कार्य करवाना चाहिए, नहीं तो इसी प्रकार के विचार आकर उसके मन को अस्थिर करते रहेंगे। कोई प्रस्ताव रख देने पर उससे पीछे न हटा जायेगा। इसलिए अब तुरन्त ही भागुरायण से बोला–"सेनापति, दिन जाता है तो एक ही, परन्तु एक-एक करके कितने दिन निकल जाते हैं, यह सोचकर आँखें खुल जाती हैं। इसके अतिरिक्त जो काम हम करना चाहते हैं उसका सिद्ध न होना भी सम्भव है। आप जैसे विद्वान् के हृदय में कितने ही विचार उठते हैं और उन विचारों में भी नाना प्रकार के उपाय सूझेंगे। परन्तु कार्यकर्ता को तो विचार की सीमा को बाँध कार्य करने की ओर झुकना चाहिए। यदि आपकी अनुमति हो तो मैं आज ही कार्य आरम्भ करता हूँ। मन्त्री का अत्यन्त–अत्यन्त विश्वासी सेवक–हिरण्यगुप्त जो कि उसका मुख्य गुप्तचर है–फूट गया है... "

"हिरण्यगुप्त फूट गया है?" भागुरायण ने एकदम आश्चर्यचकित हो बीच ही में कहा–"हिरण्यगुप्त का फूटना तो एक बहुत ही आश्चर्यपूर्ण बात है। वह मन्त्री का सबसे बड़ा सेवक है। वह फूट गया? उसे आपने फोड़ा? "

"सेनापति, ऐसे हलके आदमी को फोड़ने में क्या धरा है! मुरादेवी के अन्तर्गृह का समाचार पाने के लिए मन्त्री ने सुमतिका को फोड़ने की कोशिश की, परन्तु उसने स्वयं फूटने की तो क्या बात, हिरण्यगुप्त को ही फोड़ डाला। वह अब उसके कारण मेरे भजन में ऐसा लगा है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। मैं जो कहूँगा, वह कार्य सुमतिका उसके हाथों करवा लेगी। कनक और कान्ता। ये दोनों चीज़ें मनुष्य के हाथ से कब क्या करा लें, इसका कुछ निश्चय नहीं है। हिरण्यगुप्त को सुमतिका ने इतना क्षुब्ध कर रखा है कि कुछ कहा ही

नहीं जा सकता। कुत्ते की तरह वह उसके पास-पास रहता है! राक्षस के सब पत्र वह लिखता है और राक्षस की मुद्रा भी उसी के पास रहती है। पर्वतेश्वर का नाम का पत्र–जो हम राक्षस की ओर से भेजना चाहते हैं–उसी के द्वारा तैयार कराऊँगा। राक्षस की मुद्रा भी वही लगा कर देगा! वह मेरे फन्दे में आ गया तो गुप्त रूप में उसी के हाथों पर्वतेश्वर को पत्र भी भिजवाऊँगा। केवल आपकी अनुमति की आवश्यकता है। सेनापति, हिरण्यगुप्त के समान व्यक्ति जब तक अपने वश में है, तब तक ऐसे कार्यों में क्या धरा है। पर वे क्या हमेशा हमारे वश में रहेंगे। इसके बारे में क्या कहा जा सकता है? इसलिए जो कुछ करना हो, तुरन्त किया जाये। सुमतिका द्वारा जो दूसरा व्यूह रचा गया है, उससे राक्षस एकदम अन्धा हो गया है। उसे राजा की जान बचाने के विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझ रहा है। इसलिए जब तक वह अन्धा है तभी तक तो कुछ हो सके, करना चाहिए, बाद में यदि उसे हमारे कार्य की तनिक भी भनक मिल गई तो सब गुड़-गोबर हो जायेगा। हिरण्यगुप्त आज हमारे इतने अनुकूल हो गया है कि हमारे कहते ही पत्र लिख राक्षस की मुद्रा ठोंक देगा। वह मुद्रा-युक्त पत्र यदि पर्वतेश्वर को मिल गया तो वह आनन्द से नाच उठेगा। बोलिए, आज इस प्रमाण से सब कर लाऊँ? आपकी अनुमति है? आपने जो सत्यपक्षाभिमान पकड़ा है, वह आगत हो तो मैं आगे उपक्रम करूँ? यदि न हो, तो मैं निरपेक्ष ब्राह्मण हूँ! चुपचाप अपने आश्रम में बैठ शंकर का ध्यान करूँगा। परन्तु अपनी नीतिज्ञता के घमण्ड में फूले हुए राक्षस को मुँह की खाते देखकर जगत को यह दिलखाने की इच्छा है कि स्वामिनिष्ठा, सत्यनिष्ठा और सत्य पक्षपात है क्या वस्तु...? ”

“आर्य चाणक्य, आपको सूझ है, पर क्या मुझे नहीं है? मैं आपका शिष्य हूँ। आज से आप जो कहेंगे वही मैं करूँगा। ऐसा मैंने आपको उस दिन ही–जिस दिन आपने पर-तीर पर ले जाकर चन्द्रगुप्त के विषय में मुझे कुछ गुप्त बातें बतलाई थीं–कह दिया था। मन में नाना प्रकार के जो विचार आते हैं, मैं उन्हें आपके सम्मुख डाल देता हूँ, इससे मुझे एक प्रकार की शान्ति मिलती है। इसलिए मैंने आज ये सब बातें कहीं। पर आपके कथनानुसार उसमें कठिनाइयाँ अवश्य हैं। अब वह विचार ही छोड़ दें। मैं आपके विचार के विरुद्ध ज़रा भी नहीं हूँ!”

भागुरायण ने यह सब बहुत आतुरता और सच्चे मन से कहा। यह देख आर्य चाणक्य को बहुत ही सन्तोष हुआ। इसलिए इनकी मन:स्थिति का तुरन्त लाभ उठाना चाहिए। यह ऐसा पुरुष है कि एक बार क़दम रखकर उसे पीछे नहीं हटा सकता। ऐसा सोच उसी दिन उसने हिरण्यगुप्त को बुलवा पर्वतेश्वर के नाम पत्र लिखवा अपने एक बहुत ही विश्वासी मित्र सिद्धार्थक के हाथ पर्वतेश्वर के यहाँ भिजवा दिया।

इस पत्र के भेजने के बाद दोनों इस बात के लिए बहुत ही उत्सुक थे कि देखें पर्वतेश्वर के पास से क्या उत्तर आता है। पत्र में ऐसा ही लिखा हुआ था कि अगर पत्र का कोई उत्तर भेजना हो तो इसी मनुष्य द्वारा भेजा जाये, अपने गुप्तचर द्वारा नहीं, क्योंकि बात किसी को भी मालूम नहीं होनी चाहिए कि आपके पास से मेरे पास गुप्तचर आते हैं। यह बातें कितनी नाजुक हैं, यह तो आप जानते ही हैं। मैं यह पत्र बौद्धभिक्षु के हाथ भेज रहा हूँ, इसका कारण यही है कि इन पर लोगों का शक नहीं हो सकता, क्योंकि इनका काम ही यहाँ से

वहाँ घूमना है और इसका सम्बन्ध राज-कार्यों से है, इसका कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता। इन्हें गुप्तचर समझना तो दूर की ही बात है। इस सिद्धार्थक के अलावा किसी अन्य के हाथ कोई बात आई तो उसका कुछ भी उपयोग नहीं है। सिद्धार्थक विश्वासी पुरुष है, इस पर आप संशय न करें...। ”

पत्रोत्तर तथा भेजे हुए मनुष्य के सम्बन्ध में पहले सब स्पष्ट लिखा था और इसके बाद जो लिखना था, लिखा हुआ था। भागुरायण रोज़ चाणक्य के पास आता और कहता था कि पत्र पहुँचा होगा तो पर्वतेश्वर ने उस पर विश्वास किया होगा या नहीं; और विश्वास किया होगा तो युद्ध करने आयेगा या नहीं; अगर वह आ गया तो लोगों को राक्षस के विरुद्ध किस तरह किया जायेगा, आदि। जब जहाज़ पानी में छोड़ा गया है तो बिना डूबे उसे पार लगाना ही है, यही बात भागुरायण सोचता था। भागुरायण चाणक्य की एक दृष्टि में अंकित हो गया।

परन्तु चाणक्य को यही एक हेतु नहीं साधना था। मुरादेवी द्वारा उसकी प्रतिज्ञा–नन्दराज को मारने की–सच करनी थी और राक्षस को नित्य किसी-न-किसी चिन्ता में डुबाये रखना था। यदि राक्षस को यह मालूम हो गया कि उसे कोई फँसा रहा है तो सब व्यूह नष्ट हो जायेगा, इसलिए उसके मन को व्यावृत और विश्वस्त रखना आवश्यक है। मुरादेवी की प्रतिज्ञा अभी तक चाणक्य ने भागुरायण को मालूम न होने दी थी। उसी प्रकार उसने अपना असली परिचय और मुख्य उद्देश्य भी छिपा रखा था। चन्द्रगुप्त वस्तुत: कौन है तथा उसे वह क्यों लाया है, बिना यह बात बतलाये भागुरायण को अपनी ओर झुकाना सम्भव ही न था। मगधराज के सेनापति अथवा मन्त्री, दो में से बिना एक के हाथ आये काम ही नहीं सकता, यह वह अच्छी तरह जानता था। नन्द का बुरा राक्षस तो कभी नहीं चाह सकता, क्योंकि वह पक्का स्वामिनिष्ठ है। इसलिए राक्षस को अपनी ओर झुकाने का प्रयत्न करना मृगतृष्णा में फँसाना था। इसीलिए चाणक्य ने यह विचार ही अपने मन में न आने दिया। दो अधिकारियों में स्पर्द्धा का प्रादुर्भाव कर एक को दूसरे के विरुद्ध करना सरल और अमोघ है। इसलिए उसने यह साधन प्राप्त करने के लिए भागुरायण को अपनी ओर झुकाने का प्रयत्न किया, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि भागुरायण मुरा और उसके पुत्र का साथ देने के लिए शीघ्र तैयार हो जायेगा। और उसे अपने प्रयत्न में कितनी सहायता मिली, यह तो पाठक जानते ही हैं।

बीसवाँ परिच्छेद

अपने विरुद्ध

अपने विरुद्ध दूसरी ओर कैसे जाल रचे जा रहे हैं, इसकी बेचारे राक्षस को बिल्कुल खबर न थी। यह सच है कि मन्त्री बहुत ही चतुर और जागरूक था। पर मनुष्य के ऊपर जब वर्षों से कोई संकट नहीं आता तो वह शिथिल पड़ जाता है। उसी प्रकार राक्षस भी ढीला पड़ गया था। उसे चिन्ता थी तो केवल राजा धनानन्द के विषय में। वह राजकार्य नहीं देखता था, इसकी राक्षस को इतनी चिन्ता न थी; पर उसका सदा मुरा के रंगमहल में पड़े रहना और विलास में डूबे रहना उसे पसन्द न आता। किसी अन्य राजा की ओर से पाटलिपुत्र पर आक्रमण हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। अपने जीवित रहते कोई राजा इस कुसुमपुर की ओर वक्रदृष्टि से देख सकता है, यह बात स्वप्न में भी लाने योग्य नहीं है; राक्षस को यह विश्वास था। उसी प्रकार अपने जाग्रत रहने पर अन्दर-ही-अन्दर अथवा नगरी में भी कोई गर्दन नहीं उठा सकता हो, यह भी उसे असम्भव दीखता था। ऐसी स्थिति में जब एकदम गुप्त रूप में सुमतिका ने उससे यह कहा कि मुरादेवी द्वारा राजा की जान को भय है, तो उसकी कैसी स्थिति हुई होगी। इसकी कल्पना ही की जा सकती है। उस पर भी राजा से भेंट कर उसने जब बातें कीं तो उसे ज़बरदस्त धक्का लगा और वह जाग्रत हो उठा। जब वह राजा को मुरा की ओर से सावधान करना चाहता था, तब राजा का सन्देह किसी दूसरी मंडली पर जान उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ। परन्तु यह आश्चर्य अधिक देर तक न टिका। अपने कार्यों को राजा की नज़रों से ओट में रख मुरा राजा को फँसाती तो न होगी? और अपने पर राजा संशय न कर दूसरे पर करे, इसका प्रयत्न तो वह नहीं कर रही होगी? यदि उसका प्रयत्न चल रहा है, उसमें उसे पर्याप्त यश मिला है, यह कहने में कोई संशय नहीं, उसे तो ऐसा ज्ञात होने लगा। और इसलिए उसने उस तरफ़ विशेष लक्ष्य देना निश्चित किया। बाकी और तरफ ध्यान देने की जरूरत नहीं थी। चन्द्रगुप्त कौन और क्या है, इसका समाधान तो हो ही चुका है। चन्द्रगुप्त के रहने से एक प्रकार से सुमाल्य को सहायता ही मिलेगी। किराताधिपति ने जब इतनी नम्रता के साथ पत्र लिखा है, तो उसे दूर नहीं करना चाहिए, रहने दिया जाये। उस पर नज़र रखने की भी ज़रूरत नहीं, यह भी राक्षस ने सोच लिया और वैसा किया भी। बल्कि सुमाल्य की और चन्द्रगुप्त की मैत्री जुड़ी तो उससे आगे-पीछे म्लेच्छों को दण्ड देने में सहायता ही मिलेगी, ऐसा राक्षस को लगा। इसी कारण उस राजपुत्र के सम्बन्ध के बुरे विचार उसने दूर कर दिए। चक्र का भय तो उसे स्वप्न में भी नहीं था। पुष्पपुर की ओर देखने भर की भी शक्ति किसी राजा में न थी। इसलिए अब सिर्फ मुरा के हाथों राजा को छुड़ाने का ही प्रयत्न करना चाहिए। यह सोच उसने कोई-न-कोई उपक्रम करना निश्चित किया।

अमुक एक उपाय हो रहा है, ऐसा उसी समय मालूम हो जाये तो उपाय किया जाये, इस तरह काम करना सरल होता है। परन्तु क्या उपाय किया जाये, और उसे कैसे कार्यरूप में लाया जाये, यही कठिनाई रहती है। यदि कोई प्रजा-जन में से होता तो कोई कठिनाई न थी। उसे पकड़कर उसकी अच्छी तरह तलाशी ली जाती और कारावास में डाल दिया जाता, परन्तु यहाँ कुछ वैसा रंग न था। इसलिए अब बहुत चिन्ता हुई। राजा मुरा के पीछे किस प्रकार पागल हो रहा है, यह उसने प्रत्यक्ष देखा था। अब इस मोहिनी को किसी तरह निकालकर दूर फेंकना चाहिए। इसी विचार में वह लीन था कि उसे सुमतिका के आने की ख़बर मिली। सुमतिका को अपनी मुट्ठी में रखना चाहिए, यह सोच उसने तत्काल उसे बुलाया। सुमतिका कोई नया समाचार लाई होगी, ऐसा विश्वास उसके मन को होना स्वाभाविक था। सुमतिका अन्दर आई और विधिवत् वन्दना किये बिना ही घबराई हुई बोली–"आर्यश्रेष्ठ, मेरी रक्षा करें। अब मेरी कुशल नहीं।"

राक्षस कुछ समझ न सका। सुमतिका की अवस्था उस हिरणी की भाँति थी जिसका पीछा कोई व्याघ्र कर रहा हो। उसकी साँस जल्दी-जल्दी चल रही थी। राक्षस ने उससे "सुमतिका देवी, घबराओ मत। क्या हुआ, मुझसे कह। आप राक्षस के घर में अपने को बिल्कुल सुरक्षित समझें।" यह आश्वासन देकर उसकी ओर देखने लगा। परन्तु उसकी घबराहट में कोई अन्तर न पड़ा था; वह पूर्ववत् हाँफ रही थी। कितनी ही देर वह चुप रही, उसके मुँह से एक भी शब्द न निकला। राक्षस ने अच्छी तरह समझ लिया कि जब तक यह पूर्णतया शान्त न हो जायेगी, कुछ बोल न सकेगी। राक्षस चुप हो उसके चेहरे की ओर देखने लगा। राक्षस इसकी कल्पना भी न कर सका कि यह इतनी क्यों घबराई हुई है। थोड़ा समय बीता। सुमतिका अब कुछ शान्त हो बोली–"आर्य-श्रेष्ठ, मेरी कुशल नहीं दीख रही है। मैंने आपको जो ख़बर लाकर देने का ज़िम्मा लिया था, वह मेरी स्वामिनी के कानों तक पहुँच गया है। यह किसने कहा, यह मालूम नहीं। हिरण्यगुप्त के अतिरिक्त मैं आपके यहाँ के किसी भी व्यक्ति से कभी भी नहीं बोली। और हिरण्यगुप्त तो यह बात किसी पर प्रकट नहीं कर सकता। मुरादेवी और उसकी भेंट भी नहीं हुई है। फिर देवी के कानों तक यह बात पहुँची कैसे–और ऐसे समय जबकि शंका होनी चाहिए थी? यह क्षण भर में पाँसा पलट जाने का समय आ गया है। ऐसे ऐन मौके पर जबकि मुरादेवी का महाराज को समाप्त करने का जाल मुझे मालूम होने वाला था, यह विघ्न आया। मैं बाहर जाकर–आपके पास आकर सब बातें कह जाती हूँ, यह उसे मालूम हो गया है। उसने मुझे कठोर दण्ड देने का निश्चय किया है। वह दण्ड आज ही दिया जायेगा, यह भी मुझे मालूम हो गया है। इतना ही नहीं, उसने मुझे जाल में फँसाने की जो योजना की है, वह भी मुझे मालूम हो गई। इसलिए मैं प्राण बचाकर भाग आई। ठीक ऐसे अवसर पर जबकि मैं मीठी-मीठी बातें कर देवी के पेट में घुस राजा को मारने के षड्यन्त्र का पता लगाने वाली थी, यह विघ्न आ उपस्थित हुआ। अब क्या किया जाये? एक स्वामी का द्रोह कर जो दूसरे की ओर झुकता है उसकी यही गति होती है। यदि मैंने आपकी बात न मानी होती, और आपसे आकर स्वामिनी की चुगलियाँ न की होतीं तो आज मेरी यह अवस्था क्यों होती? मुरादेवी एक ही चण्ट है! मैं त्रिभुवन में कहीं भी रहूँ वह मुझे किसी-न-किसी तरह खोजकर दण्ड अवश्य देगी, तथापि उसके विरुद्ध आपकी सेवा मैंने की, इसलिए आपके ही चरणों में मुझे त्राण मिलेगा, ऐसा सहज भाव मेरे मन में

आया।''

''अब तू अपने जान जाने का डर न कर, तू एकदम सुरक्षित है। पर सुमतिका, महाराज की जान लेने के सम्बन्ध में जाल रचा गया है, उसके सम्बन्ध में कुछ तो बता। सुमतिके, महाराज की जान को बचाने का उपाय किये बिना काम कैसे चलेगा? जो भी कुछ थोड़ा-बहुत तुझे मालूम हुआ हो, मुझसे कह। मैं कोई दूसरी योजना बनाऊँ।''

''मन्त्रिराज, क्या मैं ही महाराज की जान बचाने के लिए फिर अपनी जान संकट में न डालूँगी? महाराज की जान की अपेक्षा मुझे अपनी जान अधिक प्यारी नहीं, उन्हीं की जान पर तो हम प्रजाजनों की उछल-कूद है। मुझमें अभी भी इतना उत्साह है कि पुनः अपनी स्वामिनी को शान्त कर उनकी कृपा सम्पादित कर सकूँ। परन्तु उसमें ऐसे विघ्न आने लगे, तो क्या किया जाये? आपने जो दूसरी योजना बनाने की बात कही उसमें समय लगेगा न? मेरा विश्वास है कि एक ही दो दिन में बस...'' इतना बोल वह आधे ही वाक्य में ठहर गई और स्पष्ट रूप से दिखने वाली कँपकँपी उसके शरीर पर आ गई।

राक्षस ने यह आविर्भाव देख बड़ी चिन्ता के साथ उत्सुकतापूर्ण शब्दों में पूछा–''क्या-क्या? एक ही दो दिन में क्या ?''

''क्या कहूँ आर्यश्रेष्ठ, मुरादेवी जैसे अपने वैधव्य के लिए उत्सुक हो रही है। जितनी उत्सुकता कुमारी कन्या को विवाह रचाने में न होती होगी उससे अधिक मुरादेवी को विधवा बनने की है।''

''क्या, कहती क्या है? सुमतिका, इस तरह पहेलियाँ न उलझा। स्पष्ट कह।''

''क्या स्पष्ट कहूँ? स्पष्ट बोलने का अवसर आने के पहले ही विघ्न टूट पड़ा। फिर स्पष्ट क्या बोलूँ?''

''सुमतिका, अगर महाराज के प्रति तेरी सच्ची श्रद्धा हो तो तू पुन: अपनी स्वामिनी के पास जा और उसे शान्त कर, उसके विश्वास में घुस, उस भयंकर कार्य की वस्तु-स्थिति से मुझे परिचित करा दे।''

सुमतिका पुनः घबराई आवाज में बोली– ''आर्य, मैं आपकी आज्ञानुसार अवश्य जाऊँगी, पर यह सब काम करने का समय कहाँ है? जो कुछ भयंकर कार्य होना है, वह तो तीन दिन के भीतर होगा? मैं यदि गई तो यह समझकर कि पुनः चुगलियाँ करूँगी, मुझे कारागृह में डाल दिया जायेगा। आपको यदि कोई उपाय करना हो तो तुरन्त करना चाहिए। इसलिए मैं आपके पास हूँ। कोई भयंकर कार्य होने वाला है, यह तो मैं पहले ही कह चुकी थी, पर अब वह कार्य एकदम निकट आ गया है, यह कहने आई हूँ, यही मेरा भाग्य है।''

यह इस तरह क्यों बोल रही है, यह राक्षस न समझ पाया । आते ही ''रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए'' कहती हुई आई। फिर हिरण्यगुप्त को इन सब बातों का दोषी ठहराया। अन्त में वापस जाकर अपने प्राण संकट में डालने के लिए तैयार हुई और जा कहने पर इधर-उधर टरकाने लगी। फिर वास्तविकता जानने के लिए राक्षस सोच में पड़ गया।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

मन्त्री ने क्या किया?

सुमतिका इस तरह राक्षस के मन को विकल बना रही थी। राजा की जान पर कोई विकट संकट आ रहा है, और वह स्वत: मुरादेवी ला रही हैं; इसके अलावा वह संकट एक ही दो दिनों में आने वाला है, इतना सब जानने का क्या उपयोग ? कुछ निश्चित बात चाहिए। अधूरी बात का अर्थ क्या? यह सोच राक्षस उससे प्रश्न पर प्रश्न पूछ रहा था। और वह घबराने की मुद्रा बना कुछ-का-कुछ उत्तर देती थी। मैं इतना दूरदर्शी और विद्वान्, जगह-जगह के समाचार मँगाकर इधर-उधर की व्यवस्था करता रहता हूँ; पर स्वयं राजा के ऊपर जब संकट आया है तो मैं कुछ भी करने में असमर्थ हो गया हूँ, यह सोच राक्षस संतापित हो गया। उसे कुछ सूझ न रहा था। अन्त में उसने निराश हो सुमतिका से कहा– "सुमतिका, यह सब-कुछ चाहे जो भी हो; पर तू अपने स्वामी की रक्षा करने के लिए आगा-पीछा मत कर। जो कुछ हो सके कर, परन्तु क्या है और क्या चल रहा है-इसकी खोज कर मुझे जताने के लिए आ जा। ज़रा भी आगा-पीछा न कर। तेरे प्राणों की रक्षा होगी, इसके लिए निश्चिन्त रह। तू जा तो सही।"

"मन्त्रीवर, आप आज्ञा देते हैं तो मैं जाऊँगी; परन्तु जो कुछ बात मुझे मालूम हो जायेगी उसे आपको सूचित करने के लिए आ सकूँगी, इसका भरोसा नहीं। मुरादेवी को मेरे प्रति पक्का संशय हो गया है। वह संशय को मुँह से कहकर प्रकट नहीं करेगी; पर मैं जैसे ही उसकी निगाह में पड़ूँगी वह या तो मुझे मार ही डालेगी या कारागृह में बन्द कर देगी। इन सब बातों का कुछ ठिकाना नहीं। इसलिए यदि आप मेरी सुनेंगे–मैं दासी आपको क्या युक्ति सुझा सकती हूँ? छोटे मुँह बड़ी बात उचित नहीं। पर अब और कोई चारा नहीं; इसलिए कहती हूँ–आप पुन: कोई बहाना निकाल महाराज के दर्शन के लिए जायें और या तो स्पष्ट कहकर अथवा किसी अन्य युक्ति-द्वारा उन्हें मुरादेवी के महल से बाहर ले आयें। यह भी आज अथवा कल संध्या-काल तक हो जाये तो ठीक। फिर महाराज की जान बच जायेगी। पर, यदि कल की संध्या बीत गई तो आपके हाथ में कुछ न रह जायेगा, यह मैं अभी से सुझाये देती हूँ। महाराज मुरादेवी के महल से निकल जायेंगे, तभी उनकी जान बच सकती है। नहीं तो समझ लीजिए कि अपने इस पाटलिपुत्र के अनाथ बनने का समय आ जायेगा। और मैं आपसे क्या कहूँ? आप आज्ञा दे ही रहे हैं तो मैं जाकर और कोई नई बात निकालने का प्रयत्न करती हूँ; पर मैं फिर लौटकर आपसे कुछ कह सकूँगी, यह मुझे सम्भव नहीं दीख रहा है। इसके आगे मेरा भाग्य!"

सुमतिका के बोलने की ओर राक्षस का पूरी तरह लक्ष्य हो, ऐसा नहीं प्रतीत हो रहा

था। वह ऊपर कही हुई बातें कह तुरन्त निकल गई। मन्त्री से उसने यह भी न कहा कि अब मैं जाती हूँ। राक्षस का आधा मन अपने विचारों और आधा सुमतिका की बातों की ओर था। इसलिए जब वह बोलकर निकल गई तो इसका भान होने में उसे कुछ देर लगी। परन्तु यह बात ध्यान में आते ही उसे इस बात का आश्चर्य हुआ कि सुमतिका बिना कुछ बोले-चाले अथवा अनुमति लिए कैसे चली गई और उसने तुरन्त द्वारपाल को बुला उससे पूछा कि "सुमतिका चली गई क्या ?"

"हाँ" उत्तर पाकर फिर अपने विचारों में मग्न हो गया।

अपने इस सुखी कहलाने वाले मगधराज पर कोई संकट आने वाला है, ऐसा उसे मालूम होने लगा। नन्दवंश उत्तम प्रकार से रहे, इसलिए मैंने शूद्र दासी को राजमहिषी न होने दिया। राजा से मुरा को जो पुत्र पैदा हुआ, वह आगे-पीछे मगध की राजगद्दी पर बैठ उसे भ्रष्ट न कर दे, इसलिए उसका भी नाश हो जाये, ऐसी व्यवस्था की। उसी लड़के की माता, वही दासी आज राजा का प्यार पा मेरे लिए कठिन हो गई है। मेरा और राजा का देर तक बातें करना तो दूर ही रहा, पर दर्शन तक उस मुरा ने दुर्लभ कर रखा है। इतना सब हो जाने पर भी मेरे हाथों कोई उपाय नहीं हो रहा है, इसी का मुझे आश्चर्य हो रहा है। पर क्या किया जाये? अभी परसों ही पर-चक्र के बहाने महाराज से भेंट की; किन्तु अब फिर क्या किया जाये कि उनसे भेंट हो ? भेंट होने पर स्पष्ट रूप से उन्हें सावधान रहने के लिए कहूँगा। पर भेंट तो होनी चाहिए। जिस राज्य में मुख्यमन्त्री ही राज-दर्शन के लिए तरस जाये, उस राज्य का नाश होने में कितनी देर! कुछ भी हो, मुझे अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखना है, ऐसा सोच उसने तुरन्त महाराज को एक पत्र लिख अपने एक अत्यन्त विश्वासी भृत्य के हाथ मुरादेवी के महल में भेज दिया।

क्या चमत्कार था! राक्षस का पत्र पाते ही वह पत्र महाराज तक पहुँचाने की जैसे पहले ही से व्यवस्था की गई हो। वह पत्र तुरन्त महाराज के हाथ में गया। मुरादेवी वहाँ बैठी ही थी। महाराज के पत्र खोलकर पढ़ना शुरू करते ही उसने उनसे पूछा–"किसका है इतना आवश्यक पत्र?"

राजा–"मन्त्री राक्षस का।"

मुरादेवी–"मन्त्रीजी के आजकल बहुत पत्र आने लगे। उन्हें शायद प्रत्यक्ष भेंट करने में आलस आ गया है। आपका मेरे ऊपर पुनः प्रेम हो गया, पर उनका द्वेष जाता नहीं दीखता। मेरे अन्त:पुर में आने का प्रसंग टले, इसलिए लिखते हैं शायद पत्र !"

राजा–"प्रत्यक्ष मिलने पर गाँठ पड़ने में अड़चन होती है, ऐसा उनका कहना दीख रहा है।"

देवी–"आने की इच्छा न हो तो सहस्रों बहाने मिल सकते हैं। खैर, आख़िर लिखकर पूछा क्या है?"

राजा–"पुन: एक बार एकान्त में भेंट हो–एक बड़ा राजकीय मामला है–ऐसा लिखते हैं।"

देवी–"पिछला ही मामला होगा। अब कोई और पर-चक्र आने वाला है, यही कहेंगे? वे

बड़े स्वामिभक्त हैं, उन्हें आपकी सुरक्षा के विषय में सदैव संशय होता रहता है। कहीं उन्हें यह सन्देह तो नहीं है कि मैं आपके प्राणों को संकट में डाल दूँगी ? क्या है और क्या नहीं, मैं निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकती; पर अब तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि मेरे प्रति उनके हृदय में सन्देह ने अंकुर जमा लिया है। मैं इस झगड़े में नहीं पड़ती। आपका ध्यान किसी दूसरी ओर आकर्षित करने का न तो मुझे समय ही है और न इच्छा ही। जब तक आपका मन मेरी ओर से साफ़ है, मैं निडर हूँ। दूसरे, किसको मेरे बारे में क्या सन्देह है, अथवा मेरे बारे में कौन क्या कहता है, इसकी मुझे ज़रा भी परवाह नहीं है। आपके चरणों की छाया में मैं निडर, नि:शंक और निश्चिन्त हूँ। ठीक है, पर मन्त्री ने इतना सब कुछ क्या लिखा है?"

राजा–"कोई बड़ी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक वार्ता है; कृपा करके एक बार जितना जल्दी हो सके, उतनी जल्दी दर्शन दें। यह भी लिखा है कि जो कुछ मेरी विनती हो उसे ध्यान से सुनें" और क्या लिखेंगे? मैं तो तुमसे एक क्षण भी दूर नहीं रहना चाहता; पर क्या करूँ, नई-नई राज-घटनायें पैदा होती रहती हैं। सुमाल्य है, उसके नाम पर जो कुछ करना हो, करो। मैं पिताजी के सदृश राज्य-भार फेंककर अरण्यवास कर रहा हूँ, ऐसा समझो! ऐसा कहने पर भी यह मानता नहीं है, तब क्या किया जाये ?"

देवी–"आर्यपुत्र, मेरे कारण आपका राजकार्य रह जाये अथवा मेरे कारण आपका ध्यान राजकार्य की ओर न जाये, ऐसा जब प्रजा-जनों को मालूम होगा तो परिणाम अच्छा नहीं होगा। उन्हें कुल बात का पता चला तो सभी लोग मुझसे ईर्ष्या करने लगेंगे। आज तक तो शायद किसी भेदी को ही मुझसे द्वेष हो; पर बड़े-बड़े राजकार्य को छोड़कर आप मेरे पीछे-पीछे लगे रहते हैं, ऐसा किसी को मालूम न हो। तब हम उसे अवश्य बुलायेंगे और जो कुछ भी वह कहेगा, ध्यानपूर्वक सुनेंगे।"

राजा–"रहने भी दो। कोई दूसरी महत्त्वपूर्ण बात होगी तो क्या पत्र द्वारा नहीं सूचित की जा सकती? यह कुछ नहीं होगा। मैं उसे लिखता हूँ कि..."

"छि:-छि: आर्यपुत्र" मुरादेवी उसी क्षण बोलीा–"आप ऐसा न करें, आपका मन भले ही उनसे भेंट करने का न हो; पर मेरी बात मान जाइये और उनसे भेंट करके ध्यानपूर्वक उनका कहना सुनिये और राज्य-कार्य में ध्यान दिखाइये। अमुक राज्य का राजा राज-कार्य में दिलचस्पी नहीं लेता, जब यह बात किसी दूसरे राजा को मालूम हो गई तो सचमुच संकट आ पड़ेगा। ऐसा करने के लिए आप यहीं रहें और मन्त्रियों को बार-बार बुलाकर उनसे सलाह लेते रहें। मेरी इतनी ही आग्रहपूर्वक विनती है कि आप यहाँ से कहीं बाहर न जायें। मुझे आपके जीवन की बड़ी चिन्ता है। बाहर बहुत शत्रु हैं। आप यहीं प्रत्यक्ष बने रहिये और अपनी आँखों से सब कुछ देखिये। आपको यहाँ से हटाने के अनेक प्रयत्न होंगे, क्योंकि मैं आपकी परामर्शदात्री हूँ–सब बातें समझती हूँ। अत: आप सँभले रहिये–आपके लिए मुझे जो कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा, उठाऊँगी। आर्यपुत्र, आपकी सुरक्षिता ही मेरा वैभव है। यदि आपके जीवन को कुछ हो जायेगा तो मेरी क्या स्थिति होगी ? मेरे शत्रु मुझे जीता ही जला देंगे, अथवा गीदड़ों से नुचवायेंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता।"

राज–"देवी मुरा, यह क्या कहती हैं? इतना विलक्षण अनुभव होने पर मैं असावधान

होकर कहाँ जाऊँगा। मैं नहीं जाऊँगा। मुझे जिन पर संशय था, मैं उन्हें बुलवाकर अभी ही फाँसी दिलवा देता, पर तेरा हृदय बड़ा कोमल है। "ऐसा मत करिये, जल्दी मत करिये", ऐसी अनेक बातें कहकर तुमने मुझे रोक दिया, नहीं तो मैं उन लोगों को यथायोग्य दण्ड दे चुका होता। अब क्या कहती हो? मन्त्री को बुलाकर उसका कहना सुना जाये? ठीक है। अरे, उधर कौन है? मन्त्री का कौन मनुष्य है? उसे कहो कि मन्त्री से कहे कि आप आइये, मैं आपसे भेंट करने के लिए तैयार हूँ।"

मन्त्री का पत्र लाने वाला दूत यह बात सुनकर वापस गया। थोड़ी ही देर में मन्त्री का आगमन हुआ। महाराज ने उनका योग्य स्वागत किया और पूछा कि "सब व्यवस्था ठीक है न?" राक्षस ने उचित उत्तर दिया, फिर धीरे-से कहा–"महाराज, एक बात कहनी है, परन्तु उसे कृपा करके ध्यान से..."

"हाँ-हाँ" राजा बीच में ही बोले–"बिना कुछ इधर-उधर किये जो-कुछ कहना है, स्पष्ट कह दीजिए। संकोच क्यों करते हैं? जिस बात का सम्बन्ध मेरे राज्य से और मुझसे है उसे सुनने में आनाकानी कैसी, पर जिसका सम्बन्ध मुझसे नहीं है, उसे व्यर्थ मेरे पास न लाइये। बोलिये, क्या कहते हैं?" उस पर राक्षस बोला–"महाराज, केवल इतनी विनती है कि आप राजसभा में आते नहीं, न कोई राजकार्य देखते हैं, अत: मगध के शत्रुओं को ऐसा लगता है कि इस राज्य में अन्धाधुन्ध चल रही है। लोग भी ऐसा ही समझ बैठे हैं। अच्छा होता कि आप प्रजाजनों के सामने निकलकर उनका अभाव-अभियोग सुनते। आज और कल सवेरे का मुहूर्त बड़ा अच्छा है। अत: यदि आप आज या कल सवेरे दो घण्टे तक राजसिंहासन पर आकर विराजमान हो जायेंगे, तो सब ठीक हो जायेगा।"

राक्षस का मत था कि थोड़ी देर के लिए भी यदि महाराज मुरादेवी के रंगमहल से बाहर निकल आयें तो सभी व्यवस्था हो जायेगी, अत: उसने यह बहाना किया। यदि इससे काम बन गया तो ठीक है, नहीं तो कोई दूसरी युक्ति निकाली जायेगी; पर एक बार राजा को वहाँ से निकालकर राजसभा में ले जाया जाये, तभी सब कुछ ठीक हो सकेगा। राजा ने उसका कहना सुनकर ज़ोर से हँसकर कहा–"जब मैं राज्य का सारा भार आपको और सुमाल्य को सौंप चुका हूँ तो आप इतनी छोटी-छोटी बातों के लिए मुझे क्यों कष्ट देते हैं? मैंने आपको ही कह दिया था कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण बात हो तभी मेरे पास आइये, नहीं तो उसकी व्यवस्था स्वयं कर लीजिये। अब आपसे कहने से रोज राजसभा में जाकर बैठने से कुछ न होगा। मुझे शान्ति चाहिए।"

"महाराज, आप शान्ति चाहते हैं, यह इस सेवक को मालूम है। आप अवश्य विश्राम कीजिए; पर दिन में एक बार राज-सभा में दो घंटे के लिए आने पर बड़ा काम होगा, तभी मैंने आपसे विनती की है। अत: आप कल सवेरे अवश्य पधारें।"

"मन्त्रिवर, आप कहते हैं तो मैं कल सवेरे आने का विचार अवश्य करूँगा। पर बार-बार आने की मुझमें ताकत नहीं है। मैं देवी मुरा से परामर्श कर कहला भेजूँगा।" इतने में ही आड़ में बैठी मुरादेवी ज़ोर से बोलीं–"राज-कार्य में मैं क्यों हस्तक्षेप करूँ ? आप कल क्या, आज इसी क्षण से राज-कार्य की ओर ध्यान दें, ऐसा मैं कब से कहती आती हूँ।"

यह सुनकर राजा हँसा और बोला–“आने की आज्ञा है। कल सवेरे अवश्य आऊँगा।” यह सुनकर राक्षस आनंदित हुआ; पर दूसरे रोज राक्षस को प्रसन्न करने वाली अथवा दुखी करने वाली जो घटना घटी, यह आगे पता चलेगी।

बाईसवाँ परिच्छेद

मुरादेवी का कुचक्र

मेरी विनती को मानकर राजा कल सवेरे दरबार आने वाले हैं, यह जानकर मन्त्री राक्षस को बड़ा आनन्द हुआ। राजा धनानन्द एक बार मुरादेवी के चंगुल से बाहर निकला तो आगे का सब काम ठीक हो जायेगा। राक्षस ने बड़ी आशा की थी कि मुरादेवी से अलग होकर राजा यदि क्षण-भर भी मुझे एकान्त में मिला तो अपनी वाणी के ज़ोर से अथवा उसे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य बताने के बहाने उसे कुछ समय तक मुरादेवी के रंगमहल में नहीं जाने दूँगा और तब तक वह दूर रहेगा, उसके कान में मुरादेवी के विरुद्ध ऐसी बातें भरूँगा कि वह मुरादेवी के पास जायेगा ही नहीं। राजा ने जब राज-सभा में आना मान लिया तो उसे ऐसा लगा मानो आधा काम पूरा हो गया है और यह जानकर वह बड़ा खुश हुआ। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसने कोई बहुत बड़ा काम कर डाला है।

राक्षस के चले जाने के बाद मुरादेवी बड़े प्रेम से हँसती हुई और आँखें मटकाती हुई राजा के पास आई और बोली– "यह क्या चमत्कार है! लोग समझते हैं कि जैसे मैं ही किसी को बाहर नहीं जाने देती। राज-कार्य करने भी न जाओ–क्या कभी मैंने ऐसा कहा है? लोगों की समझ ऐसी ही हो गई है और वे ऐसी ही बातें भी कहते हैं, यह मैंने सुना है।"

"लोग झूठ क्या कहते हैं?" राजा ने बड़े प्रेम से उसके सुन्दर और केतकी वर्ण कपोल पर उँगली का प्रहार करके हँसकर कहा। राजा के उस प्रेम से आनन्दित होकर किन्तु मिथ्या क्रोध दिखाकर नेत्र-कटाक्ष करती हुई मुरादेवी बोली– "आप भी ऐसा ही कहने लगे? फिर लोग कहते हैं तो अचरज ही क्या है? क्या मैं कहती हूँ कि आप राज-सभा में न जायें? राजकार्य की ओर ध्यान न दें। मैंने ऐसा कब कहा है?"

"एक छोड़कर दस बार कहा है। यदि एक बार कहा होता तो बताता कि अमुक समय कहा था, पर जब दस बार छोड़कर असंख्य बार कहा है, तो क्या बताऊँ कि कब कहा था?"

मुरादेवी यह सुनकर और भी मटकती हुई बोली– "मान लीजिए, कहा ही है। आपके बाहर जाने में संकट है, अत: मैंने यह बात कही है। जब तक मेरे मन से यह संदेह दूर नहीं हो जायेगा कि श्वेताम्बरी की मृत्यु किस कारणवश हुई है, तब तक मेरा संदेह बना ही रहेगा। प्रधानमन्त्री के मन में भले ही कुछ हो, पर इतने लोगों में से कोई-न-कोई आपकी जान के पीछे है, इसका मुझे पूरा ज्ञान है। ऐसी स्थिति में आपको..."

पर मुरादेवी का गला इतना रुँध आया, आँखों में इस तरह आँसू भर आये कि उससे आगे कुछ बोला ही नहीं गया। सुमतिका पास ही खड़ी थी। वह मुरा की वैसी स्थिति में देखकर बोली– "श्रीमतीजी, यह क्या है? आप अब जिस स्थिति में हैं उसमें रोने के स्थान पर हँसना चाहिये, ऐसा कल दाई ने कहा था न? और आज ही आप अपने मुँह से महाराज

के कान में यह आनन्द की बात कहने वाली थीं न? उसे सुनकर महाराज को कितनी प्रसन्नता होगी?"

"सुमतिका, तुझे बीच में बोलने के लिए किसने कहा ? तू बहुत सिर चढ़ गई है!"

"श्रीमतीजी, यह आनन्द की बात महाराज से कहने पर मुझे उनका क्रोध नहीं मिलेगा– मिलेगा पुरस्कार!"

"सुमतिका, चुप बैठ न? कितना बकबक करती है! मुरादेवी ने आँख बचाकर राजा की ओर कटाक्ष कर और तर्जनी को नाक पर रखते हुए उसे चुप रहने का इंगित किया। पर वह मुँह-लगी फिर बोली– "तो चुप रहूँगी ही; पर क्षण-क्षण सफेद होने वाले गाल, गति में आलस्य और...यह सब महाराज को बता नहीं देंगे?"

"ठहर तो, तेरी लप-करने वाली जीभ अभी काट लूँगी"...ऐसा कहकर कृत्रिम क्रोध से मुरा सुमतिका की ओर चली, पर राजा ने उसे बीच में ही रोककर कहा– "सुमतिका, तुम्हारा क्या वादविवाद है? यह मुझसे क्या बात छिपा रही हैं?"

"महाराज" सुमतिका आनन्द और प्रेम का नाट्य करती हुई बोली- "हम कितना भी छिपायें तब भी देवी वीर-प्रसूतिनी होंगी, यह आपसे कैसे छिपा रहेगा?"

सुमतिका की यह बात सुनकर राजा को विस्मय तथा आनन्द प्राप्त हुआ और वह तत्काल बोला– "सुमतिका क्या कहती है? देवी वीर-प्रसूतिनी होंगी! तुमने मुझे कैसी उत्तम बात बतलाई है, इसके बदले में तुम्हें कुछ पुरस्कार तो मिलना चाहिए, क्या दूँ?" ऐसा कहकर उन्होंने मुरादेवी की ओर देखा। उसकी दृष्टि अश्रुपूर्ण दिखी। राजा तत्काल उससे बोला–"प्रिये मुरे, तुम वीर-प्रसूतिनी होगी, यह जानकर हमें अत्यन्त आनन्द हुआ, पर तुम तो आँसू बहा रही हो, क्या यह अच्छा है। यह उत्सव करने का अवसर है, अथवा शोक का ?"

पर मुरादेवी ने कोई उत्तर न दिया। उसके नेत्रों से अश्रु-धारा बहती ही जाती थी और उसे वह अपने आँचल से पोंछती थी। ज्यों-ज्यों अश्रु का प्रवाह अधिक होता गया, राजा द्रवित और खिन्न होता गया। उसका शोक शान्त करने के लिए वह अधिकाधिक प्रयत्न करने लगा– "प्रिये, तुम वीर-प्रसूतिनी होगी, यह सुनकर रोने क्यों लगी ? तुम्हारे रोने का कारण क्या है, मुझसे कहो ? व्याकुल मत हो। जब तक तुम कारण न बता दोगी, मेरी चिन्ता नहीं जायेगी। तुम वीरप्रसूतिनी होगीा–हमारे प्रेम को दृढ़ करने के लिए एक रत्न का जन्म होगा, यह जानकर मुझे परमानन्द हुआ; पर तुम्हारी ओर देखता हूँ तो तुम शोक कर रही हो। आनन्दाश्रु की जगह तुम शोक के आँसू बहा रही हो, कब से मैं तुमसे विनयपूर्वक कारण पूछ रहा हूँ, पर तुम कुछ बोलती ही नहीं हो! क्या यह ठीक है? तुम्हें इस तरह शोक करते देखकर मेरा मन उद्विग्न हो उठता है। बोलो, दो शब्द ही बोलो, और शोक का कारण बतलाओ। क्यों री सुमतिका, तेरी स्वामिनी के रोने का क्या कारण है?"

"महाराज, दूसरा क्या कारण हो सकता है! देवी को ऐसा लगता है कि जिस प्रकार..." पर बीच में ही मुरादेवी ने उसे डपटकर चुप कर दिया "चुप रह सुमतिका, इस तरह इधर-उधर की बातें बोलकर शैतानी मत कर।"

यह सुनते ही सुमतिका एकदम रुक गई। पर राजा धनानन्द देवी की ओर देखकर बोले– "वाह! स्वयं तो कहेंगी नहीं और कोई दूसरा भी कहेगा तो उसे रोक देंगी। इसका क्या मतलब है? वह मुझे ठीक-ठीक बता रही थी, तो बीच में आपने उसे रोक दिया? सुमतिका, तू बिल्कुल नि:संकोच होकर बता। तनिक भी संकोच मत कर; मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।"

"हे भगवन्! मैं तो विचित्र स्थिति में पड़ गई हूँ। यहाँ महाराज की आज्ञा, उस ओर महारानी की आज्ञा। किसकी आज्ञा मानूँ? तथापि महाराज, मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन करने में असमर्थ हूँ। महारानी सोचती हैं कि पुत्र को जन्म देकर भी क्या लाभ? जंगल में भेजा जाकर कहीं वह वधिकों द्वारा मार न दिया जाये?"

परन्तु सुमतिका को अब रुकना पड़ा। महारानी का शोक बढ़ गया, और वे ज़ोर-ज़ोर से रोने लगीं। यह देखकर महाराज का चित्त व्याकुल हो उठा और मुरा को गले लगाकर प्रेम से बोले– "प्रिये मुरे, यह क्या है? जो कुछ हो गया उसे भूल जाने का हमारा-तुम्हारा क़रार था न? फिर तुमने बिना कारण यह क्या आरम्भ कर दिया ?"

"आर्यपुत्र 'बिना कारण' क्यों कहते हैं? जैसा प्रसंग पहले आया था, वही फिर आ उपस्थित हुआ है। आप प्रात: ही यहाँ से चले जायेंगे। मन्त्री राक्षस का कौटिल्य क्या मैं नहीं जानती हूँ? वह चाहता है कि एक बार आपको मुझसे तीन-चार घंटे के लिए दूर करके आपका मन मेरी ओर से फेर दे। उसके आने पर मैं आपसे चार हाथ की दूरी पर रहती हूँ, अत: वह आपसे सब कुछ नहीं कह सकता। पर एक बार आप दूर हो गये तो फिर क्या पूछना? वह जो मन में आयेगा, कहकर मेरी ओर से आपका मन कलुषित कर देगा। तब मुझे रोना नहीं आयेगा तो और क्या होगा ? एक बार आप यहाँ से गये, कौन जाने मेरा क्या हाल होगा? सोलह वर्ष पूर्व की घटनायें पुनः आँखों के सामने आ खड़ी होती हैं। हे भगवान्, मुझे तूने जन्म क्यों दिया? क्या मेरे कारण बाल हत्याएँ ही होनी हैं?"

ऐसा कहकर मुरादेवी अपरम्पार शोक करने लगी। राजा को शान्त करने का अवसर ही न मिलता था। अन्त में वह उससे बोला– "मैं जाऊँगा ही नहीं। अब तो ठीक हुआ न? जो कुछ करना होगा, यहीं सभा करके करूँगा। बस ठीक है न?"

"छि:-छि:", मुरादेवी आँसू पोंछकर बोली–"ऐसा कैसे होगा? जो कुछ निश्चय हो चुका है, करिये?" राज सभा में अवश्य जाइये। पर लौटते समय सावधान रहिये। मुझे डर लगता है कि वह मन्त्री आपको बन्दी न बनवा ले।"

"मुझे बन्दी बनायेगा? कहीं तुम पागल तो नहीं हो गई हो?" धनानन्द हँसकर बोले।

"इसका क्या भरोसा है? मैं यह नहीं कहती कि आप न जाएँ। पर आपके जाने से मुझे डर लगता है। तब की बार मेरे पुत्र को मारकर मुझे बन्दी-गृह में डाला गया। यदि अबकी बार भी यही करने का प्रसंग आया तो मेरे प्राण ले लिए जायें, यही मेरी आपके चरणों में विनती है।" यह कहकर मुरादेवी ने राजा के चरणों पर गिरने का उपक्रम करके ज़ोर-ज़ोर से रुदन आरम्भ किया। राजा हड़बड़ा गया। उसकी समझ में न आया कि क्या बोले। अन्त में वह उससे बोला– "यदि ऐसी बात है तो मैं जाता ही नहीं, बस?"

"छि:-छि:" मुरादेवी सिर उठाकर बोली– "ऐसा करने का क्या मतलब है? आपने मन्त्री को जो वचन दिया है यदि उसे पूरा नहीं करेंगे, तो सभी दोष मेरे सिर पर ही मढ़ा जायेगा। उसके सामने ही मैंने आपको जाने के लिए कहा था, यदि आप अब न जायेंगे तो वह मुझे झूठी समझेगा और समझेगा कि पीठ-पीछे मैंने आपका निश्चय बदलवा दिया। ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई पड़ना चाहिए। आपने स्वीकार किया है, तो कल प्रात: राज-सभा में अवश्य जायें। यदि आप मेरे प्रति प्रेम का आश्वासन दें तो मेरा और कुछ कहना नहीं है। मुझे अपनी अणुमात्र भी चिन्ता नहीं, है तो केवल आपके विषय में..."

मुरादेवी ने ये बातें इस ढंग से कहीं कि राजा ने प्रेम से ओत-प्रोत होकर उसका प्रगाढ़ आलिंगन कर लिया। तत्पश्चात् बोला–"तुम तनिक भी चिन्ता मत करो। जो तुम कहती हो, तो कल सवेरे राज-सभा में जाकर एक घण्टा बैठने के पश्चात् मैं तुरन्त वापस आ जाऊँगा।"

मुझसे ही इसके कुक्षि से पुनः पुत्र होगा, ऐसा जानकर उसे बड़ा आनन्द हुआ और उसके प्रति उसका प्रेम और भी बढ़ गया। वह उससे तरह-तरह की बातें करके उसके मन का हाल पूछने लगा। वह बार-बार आग्रह करने लगा कि तुम्हारी जो भी इच्छा हो, मैं उसकी पूर्ति करूँगा। "आपका प्रेम बना रहा और आपकी गोद में आपका पुत्र खेलने लगा तो मुझे सब कुछ मिल जायेगा।" ऐसा उसके कहने पर राजा के आनन्द की सीमा नहीं रही। कुछ देर इसी तरह बातें चलती रहीं कि राजा की आँख लग गई। यह कहना कठिन है कि नींद स्वाभाविक थी या किसी मादक द्रव्य के कारण आई थी।

उसके नींद में आते ही मुरादेवी और सुमतिका एक दूसरी की ओर मुस्कराकर देखने लगीं। किसी मनुष्य को कपट-जाल में फँसाने का प्रयत्न जब दो व्यक्ति करते हैं और सफल हो जाते हैं, तो उसका आनन्द और अभिमान दोनों को होता है–यही हाल इन दोनों का हुआ। तत्पश्चात् मुरादेवी सुमतिका से बोली– "सुमतिके, यदि तुम इस तरह से मेरी सहायता नहीं करती, तो मेरा सभी व्यूह कब का ढह गया होता। वह वृन्दमाला बड़ी पगली है, उसे मेरा यह निश्चय पसन्द नहीं था। पर, मुझ पर उसकी बड़ी भक्ति है, अतः इसके बारे में कहीं वह एक शब्द मुँह से नहीं निकालेगी। आठ-दस दिन में तो यह ऐसे बौद्ध-धर्म में शामिल होकर जोगिन बन जायेगी। पर, अब आर्य चाणक्य कब आयेंगे?"

आर्य चाणक्य का नाम उसके मुँह से निकलना था कि उनके आने की सूचना दासी ने आकर दी। यह सुनकर मुरादेवी बड़ी प्रसन्न हुई।

आर्य चाणक्य अब मुरादेवी के मुख्य उपदेशक, गुरुश्रेष्ठ हो गये थे। सुमतिका दोनों का सन्देश एक-दूसरे तक पहुँचाती थी। सुमतिका भी आर्य चाणक्य की एकनिष्ठ सेविका हो गई थी, आर्य चाणक्य की आज्ञा उसके लिए शिरोधार्य थी। वह कैसे पूरी की जाये और कैसे नहीं; यह विचार उसके मन में कभी आया ही नहीं। उसे देखते ही दोनों बड़ी प्रसन्न हुईं। चाणक्य को जहाँ बैठाया था वहाँ जाकर मुरादेवी उससे बोली– "आर्यश्रेष्ठ, हम आपकी राह ही देख रहे थे। आप आ गये, बड़ा अच्छा हुआ। सुमतिका ने किसी-न-किसी प्रकार बहाना करके राक्षस को यहाँ बुलाया था। उसने महाराज से किसी भी तरह कल राज-सभा में जाकर लोगों को दर्शन देने का आग्रह किया है। पहले तो वे टालमटोल करते रहे कि मुझे छोड़कर कैसे जायें। पर, मैंने बीच में ही बोलकर उनकी ओर से वचन दे दिया और आपको

बुलवाया। अब आगे की तैयारी है न?”

“हाँ-हाँ, और क्यों नहीं? मैंने सब ठीक-ठीक कर लिया है। राक्षस के मित्र चन्दनदास की जो बाड़ी राज-प्रासाद के समीप ही है, उस बाड़ी से राजप्रासाद तक कृत्रिम फाटक बनवा दिये गये हैं। दारुकर्मा नाम का कुशल कारीगर यह काम कर रहा है। दारुकर्मा को बता दिया है, कि क्या-क्या करना है। इसके अलावा तोरण के नीचे की भी तैयारी ठीक कर ली है। अब कुछ करना शेष नहीं है। तुम चिन्ता मत करो।”

“गुरुश्रेष्ठ, क्या मुझे ज्ञात नहीं है कि आप जो करेंगे उसमें कोई कमी रहेगी ही नहीं। मुझे उसकी चिन्ता नहीं है। हाँ, सब कार्य निर्विघ्न पूरा होना चाहिये। जो तनिक भी विघ्न आया तो हमारा कुचक्र खुल जायेगा और हम सभी की हड्डी-हड्डी चूर हो जायेगी, इसीलिए पूछा था।”

“वत्से मुरादेवी, इस चाणक्य ने जो व्यूह रचा है उसमें जरा भी विघ्न नहीं पड़ सकता, यह तू पक्का समझ। यह व्यूह सफल होकर ही रहेगा। दारुकर्मा कुशल कारीगर है, इसीलिए चंदनदास के मित्र भूरिवसु मेरी मुट्ठी में है, उसी के कारण चन्दनदास भी मेरे वश में है। चन्दनदास राक्षस का गहरा मित्र है। दारुकर्मा के द्वारा क्या भयंकर कार्य होने वाला है, इसका पता चंदनदास को ज़रा भी नहीं है। यदि हमारा कुचक्र सिद्ध हुआ तो सारा नन्दवंश नष्ट हो जायेगा। फिर दूसरों के लिए भी कोई-न-कोई उपाय खोज निकालेंगे। कल सवेरे ही धनानन्द सपरिवार नहीं तो अकेला अवश्य नष्ट हो जायेगा।” ऐसा कहकर चाणक्य चुप हो गया। मुरादेवी यह सुनकर किंचित् चिन्तातुर होकर बोली, “ठीक, पर गुरुश्रेष्ठ, महाराज को छोड़कर दूसरों को नष्ट नहीं किया जा सकता। वह दुष्ट सुमाल्य अभी मरा नहीं। यदि कहीं महाराज मारे गये तो सुमाल्य के नाम से राक्षस राजकार्य चलाकर महाराज की मृत्यु का कारण खोज निकालेगा, फिर हमारा रचा कुचक्र सफल सिद्ध न होगा।” मुरादेवी की ये बातें सुनकर चाणक्य खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला– “देवी मुरे, मैं तुम्हें नीतिज्ञ और निपुण समझता था। पर तुम्हारी बुद्धि भी और स्त्रियों के समान ही दीखती है। वत्से, यदि धनानन्द का नाश हुआ तो क्या मैं यह लोकापवाद फैलाये बिना चूकूँगा कि राक्षस के कुचक्र से ही दारुकर्मा ने यह काम किया। इसकी भी सब तैयारी हो चुकी है। मैं सब जगह यह बात फैला दूँगा कि राक्षस ने राज्य हथियाने के लोभ से यह सब किया है। राजा को अनेक आग्रह करके राजसभा में बुलाया, अपने मित्र चन्दनदास के घर से राजप्रासाद तक नकली फाटक बनवाये, यह सब काम राक्षस ने जान-बूझकर स्वयं किया, यही तुम सबके मुँह से सुनोगी। यह स्थिति होने पर तुम्हारे पुत्र चन्द्रगुप्त को आगे करके सिंहासन पर बैठाकर ही तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी करवाऊँगा। तुम व्यर्थ चिन्ता क्यों करती हो?” मुरादेवी यह सुनकर निश्चिन्त हुई। अब अपनी इच्छा-पूर्ति होने में केवल एक रात ही की देर है, यह जानकर वह आनन्दित हुई।

पर, रात होते-न-होते उसके मन की दूसरी स्थिति हो गई। कुछ भी हो, वह थी तो एक स्त्री ही; उसकी स्वाभाविक कोमलता उसकी इच्छा के सामने बाधा रूप बनकर खड़ी हो गई।

तेईसवाँ परिच्छेद

मन की चंचलता

चाणक्य के जाने के पश्चात् मुरादेवी को कुछ देर तक बड़ा अच्छा लगा। आज इतने दिनों के बाद अपनी महत्त्वाकांक्षा नहीं तो, बदला लेने की इच्छ–अब पूरी होने जा रही थी। अपने पेट के पुत्र को मारकर अपने को जेल में डालने वाले राजा का अब प्रायश्चित होगा और अपने जाति का पुरुष अब गद्दी पर बैठेगा, यह सब सोचकर उसे महान् आनन्द प्राप्त हुआ। आर्य चाणक्य ने पाटलिपुत्र में रहकर जिस तरह वहाँ के सभी लोगों का मन अपने वश में कर लिया था वैसे ही मुरादेवी का मन भी उसने अपने वश में कर लिया था। सर्वप्रथम यह किस रूप में और क्या बात कहकर उसके पास गया और धीरे-धीरे उसे अपनी मुट्ठी में किया, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब उसकी और राजमहिषी की एक इच्छा थी तो क्या पूछना? चाणक्य की बात में एक ऐसा गुण था कि जो उसमें एक बार फँस गया वह निकल नहीं सकता था, उल्टा अधिकाधिक फँसता जाता था, इतना ही नहीं उसमें से निकलने की उनकी इच्छा भी नहीं होती थी। मुरादेवी को बदला लेने के लिए चाणक्य उत्कृष्ट साधन मालूम पड़ा। पर उसकी इच्छा तृप्ति अब बिल्कुल निकट आ गई है, यह जानकर उसका मन न जाने कैसा होने लगा। चाणक्य के जाने के कुछ देर बाद वह अपने शयनगृह में गई। राजा धनानन्द निद्रा में–चाहे जिस कारण से आई हो–मग्न था। उसके पार्श्व में ही वह भी पलँग पर जा पड़ी। उसे किसी भाँति चैन नहीं पड़ रहा था। राजा का वध करने के लिए चाणक्य की सभी तैयारियों पर वह विचार करने लगी। उसके मन में, "यदि इन्होंने मेरे पुत्र का वध करके मुझ पर अविश्वास न किया होता तो आज इन पर यह प्रसंग क्यों आता? आज सुमाल्य की जगह वही सिंहासन पर बैठा होता।" आदि विचार उसके मन में बार-बार उठ रहे थे।

इतने में उसे ऐसा लगा, मानो राजा धनानन्द कुछ बोल रहा है, अतः वह ध्यानपूर्वक सुनने लगी और आगे के ये शब्द उसके कान में आये– "प्रिये मुरे, मैं तुझे कितनी बार बताऊँ कि पुरानी घटना के दुहराये जाने की आशंका नहीं है। मुझे बता दे कि वह लड़का अमुक स्थान पर जीवित है, फिर उसे मैं अवश्य खोजकर लाऊँगा और उसका यौवराज्याभिषेक करूँगा। पर, अब उस बात से तू मुझसे अप्रसन्न न हो। अब मैं तेरी आज्ञा से ज़रा देर को भी बाहर नहीं जाऊँगा। मुझे क्षमा कर... " उसके कान में ये शब्द स्पष्ट सुनाई दिये। उसने और कुछ भी सुना, पर साफ़-साफ़ समझ न पाई। आज पहली ही बार उसने राजा के मुँह से ये शब्द नहीं सुने थे, कई बार सुन चुकी थी। पर, आज सुनने पर उसके मन पर विलक्षण प्रभाव पड़ा। राजा स्वप्न में भी उसका ध्यान कर रहा था। उसने पहले की बातों की कितनी बार भुला देने के लिए कहा था, पर आज प्रगाढ़ निद्रा में भी वह मुरा से क्षमा माँग रहा था। ऐसा समझकर मुरादेवी का मन चंचल हो उठा। बंदीगृह से बाहर निकलने पर मैंने अनेक

उपायों-द्वारा राजा को मोहित किया; पर आज जो काम करवा रही हूँ, यह क्या ठीक है? स्वप्न में भी जो मेरा ही नाम रट रहा है और मुझे कष्ट न देने का आश्वासन दे रहा है, उसके साथ विश्वासघात किया जाये क्या ? जो प्रतिदिन मुझसे मन, वचन और कर्म से पुरानी बातों को भुला देने को कहता है, क्या उसको काल के गाल में डाल दूँ? अब उसका मन अत्यन्त चंचल हो उठा। पिछले परिच्छेद के अन्त के कथनानुसार उसके मन की कोमलता जाग्रत हो उठी। एकाएक वह पागलों की तरह उठ बैठी और सामने देखने लगी। कल होने वाली घटनायें उसकी आँखों के सन्मुख आ खड़ी हुईं। वह बहुत घबरा गई। कुछ देर पहले जो घटनायें और प्रसंग उसे याद आने पर आनन्द दे रहे थे, वे ही अब उसकी व्याकुलता बढ़ा रहे थे। उस महल में और कोई न था। कमरे में एक दीपक था जो अत्यन्त मन्द करके रखा गया था। उस दीपक से महाराज की निद्रा भंग न हो, इस विचार से उसके सामने एक पर्दा पड़ा हुआ था, अतः चारों ओर अन्धकार ही था। उसे अब अन्धकार की छाया से भी डर लगने लगा। आज तक वह जिस उत्सुकता से महाराज धनानन्द को इस पृथ्वी पर से उठा देने की राह देख रही थी, आज वही विचार उसे ऊधम और पागलपन से पूर्ण मालूम दिये। बदला लेने से क्या लाभ? बदला तो उससे लेना चाहिए जिसने मेरा मन उनकी ओर से कलुषित कर दिया था। उन्हें छोड़कर मैं स्वयं महाराज से बदला लेने की कैसी भूल कर रही हूँ! इसमें महाराज से पाणिग्रहण करने पर मुझे पुत्र हुआ। महाराज ने केवल इतनी भूल की कि कुछ लोगों की बातों में आकर मेरे ऊपर सन्देह करके मुझे बन्दीगृह में डाल दिया तो अब मैं उनसे इस तरह भयानक बदला क्यों लूँ? यह विचार मेरे मन में पहले ही आ जाना चाहिए था। फिर कल होने वाला प्रसंग जिसे अब टालने की मेरी इच्छा है, खड़ा ही नहीं होता। ऐसा विचार उसके मन में आते ही उसका मन फिरने लगा। क्या मैं स्वयं अपने हाथ से–अपनी अनुमति से अपने पति के प्राण लूँ? मैं अपने हाथों अपना सौभाग्य नष्ट कर लूँ? यह अत्यन्त क्रूर अधमता और दुष्टता से पूर्ण विचार मेरे मन में आया ही कैसे? उसे इसी बात पर आश्चर्य होने लगा। ऐसा भयंकर काम करने से उसे क्या लाभ होगा? इतना सब कुछ करने पर भी क्या मेरे पुत्र को सिंहासन मिलेगा? पर पुत्र को सिंहासन मिलने से मुझे क्या लाभ? पति की हत्या करके सारे लोक में पतिघ्नी बनकर अपयश पाने का काम क्यों किया जाये। तब मैं ऐसा क्यों न करूँ कि कल का अप्रिय प्रसंग टल जाये। उसके मन में तरह-तरह के विचार उठकर उसे व्याकुल बनाने लगे। आज तक यह सोचती थी कि भले ही विधवा हो जाऊँ, परन्तु अपने पुत्र को मरवाने वाले और मुझ निर्दोष को बन्दी बनाने वाले से बदला अवश्य लूँगी। पर अब वह यह सोचती थी कि अपने ही उठाये हुए संकट से मैं बाहर कैसे निकलूँ? महाराज के प्राण कैसे बचाऊँ ? अपने हाथ से राजहत्या और पतिहत्या हो रही है, उसे दूर कैसे करूँ ? ऐसे कितने ही प्रश्न उसके मन में उठ खड़े हुए और उसे व्याकुल करने लगे। एक स्त्री होकर ऐसा अनुचित विचार मेरे मन में क्योंकर आया? उसे इसी का आश्चर्य होने लगा। जब हमारे मन में कोई दुष्कर्म करने की उत्सुकता रहती है और उसका समय समीप आ जाता है तो वह उत्सुकता फिर नहीं रह जाती। इसका नतीजा बड़ा चमत्कारी होता है और कितने तो अन्त में उससे दूर भी हो जाते हैं। मुरादेवी के मन की भी यही स्थिति थी। अब उसमें पति की हत्या कराने की उत्सुकता नहीं रही, उसे टालने की विधि सोचने लगी। पहले तो उसके मन में आया कि राजा को जगाकर सब हाल कह दे,

परन्तु यह विचार अधिक देर टिका नहीं। उसे भय लगा कि यह कहने पर राजा मुझे सूली न दे दे, अथवा बन्दीगृह में न डाल दे। वह उससे डरती थी। दूसरा उपाय यही था कि राजा को कल सुबह महल से बाहर जाने ही न दिया जाये। यह उपाय उसे अत्यन्त सरल लगा। यदि वह मुझे इतना चाहता है तो मैं बीमारी का बहाना करके या स्वप्न में राजा का अनिष्ट देखने का बहाना करके उसे रोक लूँगी। यह उसे ठीक जँचा, पर फिर उसने सोचा कि यदि राजा को छोड़कर कोई दूसरा भी उस फाटक से गया, तो सारा कुचक्र खुल जायेगा। फिर उसने सोचा कि चाणक्य को बुलाकर दारुकर्मा द्वारा रचित यह कुचक्र ही क्यों न हटवाकर राजा को जाने दिया जाये; लेकिन फिर "क्या चाणक्य मेरी बात सुनेगा। वह अपनी की हुई तैयारी को हटा देगा क्या? वह अपनी कुटिल नीति से दूर कैसे रह सकता है? " ऐसे प्रश्न भी उसके मन में आने लगे। किसी भी एक प्रकार के निश्चय पर वह नहीं पहुँची। उसका मन चंचल हो उठा। जी व्याकुल हो उठा। इतने में ही रात का एक पहर समाप्त हुआ और महाराज जग गये। उन्होंने देखा कि मुरादेवी जग रही है, अत: उसे पुकारा–"तुम आज जाग क्यों रही हो?" उन्होंने प्रश्न किया। यह सुनते ही एक बार उसकी इच्छा हुई–सब कुछ कह दे, पर दूसरे ही क्षण उससे सोचा कि मैं भले ही राजा के प्राण बचा लूँ, परन्तु वह मेरे न बचायेगा। अत: उसने केवल यही कहा–"क्या करूँ, आज किसी भी तरह से नींद नहीं आ रही है। मन न मालूम कैसा हो रहा है।"

"राजा–"क्यों, मन को क्या हुआ? मैं सवेरे एक क्षण के लिए तुम्हारे महल से बाहर जाऊँगा, इसीलिए तुम घबरा गई हो? "

मुरादेवी–"हाँ, कुछ अंश तक यह बात सही है। कितना यत्न किया, नींद आती ही नहीं। पर, आज आपको जाना ही चाहिये क्या ? "

राजा–"जाना पड़ेगा–ऐसी बात तो नहीं है। पर, एक बार वचन दे दिया है तो जाना ही ठीक है।"

मुरादेवी–"मुझे बड़ी घबराहट मालूम होती है। मन कहता है कि आज कोई भयंकर घटना घटित होने वाली है।"

राजा–"कितना आश्चर्य है! तुम्हारे मन की यह दशा है और मुझे भी एक विचित्र स्वप्न दीख पड़ा है।"

मुरादेवी–"वह क्या? आप कुछ बोल अवश्य रहे थे। मैं भी निद्रावस्था में थी–कुछ समझ न सकी; पर आप बोल रहे थे अवश्य।"

राजा–(हँसकर)–"स्वप्न में जो कुछ देखा था उसी के सम्बन्ध में रहा होगा और क्या होता ? पर स्वप्न था विचित्र।"

मुरादेवी–"पर इतना विचित्र क्या था? मुझे नहीं बतायेंगे?"

राजा–"समझ में नहीं आता, तुझसे कहूँ या न कहूँ? क्या करूँ ? "

मुरादेवी–"कह दीजिये। क्यों व्यर्थ झिझकते हैं।"

राजा–"पर, उसे सुनकर कदाचित् तुम्हें बुरा प्रतीत हो और तुम अप्रसन्न हो जाओ।

मुरादेवी–“मैं आपसे अप्रसन्न हो जाऊँगी? क्या विलक्षण कल्पना है! ”

राजा–“कल्पना कैसे? सुनते ही तुम क्रोधित हो जाओगी।”

मुरादेवी–“क्रोध नहीं करूँगी, सचमुच क्रोध नहीं करूँगी। बस, हुआ न।”

राजा–“तो सुनो, मुझे एक विचित्र स्वप्न दिखाई दिया।”

मुरादेवी–“यह तो आपने पहले ही बताया था; पर स्वप्न क्या था? ”

राजा–“यदि मैं न बताऊँ और तुम न सुनो तो कोई हानि है? ”

मुरादेवी–“मेरे मन में व्यर्थ शंकायें उठेंगी और क्या? ”

राजा–“मैंने ऐसा स्वप्न देखा कि हम-तुम एक घोर जंगल में गये हैं, जहाँ बड़ा अँधेरा है।

मुरादेवी–“अरे बाप रे! घोर जंगल में, हम-तुम अकेले!”

राजा–“हाँ, हमीं-तुम्हीं तीसरा कोई नहीं, सचमुच तीसरा कोई नहीं।”

मुरादेवी–“विलक्षण स्वप्न है। हाँ, आगे क्या हुआ? ”

राजा–“आगे...तुम आग्रह करती हो तो कह ही देता हूँ। पर.. ”

मुरादेवी–“अच्छा, वहाँ हम खड़े हैं। इतने में क्या चमत्कार हुआ कि तुमने मेरे हाथ से धनुष-बाण छीन लिया। इतने में ही एक अत्यन्त विकराल बाघ मुझ पर झपटा। बाप रे कैसा विकराल था ! ”

मुरादेवी यह सुनकर घबराकर महाराज से सटकर बैठ गई और बोली–“महाराज बचाइये। बाघ का नाम सुनते ही मैं थरथर काँपने लगती हूँ। ऐसा लगता है कि बाघ मेरे सामने ही खड़ा है। अच्छा, आगे क्या हुआ? डर लगता है, पर सुनने का मन भी है।”

राजा–“वाह! डरती हो तो मैं नहीं कहता।”

मुरादेवी–“मैंने कहा न, भय लगता है और सुनने को मन भी होता है।”

राजा–“कहता हूँ; पर आगे सुनने का आग्रह न करो तभी ठीक है।”

मुरादेवी–“यह क्या? अब तो मेरी उत्सुकता और भी बढ़ गई है। आपके पास रहकर डर कितनी देर तक रहेगा ? ”

राजा–“आगे यह हुआ कि उस बाघ ने मुझ पर हमला करके मुझे...”

मुरादेवी–“हे भगवान्। यह सुनकर तो मुझे मूर्च्छा आ रही है।”

राजा–“घबराओ, नहीं, यह सच नहीं है, यह तो स्वप्न मात्र है।”

मुरादेवी–“सच, मैं तो भूल ही गई थी। आगे क्या हुआ?”

राजा–“यही कहने में तो संकोच कर रहा हूँ, कहा नहीं जा रहा।”

मुरादेवी–“ऐसी भी क्या बुरी बात है, कह डालिये।”

राजा–“जब उस बाघ ने मुझ पर हमला किया तो मैंने तुमसे तलवार माँगी–तुमने

तलवार नहीं दी और दूर भाग गई।"

मुरादेवी–"यह आप क्या कहते हैं? मैं आपका प्राण न बचाकर दूर भागी? यह भी कैसा स्वप्न है! कहीं आप उसे सच तो नहीं मानते, तभी तो ऐसा स्वप्न नहीं दिखाई दिया? "

राजा–"अरे पगली, यह क्या कहती है! आगे सुनेगी तो क्या कहेगी।"

मुरादेवी–"कहना क्या है? पर आगे कहिये। अब तो मुझसे जाने बिना नहीं रहा जाता।"

राजा–"ज्यों-ज्यों तू भागने लगी त्यों-त्यों मैं तुझसे विनय करने लगा "यदि तुम अभी तलवार नहीं दोगी तो बाघ मुझे खा जायेगा" पर उल्टा तू बोली "खाने दो! मेरे पुत्र को बाघ ने कैसा खाया होगा, इसकी कल्पना की है? मैं यही चाहती हूँ कि यह तुम्हें खा ले।" तुम्हारा यह बोलना सुनकर मैं स्तब्ध रह गया।"

और यह सुनकर मुरादेवी भी स्तब्ध रह गई। यही नहीं, वह चक्कर खाकर गिर पड़ी।

चौबीसवाँ परिच्छेद

निश्चय डाँवाँडोल

राजा का यह स्वप्न सुनकर महादेवी के शरीर से पसीना छूटने लगा। उसके मन में सन्देह हुआ कि कहीं राजा हमारी काली-करतूत जान तो नहीं गये, तभी परीक्षा लेने के लिए बनावटी स्वप्न की बात कह रहे हैं। उसे अपनी साँस रुकती-सी मालूम दी। उसकी समझ में न आया कि क्या कहे ! रोये या न रोये। वह राजा से एकदम सटकर बैठी थी, उसके शरीर का कम्पन राजा ने अनुभव किया; पर उसने उसका दूसरा ही कारण सोचा और बोला–"प्रिये मुरे, जब स्वप्न का वर्णन करने पर तुम्हारा यह हाल है तब यदि सचमुच तुम्हारे देखते बाघ ने मुझ पर हमला किया तो तुम्हारी क्या दशा होगी?"

महाराज का यह प्रश्न सुनकर मुरा के जी को किंचित् धीरज हुआ और वह तुरन्त बोली–"ऐसी बात होने पर मेरे प्राण-पखेरू उसी दम निकल जायेंगे। पर आर्यपुत्र, आप तलवार माँग रहे थे और मैं दे नहीं रही थी, स्वप्न में ही सही, कहीं आप मेरा परित्याग तो नहीं कर देंगे? आपके स्वप्न का वर्णन करने के क्षण से ही मुझे यह डर लगने लगा है।"

ऐसा कहकर उसने जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया। राजा ने उसका प्रगाढ़ आलिंगन करके कहा–"पगली ! स्वप्न में देखी बात को सच मानकर मैं तेरा परित्याग करूँगा? क्या मैं ऐसा मूर्ख हो गया हूँ। यदि मैं अपनी आँख के सामने भी ऐसा प्रसंग देखँ, तो भी उस पर विश्वास नहीं करूँगा। मुझे तो यही लगेगा कि स्वप्न ही देख रहा हूँ। अब और क्या कहूँ?"

"आर्यपुत्र, आप सच कह रहे हैं न? नहीं तो आप बिना कारण सन्देह करेंगे। मैं एक बार फल भुगत चुकी हूँ, इसीलिए बार-बार पूछती हूँ। मैं बिल्कुल निराश्रित हूँ। आपको छोड़कर मेरा कोई नहीं है। हे भगवान्! यह भी क्या स्वप्न तूने दिखाया ?"

"प्रिय, अब व्यर्थ क्यों रोती हो? मैंने कह नहीं दिया कि तुम्हारे प्रति मेरे मन में प्रेम–केवल दृढ़ प्रेम है, दूसरी किसी चीज़ का स्थान नहीं है। फिर अब व्यर्थ शोक क्यों करती हो ? मैं क्या करूँ कि तुम्हें निश्चय हो जाये?"

मुरा बोली–"मेरे विश्वास के लिए? पर महाराज कल प्रात: आप मेरे महल से जायेंगे ही ?"

"तुमने ही मंत्री राक्षस के सामने मुझे जाने को कहा न? मैं तो तुम्हारी राय के बिना वचन ही नहीं दे रहा था। पर तुमने ही कहा न कि मैं तो जाने को मना नहीं करती हूँ।"

"मैंने ऐसा कहा अवश्य, पर न जाने से काम नहीं चलेगा क्या?"

"चलेगा क्यों नहीं? पर न जाने का कारण क्या है?"

"कारण?" मुरा आगे बोलने से रुक गई। वह सोचने लगी कि कह दूँ या नहीं। अन्त में उसने न कहने का ही निश्चय किया, और बोली–"कारण यही है कि मुझे ऐसा जँचता है कि आप न जाएं तो ठीक रहे। उस समय तो मैंने अनुमोदन कर दिया था, पर अब ऐसा..."

"समझा, समझा," राजा धनानन्द हँसते-हँसते बोला, "अब तुम्हे ऐसा जँचता है कि मैं एक बार जाकर कदाचित् वापस न आऊँ! स्त्री बड़ी संशयी जीव होती है। तुम समझती हो कि मैं इतने दिनों से यहाँ हूँ तभी ही मेरा प्रेम तुम पर है, बाहर जाऊँगा तो कोई बहका देगा, नहीं तो मेरी दृष्टि किसी पर पड़ जायेगी और मेरा चित्त तुम्हारी ओर से हट जायेगा? यही न?"

"यही बात नहीं है" मुरा ने रुकते-रुकते जवाब दिया। उसे अब तक के अपने कुचक्र रचने पर बड़ी ग्लानि हुई। एक बार तो उसके मन में आया कि राजा के पैर पकड़कर उससे क्षमा माँगे; पर दूसरे ही क्षण उसने सोचा कि यदि राजा ने क्षमा न किया तो ? अन्त में उसने यह निश्चय किया कि किसी युक्ति से राजा का जाना रोक दूँ। "यही बात नहीं है" कहकर जब वह चुप हो गई तो राजा उससे बोला–"यही बात नहीं तो और क्या है? आगे क्यों नहीं बोलती हो? रुक क्यों गई!"

"कुछ नहीं ऐसे ही। मैं कारण क्या बताऊँ। मुझे बार-बार ऐसा लगता है कि सवेरे-सवेरे आप बाहर न जाएँ।"

वह कुछ न बोली। तब राजा ने आगे कहा–"मैं यहाँ से जाकर पुनः वापस नहीं आऊँगा–यही कारण है। जब तक मैं बाहर जाकर आ न जाऊँ, तुम्हारा भय नहीं जायेगा। अत: आज के प्रसंग पर तुम्हारा भय मिटाना चाहिए, जिसका डर तुम्हें इतने दिनों से लगा है। ठीक है न? अब तुम कुछ भी कहो, मैंने जाने का निश्चय कर लिया है। अब और कुछ न बोलो। मुझे ज़रा सोने दो, तुम भी सो लो। बिल्कुल चुप रहो।"

ऐसा कहकर राजा दूसरी ओर करवट लेकर सो गया। थोड़ी देर में ही उसे नींद आ गई। प्रभात होने में 4-6 घण्टे की देर थी। पर मुरादेवी को नींद न आती थी। उसने सोने का बहुत प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। उसके मस्तिष्क में यही विचार बार-बार चक्कर काट रहा था कि राजा को रोकने के लिए कौन-सी युक्ति काम में लाई जाये? उसने सोचा–किसी दूसरे से उपाय पूछे, पर किससे पूछे? उसकी अत्यन्त विश्वासपात्र दो सखियाँ ही थीं। एक वृन्दमाला, दूसरी सुमतिका। वृन्दमाला सब कामों में मदद नहीं करती थी, उसे कपट-नाटक ज़रा भी पसन्द नहीं था और जो कुछ मैं कर रही हूँ, वह कपट-नाटक ही है। अत: उससे कुछ भी सहायता पाने की आशा व्यर्थ है; उससे केवल कार्य हानि होगी। ऐसा समझकर उसने वृन्दमाला को अपने कुचक्र से अलग कर दिया और बाहर से अपना व्यवहार भी बदल दिया। उसने दिखाने का प्रयत्न किया कि मैं राजा से बड़ा प्रेम करती हूँ। सब कपट-जाल छोड़ दिया। सुमतिका को कपट-जाल में दक्ष जानकर सहायता की आशा से उसे अपने विश्वास में ले लिया। चाणक्य के पास जाने-आने का यही साधन बनी। उसे अब तक का सब कपट-जाल मालूम था। अतः अब भी उससे ही सहायता मिलेगी, ऐसा सोचकर वह धीरे से उठकर कमरे के बाहर निकली। उसने देख लिया था कि महाराज प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हैं। सुमतिका के सोने के कमरे में जाते हुये उसे किसी के पैर की आहट सुनाई पड़ी, मानो कोई

तेजी से जा रहा हो। उसे सन्देह हुआ, और उसने कमरे के बाहर इधर-उधर देखा। कोई कहीं न था। वह सुमतिका के सोने के कमरे में पहुँची। वह भी प्रगाढ़ निद्रा में मग्न दिखाई दी। उसने कितनी बार उसे पुकारा, पर वह न उठी। उसके बगल में ही सोई हुई एक दासी हड़बड़ाकर उठी और बोली, "क्या आज्ञा है?" तब मुरादेवी ने कहा–"सुमतिका को ठीक तरह से हिला-डुलाकर उठा। यह नींद है अथवा राक्षसी निद्रा।" तब उस दासी स्वर्णलता ने उसे हिलाकर उठाया। वह घबराकर उठी और मुरादेवी को देखे बिना बोली–"क्यों री स्वर्णलता! क्यों व्यर्थ हैरान करती है?" अनन्तर उसकी दृष्टि मुरादेवी पर पड़ी और बोली–"यह क्या? महारानीजी, क्षमा करें। मैं बड़ा सुहावना स्वप्न देख रही थी, तभी इसने मुझे जगा दिया...पर देवी, क्या आज्ञा है?";

"तुमसे कुछ कहना है। स्वर्णलता इसी दम बाहर जा तो। किवाड़ बन्द करके एकदम दूर खड़ी रहना। हमारी बात नहीं सुनना। इस समय तो यहाँ कोई आयेगा नहीं, आये भी तो वहीं रखना, मुझे सूचना देने मत आना। हमारी बात समाप्त होते ही तू बुला ली जायेगी, जा।"

मुरादेवी की ऐसी आज्ञा पाते ही स्वर्णलता कमरे से बाहर निकली और अब मुरादेवी सुमतिका को अपनी हृद्गत भावनायें बताने चली तो उसका चित्त कुछ चंचल हो उठा; उसने मन-ही-मन में कहा–"सुमतिका! पहले से ही अपने कपट-नाटक के अनुकूल है। यदि मैं उसे अपनी भावनायें बता दूँ तो वह मुझे किस प्रकार उचित सलाह देंगी? कदाचित् उसे यह न अच्छा लगे और वह मेरा मन उसी कुचक्र की ओर फिर फेर दे। यह दुष्ट कपट-जाल ही पसन्द करती है। यदि मुझे कपट-नाटक छोड़कर सुकर्म करना है, अब तक की अपनी बातों को गुप्त रखकर और अपना अहित न होने देकर यदि महाराज के प्राण बचाने हैं तब उसे अपने मन की बातें कहना उपयोगी नहीं। इसे इधर-उधर की कुछ कहकर बहकाये रखना चाहिये, नहीं तो कहीं मुझसे ही कपट-नाटक न खेलने लगे।" ऐसा विचार मन में आते ही उसने सुमतिका से व्यर्थ में सुमतिका की सलाह न लेने का निश्चय किया! और सुमतिका से बोली– "सुमतिके, मुझे आज रात-भर किसी प्रकार भी नींद नहीं आई। क्या अपना यह कार्य सिद्ध होगा! यदि कार्य-सिद्धि न हुई तो तेरा और मेरा क्या होगा; सुमतिका सचमुच बड़ी चतुर थी। रानीजी, यदि मुझे उठाने आई तो केवल इसलिए ही नहीं, यह ताड़कर वह बोली–"देवि, इसके बारे में आप जरा भी चिन्ता न करें। आर्य चाणक्य कोई ऐसे-वैसे पुरुष नहीं हैं। जो षड्यन्त्र उन्होंने रच दिया, वह विफल हो ही नहीं सकता। क्या इसी विचार से आपको नींद नहीं आई। मैं तो समझी थी कि क्या बात है जो आपको नींद नहीं आई। चाणक्य का व्यूह सिद्ध होगा और आपकी इच्छा अनुकूल आपके भतीजे को राजसिंहासन मिलेगा।"

"चुप-चुप सुमतिके" मुरादेवी उसके मुँह पर हाथ रखकर बोली–"अरे, ज़ोर से मत बोल। दीवार के भी कान होते हैं। अब इतनी दूर पहुँचकर गड़-बड़ न कर।"

इतना कहकर मुरादेवी फिर चुप हो गई। अब वह पुनः इस निश्चय पर पहुँची कि यदि इस कुचक्र से मुझे बचाकर महाराज के प्राण बचाने की भी युक्ति कोई बता सकता है तो यह सुमतिका ही है। अत: अपना मन उसके आगे स्पष्ट कर देना चाहिये। वृन्दमाला को इन

बातों की गन्ध भी नहीं मिली है। उसे भी ये सब बातें बताकर उसका परामर्श लूँगी। पर, वह सम्मति ही क्या देगी! उसका मन पुनः चंचल हो उठा और एकाएक वह सुमतिका से बोली–"सुमतिके भतीजे को राज्य मिलने से मुझे क्या लाभ! उसकी अपेक्षा यदि महाराज के चिरायु होने की कामना करके मैं उनके प्रेम के नीचे जो सुख भोगूँगी, वह क्या बुरा है? मुझे इतने दिन तक बन्दीगृह में डाला, मेरे पुत्र को मरवाया। उसी रोष में आकर मैंने कुछ कहा, कुछ की कुछ प्रतिज्ञा करके कुचक्र रचा; पर मेरा मन अब उस कुचक्र को सफल नहीं होने देना चाहता। जा, चाणक्य गुरु से कह आ कि अपना सब कुचक्र बन्द करके और चन्द्रगुप्त को लेकर वे चले जाएँ। मैं महाराज को आज न निकलने देने के प्रयत्न में हूँ। पर, यदि उन्होंने न माना तो उनके आगे सब हाल स्पष्ट कहकर क्षमा माँगूँगी। यदि उन्होंने क्षमा किया तो ठीक, नहीं तो जो भी दण्ड देंगे, भोगूँगी। बिना कारण मैं किसी प्रकार उनकी हत्या न होने दूँगी। सुमतिके, अपने कपट-नाटक को गुप्त रखकर ही महाराज के प्राण बचाने का उपाय बता, नहीं तो जो मैंने कहा, उसी के अनुसार करूँगी।"

मुरादेवी की ये बातें सुनकर सुमतिका चकित रह गई। मैं जो कुछ सुन रही हूँ, वह मुरादेवी ही बोल रही है क्या? मैं जाग्रतावस्था में यह सब सुन रही हूँ न? स्वप्न में तो नहीं? और वह तुरन्त बोली–"देवि, आपका मन एकाएक बदलने का कौन-सा कारण हो गया! आप जो कुछ कहेंगी, वही शिरोधार्य है। अभी कहें, तो अभी-अभी आर्य चाणक्य को बुला लाऊँ।

"जाओ! मेरा निश्चय हो गया। महाराज से ही सब स्पष्ट कह दूँगी, तो उस बेचारे ब्राह्मण को भारी धक्का पहुँचेगा। इससे अच्छा तो यह है कि उसे सब बात पहले ही कहकर भाग जाने को कह दूँ। जा, इसी क्षण जा, खड़ी मत रह। यह समय निकल गया तो कोई कह नहीं सकता कि क्या होगा! मेरा मन क्षण-क्षण बदल रहा है, जा, इसी क्षण जा।"

सुमतिका ने भी सोचा कि ऐसे समय आर्य चाणक्य का आना ठीक है। अत: थोड़ी देर में ही चाणक्य को लेकर वह आ उपस्थित हुई।

आर्य चाणक्य और मुरादेवी का उस समय का संवाद अत्यन्त विलक्षण था, यह पाठक अगले अध्याय में जानेंगे।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

भतीजा या पुत्र?

मुझे क्यों बुलाया है, नई बात खड़ी हुई है, यह सब सुमतिका ने चाणक्य को रास्ते में आते-आते बता दिया था। मुरा के आज तक के संसर्ग से उसका मन अन्त में बदलता देखकर चाणक्य को आश्चर्य नहीं हुआ। वह कुछ असावधान न था। स्त्री जाति ही तो है, किस समय क्या मन में आ जाये, कोई कह नहीं सकता। युद्ध-निपुण अर्जुन का भी चित्त अन्त में युद्ध करने के विरोध में कैसे हो गया था, ऐसा सोच कर और प्रसंग को किस तरह से सँभालना चाहिए, इसका निश्चय उस दूरदर्शी चाणक्य ने पहले ही कर रखा था। पुन: यह कहने की आवश्यकता नहीं कि चाणक्य ऐसा मनुष्य था कि जिस काम में हाथ लगा देता था उसे पूरा करके ही छोड़ता था। उसने पहले से ही सब स्थितियों का सामना करने की तैयारी कर रखी थी। सुमतिका के सब हाल सुनाने के साथ ही उसने निश्चय कर लिया कि उसे क्या बोलना चाहिए और क्या कहना चाहिए! सुमतिका ने उसे यज्ञ-शाला में ले जाकर बैठाया। उसके आते ही मुरा भी आ गई और वह मुरा के सामने खड़ा होकर बोला–''देवि, मुझे इस समय क्यों बुलाया है! कार्य-सिद्धि में विघ्न पड़ने की दुर्भावना से तो नहीं बुलाया ! यदि ऐसा है तो जल्द कहो। मैं उस विघ्न को दूर करूँ।''

''विप्रश्रेष्ठ'' मुरा बोली–''आपका आरंभ किया कार्य होगा ही। विघ्न कुछ नहीं है; पर मुझे लगता है कि प्राणघात न ही इसीलिए आपको बुलाया भी है। अपना कुचक्र छोड़ दीजिए। यदि यह संभव नहीं, तो मैं महाराज को किसी भाँति बाहर न जाने दूँगी। यदि वे माने तो सब कुछ कहकर क्षमा माँग लूँगी। आप चन्द्रगुप्त को लेकर अभी चले जाइये, नहीं तो आपके प्राणों पर भी बन आयेगी।''

यह सुनकर चाणक्य हँसकर बोला–''देवि मुरे, मैं पठन-पाठन करने वाला ब्राह्मण था, तुमने मुझे इस झंझट में व्यर्थ डाला। केवल तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए मैं चन्द्रगुप्त को लेकर यहाँ आया। जब उसे राज्य मिलने के सभी लक्षण प्रकट होने लगे, तब तुम ऐसी बातें कहने लगीं, तो क्या कहूँ? पर पगली मुरे, अब तू अपना मन बदल...''

यह बोलते हुए आर्य चाणक्य की आवाज़ बहुत ऊँची हो गई, अत: मुरादेवी उनसे बोली–''विप्रश्रेष्ठ, तुम ज़ोर से बोलने लगोगे तो घण्टे-भर बाद उपस्थित होने वाला संकट अभी आ खड़ा होगा। यदि तुम चुपके से पाटलिपुत्र के बाहर निकल गये, तब तो तुम्हारे प्राण बच जाएँगे; परन्तु यदि तुम्हारी ज़ोर की आवाज़ से महाराज तुम्हारी बात सुनकर जग गये अथवा किसी दूसरे ने सुनकर उनके कान में डाल दिया तब भला क्या होगा? अब और वाद-विवाद में न पड़कर अपनी और चन्द्रगुप्त की जान बचाइये; नहीं तो मेरा पक्का निश्चय हो चुका है। किसी-न-किसी उपाय से मैं महाराज का बाहर जाना रोक दूँगी–नहीं तो उन्हें सब बात साफ़-साफ़ बतला कर सावधान कर दूँगी। पर उनकी हत्या नहीं होने

दूँगी।''

''उनकी हत्या मत होने दो, पर तुम अपने पेट के पुत्र की हत्या करोगी क्या ?'' चाणक्य ने उसके सामने होकर उससे कहा।

''मैं अपने पेट के पुत्र की हत्या करूँगी! कहाँ का पुत्र ? आप यह क्या कह रहे हैं?'' मुरादेवी आश्चर्यचकित होकर पूछने लगी। चाणक्य के बोलने का अर्थ ही उसकी समझ में न आता था। तब चाणक्य उससे पुनः बोला, ''अपने पुत्र की हत्या करने वाले को दण्ड दूँगी; और किसी दूसरे समीपवर्ती को राजगद्दी दूँगी। यही तुमने प्रतिज्ञा की थी न? पर अब देखता हूँ कि अपनी प्रतिज्ञा भंग करके तुम स्वयं अपने हाथ से अपने पुत्र की हत्या करने जा रही हो, इसका अर्थ क्या है?''

''आर्य कहीं आपका चित्त ही तो भ्रम में नहीं पड़ गया है? मैं अपने पेट के पुत्र की हत्या करने जा रही हूँ। ऐसा आपके तीन-तीन बार कहने का मतलब क्या है? कहीं आपने मेरे गर्भवती होने की बात, जो एकदम झूठ है, तो नहीं सुन ली है? राजा से अपना अपराध स्वीकार कर लेने पर उसके दण्ड देने से मेरे अपने हाथों से पुत्र-हत्या होगी, यही है न? पर मैं गर्भवती हूँ ही नहीं। आपको यह भ्रम हो गया हो तो उसे दूर कर दीजिये।''

''देवि! मैं किसी भ्रम में नहीं पड़ा हूँ। हाँ, तुम अवश्य भ्रम में हो। राजा ने तुम्हारे पेट के पुत्र की हत्या का प्रयत्न किया। पर, वह सफल नहीं हुआ। अब तू अपने हाथ से उसकी हत्या करने का प्रयत्न कर रही है।''

उसका यह बोलना सुनकर मुरा पागल-सी हो गई और आश्चर्य तथा उत्सुकता से चाणक्य की ओर देखने लगी। पर उसके मुँह से शब्द ही न निकलते थे। क्या कहे, वह स्वयं ही न समझ सकी।

चाणक्य को तो यही चाहिये था। वह आगे बोला–''देवि, तुम्हें अधिक देर भ्रम में नहीं रखूँगा। तुम जननी हो, तुम्हें अपने पुत्र की जानकारी होनी चाहिए थी, पर नहीं है तो मैं बताता हूँ। मैं अब देर नहीं करूँगा। कभी-न-कभी कहने ही वाला था; पर तुमने अभी कहने की आवश्यकता पैदा कर दी। देवि, तुम्हारा पुत्र जीवित है।''

''मेरा पुत्र जीवित है?'' मुरा ने उसके सामने होकर ज़ोर से पूछा–"वह कहाँ है?" वह क्या कह रही है, इसका उसे ज्ञान ही न रहा।

''हाँ, तुम्हारा पुत्र जीवित है।'' आर्य चाणक्य किंचित् हँसकर बोला।

''आर्य, आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं?'' मुरा ने पुनः पूछा।

''यह विनोद करने का समय नहीं है, मैंने जीवन-भर किसी की हँसी नहीं की।''

''तो क्या उस समय मेरे पुत्र की हत्या नहीं हुई?''

''नहीं, वह हत्या नहीं हुई। वह जीवित है, मेरे पास प्रमाण मौजूद है।''

"मुरादेवी आश्चर्य से चकित हो गई। चाणक्य के कहने का उसे विश्वास ही न हुआ। अनन्तर बोली–''इस समय वह कहाँ है?'' इस समय भी पाटलिपुत्र में तुम्हारे अत्यन्त

समीप है। वही तुम्हारा...''

''क्या कहते हैं। मेरा पुत्र मरा नहीं! वह पाटलिपुत्र में है? आर्य चाणक्य मुझे सन्देह में मत रखिये। जो कुछ कहना हो, स्पष्ट रूप में कह दें।''

''देवि मुरे, अब और क्या स्पष्ट करूँ। तुम्हें विश्वास नहीं होता ?''

''मुझे विश्वास हो गया है। पर वह सच है या झूठ।''

''अपना विश्वास सच या झूठ बनाने वाला अपना मन ही है?''

''पर आज तक तो मेरे मन में ऐसा विश्वास नहीं पैदा हुआ।''

''पर तुमने विश्वास करने का प्रयत्न ही नहीं किया तो विश्वास हो कैसे?''

''तो क्या चन्द्रगुप्त को मेरा पुत्र कहते हैं? जिसका जन्म होते ही मुझे बन्दी होना पड़ा और जिसकी हत्या की आज्ञा महाराज ने दी–मेरा वही पुत्र जीवित है? वही यह चन्द्रगुप्त है? आर्य चाणक्य मुझे बना तो नहीं रहे हैं? मैं आपके आदेशानुसार चलूँ, इसीलिए तो आपने यह बात नहीं गढ़ ली। क्या सचमुच चन्द्रगुप्त मेरा पुत्र है?''

''हाँ, हाँ! जिसकी हत्या करने के लिए धनानन्द ने उसे हत्यारों के हाथ सौंपा था–जो आज पाटलिपुत्र के यौवराज-पद का सुख भोगने का सच्चा अधिकारी है। वही तेरा पुत्र चन्द्रगुप्त है! देवि मुरे, तुम्हें उसमें और अपने रूप में समानता नहीं दिखाई दी क्या? उसे देखकर तुम्हारे मन में कभी पुत्र वात्सल्य नहीं उमड़ पड़ा क्या? इससे पूर्व कि तुम मुझसे उसके बारे में कोई प्रश्न पूछो, मैंने पहले ही कह दिया कि ''यह तुम्हारा पुत्र है।'' भतीजा बताने से तुम्हारे और उसके रूप में समानता देखकर किसी को आश्चर्य करने की गुंजायश नहीं रहती। पर मेरी बात में आकर तुम भी फँस जाओगी, इसकी मुझे आशंका थी। फिर भी मैंने निश्चय किया था कि जिस दिन वैसी परिस्थिति आ खड़ी होगी, मैं स्पष्ट बात कहने में न हिचकूँगा, पर आज तक उस बात का अवसर ही नहीं आया।''

मुरादेवी चाणक्य की बातें सुन रही थीं अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। कारण, उसका चित्त उसकी बातों की ओर नहीं था। चाणक्य की बात सच है क्या? चन्द्रगुप्त अपना पुत्र है क्या? कहीं चाणक्य मुझे अनुकूल करने के लिए तो ऐसी बात नहीं कह रहा है? उसे ऐसा सन्देह हुआ और वह बीच में ही चाणक्य से बोली–

''यह मेरा पुत्र है–इस बात को प्रमाणित करने के लिए आपके पास क्या आधार है?''

''आधार, तुम्हारे और उसके स्वरूप का साम्य!''

''यह कोई बड़ा आधार नहीं है, इसके अतिरिक्त कोई और हो तो कहिये।''

''देखो, मुरे! ऐसा प्रमाण माँगने का यह समय है?''

''समय कैसा भी हो, पर मेरे मन की विचित्र दशा है, फिर आधार न माँगूँ तो और क्या करूँ?''

''तुम्हें आधार चाहिये, तो देखो यह क्या है? यह उस नवजात शिशु की बाँह पर बँधा था। वह हिमालय की तराई के जंगल में पड़ा हुआ मिला था; जहाँ चाँदनी में चरवाहों ने

उसे पाया। भगवान चन्द्रमा उसका संरक्षण कर रहे थे, अतएव चरवाहों ने उसका नाम चन्द्रगुप्त रख दिया।''

आर्य चाणक्य ने यह कहकर वह रक्षाबन्धन आगे किया। उसकी देखते ही मुरादेवी की यह स्थिति हो गई मानी यह अँधेरे से निकलकर सूर्य का प्रकाश देखकर चकाचौंध हो गई हो। रक्षाबन्धन देखते ही उसके मन का संशय एकदम दूर हो गया और आश्चर्य, हर्ष और किंचित् खेद से वह स्तब्ध रह गई। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला था। बड़ी देर हो गई। उसे कुछ देर ऐसी स्थिति में ही रहने देना ठीक है, ऐसा समझ कर चाणक्य भी चुप रहा। कुछ देर बाद वह बोली–

''आर्य चन्द्रगुप्त मेरा पुत्र है, यह आपके कहने से...''

''कहने से क्यों कहती हो? तुम्हें विश्वास दिला दिया न?''

''क्यों नहीं, पर अब यह जानकर मेरे मन की स्थिति और भी विलक्षण हो गई है। अब मैं क्या करूँ? महाराज को जाने दूँ ? क्या करूँ, क्या न करूँ, मेरी तो समझ में कुछ भी नहीं आता।''

''इसमें समझ की क्या बात है? यदि अपने पुत्र को गद्दी पर बैठाना चाहती हो तो चुप बैठो। उस समय तुम्हारे पुत्र की हत्या नहीं हुई, अब कहनी हो तो राजा से सब बात कह दो। तुम उसे लेकर भाग जाने को कहती हो, पर मैं ऐसा भागने वाला नहीं हूँ। 'उसे नन्द के सिंहासन पर बैठाऊँगा, नहीं तो अपने प्राण दे दूँगा।' ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है। मेरा षड्यन्त्र सिद्ध हो गया तो मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो जाएगी। यदि मेरा षड्यन्त्र तुम्हारे डरने के कारण असफल हुआ तो राजा मेरा प्राण ले लेगा, चन्द्रगुप्त की भी हत्या कर देगा। मेरे लिये दोनों समान हैं। यदि प्रतिज्ञा असफल हुई तो मैं प्राण दे दूँगा। तुझे अपने पुत्र के प्राणों की चिन्ता न हो तो जो चाहे कर। या तो पुत्र को गद्दी दे या उसके प्राण ले। चुप रहेगी तो उसे राज्य मिलेगा ही। अगर बात फूटी तो राजा ने उसकी हत्या की समझो। मैं अब जाता हूँ। जो कुछ करना हो, शांत होकर करो। मैं अब रुक नहीं सकता, मुझे देरी हो रही है।'' यह कहकर चाणक्य वहाँ से सचमुच चला गया।

मैंने जो कह दिया उसका पूर्ण परिणाम होगा। यदि राज्य लोभ से नहीं तो पुत्र के प्राणों के लोभ से अब यह चुप रहेगी, इस बात का चाणक्य को पूर्ण विश्वास था। वह निश्चिन्त होकर चला गया। इधर मुरा को बड़ी चिन्ता हुई। चन्द्रगुप्त मेरा पुत्र है, उसे राज्य मिलेगा, पर पति को सावधान करके छोड़ देने के अलावा और कौन मार्ग है? मुझे ऐसा यत्न करना चाहिये कि वे जाएँ ही नहीं। यदि मैं इस काम में असफल हुई तो क्या होगा? जिस तरह से पागलपन में नाना प्रकार के विचार चक्कर काटते हैं वही हाल मुरादेवी के मन का था। अब वह क्या करे, इसी चिन्ता में थी कि राजा धनानन्द जाग गया और उसने उसे बुलाया।

रात को इतना जागने पर भी मुरा कब की उठ गई, यह देखकर राजा धनानन्द को आश्चर्य हुआ। तब वह उससे बोला–मैं आज जाने वाला हूँ, यही सोचकर शायद तुम्हें नींद न आई? तुम्हें अब भी विश्वास नहीं होता कि मैं बाहर जाकर वापस आऊँगा! बड़ी पगली है तू! पर आज मैं तुझे विश्वास दिला दूँगा।''

“नहीं महाराज, आज आप नहीं जाइये। कल प्रात: जाना हो तो जाइये।”

“कल क्या अच्छा है और आज क्या बुरा है? यह कुछ नहीं, तुम तैयारी करो। राक्षस ने तैयारी कर रखी होगी। मुझे लेने के लिये वह अभी आयेगा।”

“पर महाराज, मेरी दाईं आँख फड़क रही है। मुझे बड़ा डर लग रहा है।”

“तुम्हारा भय संध्या के समय जब मैं वापस आऊँगा तो दूर हो जायेगा।”

छब्बीसवाँ परिच्छेद

पति अथवा पुत्र?

महाराज का मन बदलने को और उनका राजसभा में जाना रोकने के लिए मुरादेवी ने अनेक प्रयत्न किये; पर सभी विफल गये। महाराज धनानन्द उसकी एक न सुनते थे, वे अपनी इस बात से चिपके रहे कि "तुम्हारे मन में है कि मैं यहाँ से एक बार गया कि फिर किसी दूसरे के बहकाने से या स्वयं का मन बदल जाने से यहाँ वापस नहीं आऊँगा। तुम्हारे मन को यही भय लगा है, इसलिए इतना आग्रह कर रही हो, पर मैं एक न सुनूँगा। क्षण भर, नहीं पहर डेढ़ पहर तुम्हें बुरा लगेगा, मुझे आने में इतना ही समय लगेगा भी, तब तुम्हारा सब भय मिट जायेगा। इसीलिए मैं तुम्हारी विनती नहीं सुनूँगा, तुम्हारी आज्ञा नहीं मानूँगा। अब इस बारे में कुछ मत बोलो। जाओ, मेरे जाने की तैयारी करो। नहीं तो मेरे साथ चलो। हाथी पर बैठकर आना। चलो, यदि कोई मेरा मन तुम पर से हटाने लगे तो तुम उसे अपनी ओर खींच लेना। आती हो, तुम्हारे लिए भी व्यवस्था करवाऊँ।" राजा धनानन्द कुछ विनोद और कुछ-कुछ मन से बोल रहा था। उसके यह सब कहने के बाद मुरादेवी ने यही निश्चय किया कि राजा अब मेरा कहना नहीं मानेगा। राजसभा में जाने का निश्चय नहीं बदलेगा। राजा विनोद की बातें कर रहा था; पर विनोद का उत्तर देने की मुरा की मनोदशा नहीं थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। उसका चित पागल-सा हो उठा था। 'यदि इस समय चुप बैठी रही, तो पुत्र को राज्य मिलेगा, मेरी प्रतिज्ञा पूरी होगी। पर, पति की हत्या का महापाप अपने माथे पर लगेगा। मुझे चिरकाल तक रौरव नरक भुगतान पड़ेगा। पुत्र को गद्दी पर देखकर आनन्द नहीं होगा; पति का चित्र आँखों के सामने आ खड़ा होगा। पतिहत्या का पाप मुझे कहीं का न रखेगा। अत: मैं चुप न बैठूँगी। जो कुछ पाप मैंने अब तक किया है, जो कुछ कुचक्र रचा है, उसे पति से कहकर उनकी दी हुई सज़ा को चुपचाप सहन करूँगी। मुझे बन्दीगृह में डाल देंगे और क्या करेंगे? पर, मुझे ही कारागृह में डाल कर और वध करके थोड़े ही छोड़ देंगे। जिसको अपनी जान में जन्म होते ही उन्होंने मरवा दिया था और मैंने उसका बदला लेने की प्रतिज्ञा की थी–आज इतने दिनों बाद मेरी दृष्टि पड़ी है, उसे सिंहासन मिल रहा है–उसकी क्या दशा होगी? पर इतने दिन तक षड्यन्त्र रचकर अन्त में जब मैं ही उसे विफल करने की चेष्टा करूँगी, तो चाणक्य न मालूम क्या करेगा? फिर तो राजा चन्द्रगुप्त को भी मरवा डालेगा। 'यह आपका पुत्र नहीं है, यह उस समय मारा नहीं गया, तभी ये सब षड्यन्त्र खड़े हुए हैं। वही पुत्र अब आपके प्राण लेने पर उतारू है' आदि-आदि कहकर राजसभा के सरदार लोग राजा को चिढ़ायेंगे। ऐसी बात सुनकर यदि वह एक बार चिढ़ गया तो पता नहीं क्या करेगा? चन्द्रगुप्त उसका पुत्र है, यह बात वह मन में लायेगा ही नहीं। तो अब मैं क्या करूँ? क्या स्वयं अपने हाथों से अपने पुत्र

की हत्या करूँ ? पति अथवा पुत्र ? पति अथवा पुत्र ?' उसके हृदय में यही संघर्ष चल रहा था। वह दोनों को बचाना चाहती थी–दोनों में से किसी का बाल न बाँका होने देना चाहती थी। अब जब मैं जान गई हूँ कि मेरा पुत्र जीता है तो मैं तो यही प्रयत्न किया करूँगी कि सुमाल्य को राज्य न मिलकर मेरे पुत्र को मिले। यदि पतिहत्या टल गई और पुत्र का भी बाल न बाँका होने की व्यवस्था कर दी गई तो बाद में महाराज का मन बदलकर अपने पुत्र को राज्याभिषेक करवाऊँगी। यह करने के लिए हत्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं भी पगली बनकर उस षड्यन्त्र रचने वाले ब्राह्मण के कहने में कैसे आ गई? उसने दुष्कर्म करने के लिए मुझे राह सुझाई और मैं भी उस राह पर चलती गई। यदि अब मैं चुप न रही और उसे सन्देह हो गया कि मैं उसका षड्यन्त्र विफल बनाने के फेर में हूँ तो वह अपनी जान की परवाह न करके मेरी जान लेने के लिए तैयार हो जायेगा और इतने दिन बाद मिले मेरे पुत्र के प्राणों की भी कुशल न होगी। वह ब्राह्मण है, शायद धनानन्द उसकी हत्या न करे। मैं स्त्री हूँ, शायद मेरी हत्या भी न करे। पर, पिता का वध करके राज्य पाने वाले पुत्र को कौन क्षमा करेगा? फिर, पुत्र का शिरच्छेद होने दूँ? मैं क्या करूँ? पति की हत्या भी तो देख नहीं सकती। यदि उसे न होने दिया तो पुत्र की हत्या अवश्यमेव होगी। वैसा मैं नहीं होने दे सकती। ऐसा क्या उपाय करूँ कि दोनों सकुशल रहें। कुछ नहीं। मैं चुप रहूँगी, पर चुप रहने का अर्थ है पति की हत्या होने देना। वह न होने दूँ तो दूसरी आफ़त। उसके मन में इसी प्रकार संघर्ष चल रहा था। यह सब विचार करते हुए भी वह भ्रान्त-चित्त से महाराज की सेवा कर रही थी, राजा ने उसके चित्त की यह भ्रान्ति देखी; पर उसने सोचा कि मेरे जाने के कारण ही उनका चित्त भ्रान्त है, तब मैं संध्या समय लौटकर आ जाऊँगा, तब वह उल्लास में परिणत हो जायेगा, जब तक चुप रहना ही श्रेयस्कर है। वह तैयारी करने लगा, स्नान-ध्यान हुआ, उपाहार हुआ। इतने में ही मुरादेवी के मन में आया कि एक बार वह राजा से अन्तिम विनती करे कि वे न जायें। यदि वे मान गये तो ठीक ही है, नहीं तो उनसे सब हाल कहकर परमात्मा पर छोड़ दूँ। अपने को, अपने पुत्र को और उस ब्राह्मण को क्षमा करने की विनती करूँ। किया तो ठीक नहीं, तो भी ठीक ही है। इतना निश्चय करके आँखों में आँसू भरकर हाथ जोड़कर और अत्यन्त उदास होकर महाराज से अन्तिम बार यह विनती की–"कुछ भी हो जाये, आज आप न जाइये।" पर राजा ने स्पष्ट कह दिया कि "इस सम्बन्ध में मैं तुम्हारी एक न सुनूँगा।" इतना कहकर राजा अपने वस्त्र अलंकार आदि की तैयारी में लग गया। यह देखकर अत्यन्त हताश होकर अपने दूसरे निश्चय–अपने षड्यन्त्र की सब बात कहने के अभिप्राय से वह महाराज के पैरों पर गिरकर बोली–"महाराज, मेरा कहा आप नहीं सुनते हैं, केवल एक बार... "

परन्तु उसका यह निश्चय पूर्ण होने को था ही नहीं। वह आगे कुछ कहने जा ही रही थी कि "महाराज की जय हो! " दस मनुष्यों के कण्ठों से निकली हुई आवाज़ उसके कानों में पड़ी। यह शब्द सुनते ही जो उसने सिर उठाया तो सामने छोटे राजकुमार और मन्त्री राक्षस के साथ दस आदमियों की जय-जयकार करते देखा। चन्द्रगुप्त को अपना पुत्र जानने के बाद उसने अब पहली बार ही देखा था। उसके देखते ही मुरा के मन में मोह उत्पन्न हो गया। उसका राजसी रूप देखते ही उसका चित्त उसकी ओर आकर्षित हो उठा। उसके और अपने स्वरूप की समानता मन में आते ही उसके मन में यह विचार दृढ़ हो गया कि यह

मेरा ही पुत्र है, और जिसको मैं मृत जानकर इतने दिन तक प्रेम कर रही थी, वह मेरे सामने खड़ा है। सुमाल्य की ओर दृष्टि जाते ही उसके प्रति जो द्वेष था, वह पुन: जाग्रत हो गया। जैसे इसका पालन-पोषण किया, ऐसे ही यदि अपने पुत्र का किया होता, तो इस मन्त्री राक्षस की मूर्खतापूर्ण बातों में आकर यदि राजा... "

पर, अब जब वह आ ही गया है, नहीं, परमेश्वर ने स्वयं भेजा है, तब राजा का नाश हो, और अपने पुत्र को–इस सुन्दर राजसी पुत्र–चन्द्रगुप्त को राज्य मिले, तब मैं व्यर्थ बीच में क्यों पड़ूँ? उसके मन में आया कि जो कुछ होना है, होने दे। यदि सुमाल्य और राक्षस कुछ देर से आते तो सब षड्यन्त्र वह राजा के कानों में डाल देती, पर उन दोनों को देखते ही उसकी ईर्ष्याग्नि भड़क उठी और उस पर परदा गिर गया। जब वह महाराज के पैरों पर गिरी, वैसे ही वे लोग वहाँ आ पहुँचे। उसे इस बात का बड़ा सन्ताप हुआ कि उन लोगों ने उसे ऐसे करते देख लिया। वह उठकर एकदम दूर जा खड़ी हुई। अनन्तर "आर्यपुत्र; ये लोग आपको लेने आये हैं, अब मैं जाती हूँ। आप सुरक्षित होकर राजकार्य कर आवें।" यह कहकर वह चली गई। जाते-जाते उसने एक बार अपने पुत्र की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा।

इधर राजा को ले जाने की सब तैयारी हो चुकी थी। महल के नीचे ही सवारी के लिए हाथी खड़ा था। राजा नीचे जाकर हाथी के ऊपर अम्बारी में आरूढ़ हो गया। उसके आगे रणवाद्य और समारोह के अन्य वाद्य बजने लगे। झंडे उड़ रहे थे। राजा के हाथी की बाईं ओर एक हाथी पर युवराज आरूढ़ हुआ। दाहिनी ओर प्रधानमन्त्री एक हाथी पर आरूढ़ होकर चला। केवल चन्द्रगुप्त बाजे वालों के पीछे और राजा के हाथी के आगे चल रहा था। इस तरह के क्रम से सवारी चल रही थी। अमात्य राक्षस बड़ा आनन्दित दीख पड़ा। लोगों की भीड़ न होने देने के लिए कुछ सैनिक भी अगल-बगल चल रहे थे और वे लोगों को दूर ही रख रहे थे।

मुरादेवी का महल राजमहल से दूर था। उसे बन्दी बनाने पर इसी महल में रखा गया था। बाद में उसके आग्रह करने पर फिर उसे उसी महल में रहने दिया गया, अस्तु। ऊपर वर्णनानुसार सवारी चल रही थी। राह में कई स्थानों पर प्रजा ने फाटक बनाये थे और सजाया था। उन्हीं के नीचे-नीचे सवारी चल रही थी। दोनों ओर मकान थे, अत: राजा और राजपुत्र सुमाल्य पर बराबर पुष्पवर्षा हो रही थी। पता नहीं कितने वर्षों के बाद इस रूप में राजा की सवारी पाटलिपुत्र में राजमार्ग पर जा रही थी। इसलिए लोग इतना समारोह कर रहे थे।

ऐसे ठाट-बाट के साथ सवारी जा रही थी कि इतने में सामने से ही एक घुड़सवार जोर से घोड़ा दौड़ाता हुआ आता दिखाई पड़ा। वह कौन घुड़सवार है, जो इतनी तेज़ी से आ रहा है। लोग इसका पता ही लगा रहे थे कि वह राक्षस के हाथी के समीप पहुँच गया और भाले में एक पत्र बाँधकर राक्षस की अम्बारी के पास कर दिया। राक्षस ने जो पत्र लेकर उसे खोला और पढ़ा–तो उसका चेहरा एकदम उतर गया। पर राजा का ध्यान उस ओर न था, यह देखकर राक्षस ने सन्तोष की साँस ली। उसने एक बार महाराज की ओर देखा और अपना हाथी राजा के पास ले जाकर राजा से बोला, "महाराज, अभी मैं आपके साथ चला। अब मुझे दूसरे मार्ग से राजसभा में जाने की आज्ञा हो, मुझे कुछ तैयारी करनी है।"

इतना कहकर राजा की आज्ञा की राह देखे बिना उसने अपना हाथी दूसरी ओर घुमाया। राजा ने उस ओर ध्यान नहीं दिया या कहिये उसका ध्यान उस ओर गया ही नहीं। उसकी दृष्टि अपने ऊपर पुष्पवृष्टि करने वाली युवतियों की ओर थी। होते-होते सवारी चाणक्य के खड़े कराये हुए कृत्रिम फाटक के समीप आई। चन्द्रगुप्त वहाँ क्षण-भर खड़ा हो गया। जिस ओर से जाने में ज़रा भी धोखा न था उसने अपना घोड़ा उसी ओर बढ़ाया।

इधर महल से राजा की सवारी निकलते ही मुरादेवी के चित्त की पुन: विचित्र स्थिति हो उठी। 'पति अथवा पुत्र?' यही प्रश्न बार-बार दु:ख देने लगा। अपने पुत्र को गद्दी दिलाने के लिए पतिहत्या होने देना घोर नीचता है। अपना सुहाग नष्ट करके अपने पुत्र के मस्तक पर राजमुकुट देखने की इच्छा अत्यन्त निन्द्य है। इस आर्यावर्त में ऐसी दुष्ट स्त्री न अब तक जन्मी थी, न अब जन्म लेगी। अब भी यदि पालकी में सवार होकर मैं राजा को सावधान कर आऊँ तो उनके प्राण बच जायें। उसने यह सब सोच-विचार कर फिर एक बार राजा के प्राण बचाने का निश्चय किया। शायद सुमतिका यह कहने पर न सुने इसलिए उसने वृन्दमाला को बुलाकर एक पालकी तैयार करवाने को कहा। इस समय मुरादेवी कहाँ जायेगी, यह विचारने के लिए क्षण-भर खड़ी रही कि मुरादेवी उसके करीब पहुँचकर बोली–"क्या? मेरे हाथ से पतिहत्या करवाने का ही तुम्हारा सबका निश्चय है? जा, जा। एक क्षण का बिलम्ब करेगी तो महाराज न बचेंगे, जल्दी जा।"

यह सुनते ही वृन्दमाला भय में पड़कर पागलों के समान दौड़ी। उसने जितना जल्दी हो सका, पालकी तैयार करायी। पर, मुरादेवी को यही लगा कि बड़ी देर हो गई। अन्त में पालकी में बैठकर उसने वाहकों को आज्ञा दी... "मुझे महाराज की सवारी के पास ले चलो।" वाहक बड़ी तेजी से चल रहे थे, पर वह चिल्लाकर कह रही थी, "जल्दी चलो, जल्दी पैर उठाओ" कि इतने में उसके कान में एक भयंकर हाहाकर का शब्द पड़ा!

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

स्वयं का हाहाकार

वह हाहाकार सुनकर मुरादेवी को दारुण दुःख हुआ। उसे बड़ी आशा थी कि ठीक समय पर पहुँचकर वह अपने सुहाग की रक्षा कर लेगी। पर वह हाहाकार सुनकर उसकी सारी आशा नष्ट हो गई। अपने हाथ से ही उसने अपना सिर फोड़ लिया। जब उसे टालने का समय था, तब तो मैंने कुछ किया नहीं और अब ऐन वक्त पर दौड़ी आती हूँ, तो होता ही क्या? जो होना था, हो गया। अब इतना हाहाकार करने से क्या लाभ? ऐसा सोचकर वह पगली-सी बन गई। आगे जाये या पीछे अथवा अपने ही हाथ से अपना प्राण ले-ले–उसने कोई निश्चय न किया। इतने में ही पालकी और आगे गई और उसके कानों में ये शब्द पड़े–"मन्त्री राक्षस की जय हो!" "मन्त्री राक्षस की जय हो!" ये शब्द सुनकर उसकी बड़ा आश्चर्य हुआ। पर, ध्यान से सुनने पर वही शब्द जब फिर सुनाई पड़े तब आश्चर्य आनन्द में बदल गया। उस आनन्द के जोश में वह अपने आप बोली–दुष्ट चाणक्य का कुचक्र जानकर ही मन्त्री राक्षस अपनी जय-जयकार करवा रहा है! महाराज के प्राण बच गये। धन्य राक्षस! तू धन्य है! सचमुच तू धन्य है!–नहीं तो एक मैं हूँ–कि जिसने मेरा प्रत्यक्ष रूप में पाणि-ग्रहण किया, उससे मैंने द्वेष किया, उसकी जान लेने की तैयारी की। आर्यावर्त में ऐसा कुकर्म किसी ने न किया होग–मैंने ही ऐसा कुकर्म किया, पर तूने महाराज का पूर्ण संरक्षण किया–चाणक्य का सब कुचक्र मिट्टी में मिला दिया! ठीक है! अब मैं स्वयं अपने कुकर्म के लिए प्रायश्चित्त करूँगी। अब प्राण त्यागने के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है। अब मैं आगे भी क्यों जाऊँ? मैं यहीं इसी समय प्राण दे दूँगी? राक्षस ने महाराज और इन सब लोगों की प्राण-रक्षा की है, तभी तो उसके नाम का जय-जयकार हो रहा है। नहीं तो उसके नाम का जय-जयकार क्यों होता? उस दुष्ट चाणक्य का कपट-नाटक अब खुल गया होगा। यदि महाराज ने उसे दण्ड दिया, उसको फाँसी दे दी, तो ब्रह्महत्या का पाप लगने की जगह एक ब्राह्मण रूपधारी दैत्य को मारने का पुण्य मिलेगा, वह मेरा नाम भी लेगा। लेने दो। मुझे तो स्वयं प्रायश्चित्त करना है। जिस समय उस दुष्ट की निगाह मुझ पर पड़ी, उसकी बातों में आकर जिस समय मैं अपने पति के विरुद्ध हुई, उसी समय मैं महापातकी बन गई; मुझे तो उसी समय जान देकर प्रायश्चित्त करना चाहिये था। पर, मेरे पाप का घड़ा तब भरा न था। अब भरा है। अब भी प्रायश्चित्त हो जाये तो देर नहीं है।" इसी प्रकार के अनेक विचार थोड़े-से अवकाश में ही उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रहे थे। यह वर्णन करने में जितना समय लगा, विचार आने-जाने में उसका एक शतांश समय भी न लगा होगा। अब मुरादेवी वाहकों को शीघ्र पग उठाने के लिये नहीं कह रही थी; अतः वे धीरे-धीरे चल रहे थे। फिर भी वे काफ़ी आगे निकल गये, बीच-बीच में "राक्षस की जय" का घोष कान में पड़ रहा था। पर, तब वह हाहाकार कैसा था? उन्हें भी बड़ी उत्सुकता हुई कि यह हर्ष और

रुदन साथ-साथ क्यों हो रहा है, अतः वे भी तेजी से चलने लगे।

थोड़ी दूर आगे जाने पर सामने से भयंकर चीत्कार करते हुए लोग वापस आते दिखाई दिये। दिखाई देने की अपेक्षा यदि यह कहा जाये कि एक-दूसरे के ऊपर गिरते दिखाई पड़े, तो अधिक उपयुक्त होगा। गिरते-पड़ते वे पालकी के पास से भी निकले और ऐसा कि पालकी अभी गिर पड़ेगी। वाहकों ने पालकी जमीन पर रख दी और उसकी रक्षा के लिए खड़े हो गये। कारण अब आगे जाना असम्भव था, विशाल जनसमूह फटा पड़ रहा था। इतने जन-समूह के धक्कम-धक्के से मुरादेवी की विचारधारा रुकी और वह वाहकों से पालकी भूमि पर रखने का कारण पूछने ही वाली थी कि एक वाहक उसके पास आकर बोला–"देवीजी, यहाँ से पालकी आगे ले जाना असम्भव है। महासागर की लहरों के समान क्षुब्ध जन-समुदाय हमारे शरीर पर उलटा पड़ रहा है। कोई कुछ पूछने पर ठीक से उत्तर ही नहीं दे रहा है। कोई राक्षस को गाली दे रहा है तो कोई 'यह कैसा भयंकर संहार है!' कहकर चिल्ला रहा है। सच बात क्या है; कुछ समझ में नहीं आती। पालकी आगे ले जाने का मौक़ा नहीं है। आपकी आज्ञा हो तो मैं आगे जाकर देख आऊँ कि क्या बात है?" 'राक्षस को गाली दे रहे हैं?' और 'कैसा भयंकर संहार है' कह रहे हैं–ये दो बातें सुनकर मुरादेवी को बड़ा आश्चर्य हुआ। लोग यदि 'कैसा भयंकर संहार है' कह रहे हैं तब तो चाणक्य का कुचक्र सफल हो गया प्रतीत होता है। पर मैंने 'राक्षस की जय हो' का नारा सुना, उसका क्या मतलब है? क्या करूँ? कुछ समझ में नहीं आता। "जा रे, तू स्वयं प्रत्यक्ष देखकर आ कि क्या हुआ है और मुझे बता। तब तक यह पालकी यहीं रहने दे। तेरे ये साथी मेरी रक्षा करेंगे। जा, जल्दी जा।" उसने यह कहकर उसे भेज दिया, पर उसका मन बड़ा अधीर हो रहा था! वह पालकी वाहक अभी पचास या सौ डग ही गया होगा कि मुरादेवी ने दूसरे वाहक से, 'वह अभी तक क्यों नहीं आया! तू जाकर उसकी खोज कर और वहाँ क्या हो रहा है देखकर आ' कहने लगी। देख, वह तेज़ी से नहीं चलता।"

"आप ज़रा भी चिंता न करें, वह अभी आ पहुँचता है" वाहक ने ऐसा उत्तर दिया। पर वह कहाँ सुनने वाली थी, "भले ही वह आये, तू भी जा," कहकर उसे भी जाने का आदेश दिया। तब शेष दोनों को देवी की आज्ञानुसार "अब तुम दोनों ही हो, पालकी की ठीक से रखवाली करो" कहकर चलता बना।

मुरादेवी के मन की अधीरता इतनी बढ़ गई थी कि उसे इस बात का पता ही न था कि वह क्या कह रही है अथवा क्या बोल रही है? थोड़ी भी देर नहीं हो पाई कि अपनी रक्षा के हेतु खड़े शेष दो पालकी-वाहकों से बोली–"कोई आया रे?" अब कोई नहीं आता तो मैं स्वयं जाऊँगी। तुम दोनों मेरे दोनों ओर होकर मुझे भीड़ में से ले चलो। देखो तो, आया नहीं? नहीं, चलो मैं ही उतरती हूँ, चलो।" ऐसा कहकर वह सचमुच उतर पड़ी और उन दोनों को अपने साथ चलने का हठ करने लगी।

"आप इस झमेले में नहीं पड़ें। आप इस तरह से पैदल इतने भयंकर जन-समुदाय में से कैसे और कहाँ जायेंगी? पहले यह तो समझने दीजिये कि यहाँ क्या घटना घटी है?"

पर मुरादेवी ने एक न सुनी। "मैं इससे भी भारी भीड़ में से जाऊँगी। तुम लोग केवल मेरे पीछे-पीछे आओ।" ऐसा कहकर वह चल पड़ी। उसके मन में क्या विचार चल रहे थे,

उसके वर्णन का अभी कोई अर्थ नहीं है। सूर्योदय के समय क्षितिज पर सूर्य की किरणें पड़कर आसमान का रंग क्षण-क्षण में जैसे बदलने लगता है, उसी प्रकार से मुरादेवी का मन भी अनेक प्रकार के विकारों से प्रतिक्षण बदल रहा था। वह बड़ी उत्सुकता से चल रही थी। उसके अगल-बगल चलने वाले पालकी-वाहक उसे भीड़ से बचाने का अनेक प्रयत्न कर रहे थे, फिर भी वह भीड़ की चपेट में आ ही जाती थी। यदि और कोई समय होता तो मुरादेवी को आते देखकर नगरवासी उसके लिए रास्ता छोड़ते जाते, पर आज के प्रसंग से सब अन्धे से होकर चल रहे थे। उनके चेहरे पर से दु:ख, उद्वेग और निराशा के भाव स्पष्ट प्रकट हो रहे थे। और ऐसा लगता था कि वे जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी वहाँ से हट जाना चाहते थे। ऐसे समय में किसकी दृष्टि किसकी ओर जायेगी? इसके अलावा मुरादेवी किसी ठाठ-बाठ की पोशाक में भी नहीं जा रही थी।

जाते-जाते वह एक ऐसी जगह पहुँची जहाँ भीड़ थी। उसके दोनों परिचारकों ने उससे कहा–"महारानी, यहाँ से एक डग भी आगे बढ़ने की सम्भावना नहीं है, आप लौट चलिए।" पर जाते हुए लोगों के मुँह से उसने जो बातें सुनी थीं उससे वहाँ क्या भयंकर दुर्घटना हुई है, इसका तर्क वह कर चुकी थी। यदि सब कुछ तर्कानुसार ही हुआ है तो मैं वहाँ जाए बिना रहूँगी ही नहीं, ऐसा निश्चय करके उसने परिचारकों से आग्रह किया–"मुझे इस भीड़ के पार ले चलो। ज़रा भी न झिझको, भारी पुरस्कार दूँगी।" एक तो पुरस्कार का लालच था, दूसरे उनकी भी उत्सुकता जाग्रत हो गई थी–अत: वे दोनों मान गये। दोनों किसी तरह लोगों को इधर-उधर ठेलते हुए मुरादेवी को लेकर राजप्रासाद के द्वार पर पहुँचे। वहाँ उनकी नज़र के सामने घोर भयंकर दृश्य दिखाई पड़ा। कृत्रिम फाटक गिर पड़ा था, उसके नीचे कितनी ही लाशें दबी दीख पड़ रही थीं, और रक्त की धारा बह रही थी। उसके चारों ओर सिपाहियों का पहरा है जो लोगों को पीछे हटा रहा है। वे पड़े हुए शव देखकर मुरा का सर्वांग थर-थर काँपने लगा। उसे सन्देह हुआ कि वह खड़ी रह सकेगी अथवा नहीं, उसे बड़े ज़ोर से चक्कर आ रहा था। इतने में ही उसके करीब कोई आया और उसके कान में बोला–"ऐसे दृश्य देखने के लिए स्त्रियों को नहीं आना चाहिए। देवि, तुम बड़ी धृष्ट हो। ऐसा संहार करने के लिए कुचक्र मात्र रचने से तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ? अपनी आँखों से अपने कुचक्र का फल देखने आई हो! कोई हर्ज़ नहीं। देवि, हर एक काम तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही हुआ है। मज़ा तो यह है कि सब ही समझ रहे हैं कि यह मंत्री राक्षस की कारस्तानी है। अब तुम यहाँ मत खड़ी रहो, मैं भी जाता हूँ।"

देवी मुरा ने पर्दा कर रखा था, तथापि चाणक्य ने तर्क से जान लिया था कि वह जरूर आयेगी, अतः झट से पहचान लिया। पहचानकर ही वह मुरादेवी के पास गया। उस स्थान के लोगों को हटाने के लिए पहरेदारों से इशारा करके उसने मुरादेवी के कान में उपर्युक्त बातें कहीं। चाणक्य ने उपर्युक्त बात बिल्कुल धीरे से गुनगुनाकर कहीं। पर वह पहचान गई और उसे बड़ा सन्ताप हुआ। क्रोध से लाल होकर वह बोली–"दुष्ट, आज तक आर्य-स्त्री ने जो विचार मन तक न लाया होगा वही तूने मुझसे करवाया। अब मैं ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर सब बात सच-सच कहती हूँ, और अपने प्राण भी यहीं दे दूँगी। मेरे लिए यही सज़ा है–यही प्रायश्चित्त है, और लोगों को सच बात मालूम होगी तो तुझे और तेरे वंश में रहने वाले मेरे पुत्र को भी वे योग्य सज़ा देंगे।"

इतना कहकर उसने मुँह से अवगुंठन हटा दिया। अब उसका चेहरा एकदम क्रूर दिखाई पड़ा और वह सँभलकर उच्च स्वर में बोली–"लोगो सुनो ! यह अत्यन्त नीचतापूर्ण कार्य मन्त्री राक्षस ने......."

परन्तु आर्य चाणक्य के इशारा करने के कारण कहिये या वहाँ के पहरेदारों को उसमें कोई भयंकर बात जान पड़ी इसलिए समझिये, उसे पीछे हटाने के लिए वे उसकी ओर लपके। न तो वह पीछे हटती थी, न कुछ सुनने के लिए तैयार थी। इतने में उसने देखा कि चाणक्य के इशारा करने पर भीड़ में से दो-चार भील उसे उठाने के लिए लपक रहे हैं। यदि मुझे इन लोगों ने पकड़कर कहीं कैद कर दिया तो उससे अच्छा तो यही है कि इस गड्ढे में कूदकर मैं जान दे दूँ। चाणक्य के सामने मेरी कुछ चलन की नहीं है। यही सच्चा प्रायश्चित्त होगा, ऐसा समझ वह गड्ढे के किनारे पहुँचकर बोली–"दुष्ट चाणक्य, इस महापाप के कारण तू जन्म-जन्मान्तर तक दैत्य होकर जन्म लेगा। मैं भी सती का कर्तव्य पालन करने के लिए इस खोह में कूदती हूँ।" ऐसा कह कर वह कूद पड़ी।

खाई बड़ी गहरी थी। पर, ऊपर से किसी के नीचे गिर जाने पर उसे निकालने के लिए चाणक्य ने भील नियुक्त कर रखे थे तथापि मुरादेवी को बाहर निकालने की किसी को आवश्यकता नहीं पड़ी। उसका प्रायश्चित्त का निश्चय देखकर परमेश्वर ने उसे वहीं गति दे दी।

उपर्युक्त हाहाकार होने से पूर्व अमात्य राक्षस एक ओर चला गया था। पाठकों की दृष्टि में यह बात होगी ही। उसे किसी ने जो चिट्ठी लाकर दी थी, उसमें केवल इतना लिखा था कि 'आप तो इस समारोह में लगे हैं, पर नगर को तो पर्वतेश्वर ने घेर लिया है; उसका भी कोई उपाय किया है?' यह पढ़ते ही उसने सोचा कि देखना चाहिए क्या मामला है? महाराज की सवारी चल रही है, अब वह राजसभा में पहुँच ही जायेगी–ऐसा विचार करके वह पर्वतेश्वर क्यों आया है? कैसे आया है ? इसकी खोज करने चला। राक्षस के जाने के बाद आधा ही घंटा बीता होगा कि राजगृह-द्वार के समीप तोरण के नीचे चन्दनदास के घर से खोदकर लाई गहरी खाई के ऊपर सवारी पहुँच गई। दोनों ही हाथियों के साथ नवों नन्द उसमें समा गये। चाणक्य के प्रबन्ध के अनुसार भील वहाँ तैयार खड़े थे, उन्होंने तुरन्त ही तलवार से नवों नन्दों के शरीरों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और चाणक्य की शिक्षा के अनुसार; "अमात्य राक्षस की जय हो" कहकर चिल्लाने लगे। खाई के समीप ही दूसरे भी भील थे–उन्होंने भी वैसा ही जय-जयकार शुरू कर दिया। जिसका मतलब यह था कि यह सब कुकर्म राक्षस ने ही करवाया है और इसीलिए स्वयं आधे घंटे पहले से ही चला गया–ऐसा लोगों का दृढ़ विश्वास हो गया। जो लोग जानते थे कि मुरादेवी के महल से महाराज को राक्षस ही ने निकाला, राजा उसी के आग्रह से बाहर आये, वे तो पक्की तरह मान गये कि राजहत्या और राजकुल के लोगों की हत्या का कुकर्म राक्षस का ही किया हुआ है। ऐसा विश्वास जमाने के लिए ही चाणक्य ने राक्षस के पास यह पत्र भिजवाया था और नन्द की हत्या करने वाले भीलों से राक्षस का जय-जयकार कराया था। पर, राक्षस पर वृथा आरोप लगाना ही चाणक्य का लक्ष्य नहीं था, उसे तो आगे चलकर दूसरा ही कार्य साधना था। वह यह था कि राक्षस ने पर्वतेश्वर को राज्य देने के हेतु नन्दवंश का नाश किया और पाटलिपुत्र

पर पर्वतेश्वर का घेरा डलवाया। परन्तु चन्द्रगुप्त ने अनिष्ट टालने के लिए जी-तोड़ परिश्रम किया। नन्दवंश के इतने पुरुष–नौ के नौ–मृत्यु के मुख में जा पड़े तब भी उसने उस वंश की लाज रख ली। लोगों को दिखाना था कि उसने पर्वतेश्वर को हराकर फिर पाटलिपुत्र की रक्षा की। यह काम पूरा करने के लिए चाणक्य ने अपने भीलों की सुसज्जित एक दूसरी भी टोली तैयार करके रखी थी। उन टोलीवालों को उसने कह रखा था कि खाई में गिरे लोगों का संहार होते ही 'कुमार चन्द्रगुप्त की जय' की गर्जना करते हुए वे भील कूद पड़ें और कुछ भीलों को घायल करके दूसरों को भगा दें। ऐसा होने पर लोग समझेंगे कि चन्द्रगुप्त ने ही लाज रख ली, नहीं तो सारे पाटलिपुत्र का संहार हो जाता।

चाणक्य का यह हेतु कैसे पूर्ण हो गया, यह आगे प्रगट होगा।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

पर्वतेश्वर को पकड़ लिया

पर्वतेश्वर के पास राक्षस का अर्थात् राक्षस की मुद्रायुक्त पहला पत्र जब पहुँचा तब वह बड़ा आनन्दित हुआ। ग्रीक यवन बादशाह सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण करके जिन राजाओं को हटाया और उन्हें अपने अधीन बनाया अर्थात् उनका पुराना राज्य उन्हें लौटा दिया, ऐसे राजाओं में पर्वतेश्वर एक मुख्य राजा था। उसे पाटलिपुत्र के राजा नन्द से बड़ा द्वेष था। म्लेच्छ-यवनों के दास राजा की सेना में म्लेच्छ-यवन आदि थे। इसलिए राजा नन्द उन्हें भी म्लेच्छ समझता था। ये सब राजा म्लेच्छों के दास बन गए। पर, अपना आर्यत्व, श्रेष्ठत्व स्थिर है–राजा नन्द को इस बात का बड़ा अभिमान था। इस अभिमान का परिणाम यह हुआ कि पर्वतेश्वर जैसे राजा उससे द्वेष करने लगे। किसी भी तरह इस नन्द के आर्यत्व का मद उतर जाना चाहिए, यही उनकी आकांक्षा थी। ऐसी स्थिति में राक्षस जब उसका प्रधानमन्त्री बन गया, तब तो पर्वतेश्वर के आनन्द की सीमा ही न रही। पर्वतेश्वर ने राक्षस को पत्र लिखा, उसका उत्तर आया। पुन: पर्वतेश्वर ने पत्र लिखा और उसका उत्तर आया–"अमुक दिन आधी रात के करीब आप थोड़े सैनिक लेकर पाटलिपुत्र आ जायें तो काम बन जाये। अधिक सैनिक न लायें। मगध की सीमा पर आने पर लोग घबराने लगेंगे, अत: कह दीजियेगा कि हम राजा धनानन्द के आमन्त्रण पर कुछ दिन के लिए जा रहे हैं। आपके पास थोड़े सैनिक रहेंगे, यदि वे प्रजाजनों को सतायेंगे नहीं तो वे निश्शंक रहेंगे। इधर मेरी सब सेना तैयार है। सेनापति भागुरायण मेरे अनुकूल हैं। हाँ-हाँ करते हुए आप यहाँ पहुँचकर सिंहासन पर अधिकार कर लेंगे–इसकी पूर्णरूपेण तैयारी हो चुकी है। नन्द का वंश एक क्षण में ही समूल, सशाख, सांकुर नष्ट हो जायेगा–इसकी भी उत्तम व्यवस्था की गई है। अधिक लिखने का अवसर नहीं है। यह बड़ा सुअवसर है। आप चूक गए तो मेरा नाश हो जायेगा और आपका लाभ जाता रहेगा। यदि कार्यसिद्धि हुई तो मैं गुणग्राहक चक्रवर्ती राजा का प्रधानमन्त्री बनने के योग्य हूँ और मगध देश की प्रजा को धनानन्द के अत्याचार से छुड़ाने का श्रेय आपको मिलेगा और आप चक्रवर्ती पद पायेंगे"।

नन्द का अपमान करके मगध का चक्रवर्तित्व पाने का इच्छुक पर्वतेश्वर प्रसन्नता से फूला न समाया। उसे दूसरे पत्र की सत्यता पर तनिक भी सन्देह न हुआ और उसने राक्षस के लेखानुसार करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त वह पत्र उसके पास इस गुप्त रीति से पहुँचा था कि व्यर्थ शंका और तर्क-वितर्क को उसमें स्थान ही नहीं था। शीघ्रता करने से इतने दिनों का मनोवांछित फल मिलने वाला था। न करने से अवसर चला जायेगा। ऐसे समय शीघ्रता करने के सिवाय वह और क्या करता? राक्षस ने लिखा ही था कि मगध की सेना और सेनापति भागुरायण अपने अनुकूल हैं, अत: आपको अधिक सेना लाने की

आवश्यकता नहीं है। लोग घबरा जायेंगे, अत: थोड़ी सेना ले चलना ही ठीक है। भागुरायण की सहायता से अपना कार्य सफल हो जाएगा। प्रजा तो गाय के सदृश होती है। एक स्वामी को छोड़कर उसे दूसरा मालिक मिल जाता है, केवल बीच में थोड़ी गड़बड़ होती है। ऐसा विचार करके पर्वतेश्वर ने अपने साथ अधिक सेना नहीं ली। रास्ते में उसने लोगों से कह दिया कि महाराज नन्द के आमन्त्रण पर दो-चार दिन को उनका मेहमान बनने जा रहा है। इसके अलावा प्रजा को कोई कष्ट भी नहीं पहुँचा, अत: पर्वतेश्वर निर्विघ्न मगध की सीमा में प्रविष्ट हुआ।

जिस पत्र को पाकर मूर्ख पर्वतेश्वर इतनी जल्दी दौड़कर पाटलिपुत्र के पास आ पहुँचा, वह पत्र आर्य चाणक्य ने राक्षस के नाम से तैयार करके भेजा था–चतुर पाठक इसे भाँप गए होंगे। पत्र पर पहले के अनुसार राक्षस की मुद्रा आदि भी थी और वह पत्र पर्वतेश्वर को ऐसे मौके पर मिला कि उसे मीनमेख निकालने का अवसर ही न मिला। देर करने से अवसर चूक जाने का डर था। अत: ऊपर वर्णनानुसार पर्वतेश्वर पाटलिपुत्र के समीप पहुँचा और भागुरायण कब सैन्य लेकर आता है और मुझे पाटलिपुत्र के अन्दर ले जाकर, मेरा जय-जयकार करता हुआ राक्षस कब राजगद्दी पर बैठाता है, इसकी राह देखने लगा। बेचारे को बड़ी आशा लगी थी, पर निराश ही होना पड़ा। पाटलिपुत्र की ओर से उसके सैनिकों की सहायता आना तो दूर रहा, उल्टे उन पर वाणों की घनघोर वर्षा आरम्भ हो गई। यह सब देखकर वह घबरा गया। राक्षस ने ऐसा विश्वास देकर विश्वासघात किया क्या? मैं मगध का राजा बनना चाहता हूँ तभी तो उसने यह बदला लेना शुरू नहीं किया? ऐसा विचार आने पर पर्वतेश्वर को अपना भोलापन बड़ा बुरा लगा। मन्त्री राक्षस इतना स्वामिभक्त है! वह मुझसे मिलकर स्वामि-विद्रोह करने लगा और मुझे जब उसने इस प्रकार का निमन्त्रण भेजा, तभी सन्देह होना चाहिये था। पर मैंने तनिक भी सन्देह न किया, उल्टे तैयारी करके यहाँ आ पहुँचा। मैंने कितनी भारी मूर्खता का काम किया! ज़रा भी छानबीन न की कि वह सचमुच मुझे निमन्त्रित कर रहा है अथवा फँसा रहा है? थोड़ा-बहुत सन्देह हुआ भी तो मैंने मूर्खता के कारण दूर कर दिया। राक्षस-जैसा स्वामिभक्त क्या ऐसा पत्र लिख सकता है? यह संकट मैंने अपने-आप अपने ऊपर डाल लिया, उसे क्या कहा जाये? पर्वतेश्वर के मन में पश्चात्ताप के इतने अनेक विचार आने लगे। सबसे बुरा तो उसे यह लगा कि वह थोड़ी सेना के साथ आया था। उसे तो पाटलिपुत्र से सहायता मिलने की पूरी आशा थी। यदि वह मगध के सैनिकों से लड़ने आया होता तो दूसरी ही तैयारी के साथ आता। वह तो इस भरोसे आया था कि पाटलिपुत्र पहुँचते ही उसकी जय-जयकार होने लगेगी, मगध देश के सिंहासन पर उसका प्रभुत्व हो जायेगा और वह मगध-महाराजाधिराज कहलाने लगेगा। पर, यह सब तो दूर, ऊपर वर्णित प्रकार से शस्त्रास्त्रों से आक्रमण हुआ और बड़ी कठिन तथा लज्जाजनक परिस्थिति आ खड़ी हुई। थोड़ी देर में यह सब बन्द हो जायेगा, ऐसा समझकर उसने अपने सैनिकों को सांत्वना दी। पर, इससे क्या? तुरन्त ही पीठ दिखाकर सैनिकों ने अपने प्राण बचाने की चिन्ता की। दो पक्षों में एक पक्ष जब तक पीठ नहीं दिखाता, तब तक उसमें कुछ दम रहता है; पर एक बार पीठ दिखाते ही उसकी दशा कुत्ते के समान हो जाती है। यही दशा पर्वतेश्वर के सैनिकों की और स्वयं उसकी भी हुई। उनके भागना आरम्भ करते ही भागुरायण के सैनिक नगर का फाटक खोल उनके पीछे दौड़े। इस सेना के आगे-आगे

चन्द्रगुप्त और वह बड़ी तत्परता के साथ अपने सैनिकों को भागते हुए सैनिकों का पीछा करने का हुक्म दे रहा था। उस समय चन्द्रगुप्त बड़ा विलक्षण दिखाई दे रहा था। उसका सर्वांग–नहीं, रोम-रोम वीरता से फड़क रहा था और दृष्टि चंचल थी–वह सर्वव्यापी-सा दिखाई देता था। पल-पल में वह देखता जाता था कि शत्रु किस ओर भाग रहा है और किस ओर जाने से पकड़ में आयेगा, और यथायोग्य आज्ञा दे रहा था। पीछा किया जाते हुए शत्रु-सैनिक निराश हो गए और धीरे-धीरे बन्दी बनने लगे। थोड़ी ही देर में पर्वतेश्वर की सेना का बड़ा भाग चन्द्रगुप्त और भागुरायण के अधिकार में आ गया। पर स्वयं पर्वतेश्वर को बन्दी बनाये बिना चन्द्रगुप्त को ज़रा भी सन्तोष न था। शेष सैनिकों को भागुरायण के सुपुर्द करके वह पर्वतेश्वर के पीछे चला। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कह दिया था कि यदि तू पर्वतेश्वर को पकड़ ले आयेगा तो समझ ले कि पाटलिपुत्र की गद्दी पर तेरा पक्का अधिकार हो गया है। अगर उसे पकड़ न ला सका तो मुझे मुँह न दिखाना–अतः चन्द्रगुप्त बड़ी सावधानी से पर्वतेश्वर की खोज में था।

एकाएक नन्द का नाश देखकर उसका एक भी उत्तराधिकारी न देखकर, चकित हुए लोग, कितने ही राक्षस से क्रोधित होते हुए भी, एकदम से दासीपुत्र चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बैठने न देते। ऐसे समय पर उसे नगर में कोई अलौकिक कार्य करके आना चाहिए और मगध को पदाक्रान्त करने की इच्छा से आये हुए शत्रु को पकड़ लाने की अपेक्षा और कौन महान् अलौकिक कार्य हो सकता था? यही भर करवाने के लिए चाणक्य ने राक्षस के नाम से पर्वतेश्वर को निमन्त्रण देकर बुलाया और चन्द्रगुप्त को उसे पकड़ लाने के लिए भेजा था। इस कार्य में भागुरायण की सहायता पहुँच रही थी और चन्द्रगुप्त पूर्णरूपेण उत्साहित था। अन्त में मगध और पर्वतेश्वर के राजा की सीमा के पास चन्द्रगुप्त ने पर्वतेश्वर को पकड़ा और दोनों ओर के सैनिकों का युद्ध शुरू हो गया। इस लड़ाई में चन्द्रगुप्त ने बड़ी शूरता और चातुरी का परिचय देकर शत्रु को हराने के बाद बन्दी बना लिया। पर्वतेश्वर ने उसे बहुत-कुछ लोभ दिया, पर सब व्यर्थ! चन्द्रगुप्त को उसको छोड़ना किसी प्रकार इष्ट न था। अपने गुरु को प्रथम गुरु-दक्षिणा के रूप में पर्वतेश्वर को उसके सामने खड़ा करना था। इसके अतिरिक्त राक्षस ने जिस दुष्ट से मिलकर सर्व नन्द-वंश का संहार किया, ऐसे म्लेच्छ राजा को पकड़कर मैं तुम लोगों के सामने घुमा रहा हूँ–ऐसा मगध-वासियों को दिखाना था। तब भला वह पर्वतेश्वर के लोभ देने पर कैसे ध्यान देता! वह उसकी बात की ओर ध्यान दिये बिना उसे पाटलिपुत्र की ओर ले चला।

पर्वतेश्वर अत्यन्त लाचार हो गया। उसे मन में उस समय घोर सन्ताप और पश्चात्ताप हुआ जब उसने सैनिकों को मगध के सैनिकों के पहरे में चलते देखा। हाय! मैं अन्धविश्वास करके राक्षस का लिखा सच मानकर पाटलिपुत्र पर आ धमका। दुष्ट राक्षस! तेरे प्रति मेरे मन में बड़ा मान एवं पूज्यभाव था, तभी मैं आ फँसा। पर उसके लिये मान क्यों था? वह बड़ा स्वामिभक्त है इसीलिये न? जब उसके स्वामिभक्त होने के कारण इतना मान था, तब जब उसने स्वामिद्रोह का पत्र लिखा तब भी मैं उसे क्यों मानता रहा? कारण, मेरा लोभी स्वभाव है और कुछ नहीं। मुझे यह लोभ न होता तो व्यर्थ क्यों फँसता? पर अब यह सब विचार करने से क्या लाभ? इस तरह से स्वयं प्रश्न करता और उत्तर देता वह चुपचाप चल रहा था। परन्तु बीच में उसकी इच्छा हुई कि एक बार चन्द्रगुप्त से पूछे कि इस तरह से मुझे

फँसाकर राक्षस कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहता है? उसने पूछा भी परन्तु, चन्द्रगुप्त ने केवल इतना उत्तर दिया कि–"राक्षस बड़ा चतुर और स्वामिभक्त है। उसका विचार हम क्या समझें!" यह उत्तर भी उसने इस प्रकार से दिया कि पर्वतेश्वर की कुछ आगे पूछने की उत्सुकता बाकी न रही। चन्द्रगुप्त ने ऐसा उत्तर इसलिये दिया कि उसे सच्चा उत्तर नहीं देना था, नहीं तो कहता कि, "तुम्हें यहाँ लाने में राक्षस का कुछ भी हाथ नहीं है। तुम्हें तो दूसरे ने ही फँसाया है।" पर यह कहना उसे इष्ट न था। यह सब राक्षस ने ही किया है, यह बात कहकर उसे और फँसाने का चन्द्रगुप्त का मन न था। चाणक्य मेरा गुरु है, उसने मेरा भरण-पोषण माता के समान किया है और मेरे कल्याण के लिये मुझे राजगद्दी पर बिठाने के लिये वह यह सब कुचक्र रच रहा है, यह बात चन्द्रगुप्त जानता था; पर उसके कुचक्र की घोर कालिमा उसे पसंद न थी। जैसे बाप कोई ऐसा कर्म करता है, तो पुत्र ज़रा भी पसंद नहीं करता, फिर भी बाप के विरुद्ध वह कुछ नहीं बोल पाता, वही हाल चन्द्रगुप्त का भी था। क्या अच्छा है और क्या बुरा है–यह देखना उसका काम न था। चाणक्य की आज्ञा का पालन करना ही उसका काम था। पर्वतेश्वर को लाते समय उससे बोलना नहीं, वह पूछे तो उड़ा-उड़ा जवाब देना, यह चाणक्य उससे पहले ही कह चुका था और अब चन्द्रगुप्त उसी के अनुसार चल रहा था।

इधर चाणक्य यह राह देख रहा था कि चन्द्रगुप्त क्या करके आता है–पर्वतेश्वर को पकड़कर ला रहा है अथवा नहीं। जैसे ही उसके गुप्तचर ने आकर उसे ठीक सूचना दी, चाणक्य के आनन्द का पारावार न रहा। अब वह विचार करने लगा कि चन्द्रगुप्त का जय-घोष करते हुए उसे पाटलिपुत्र में लाने के लिये और उसके नाम की डौंड़ी पिटवाने के लिये क्या किया जाये?

उनतीसवाँ परिच्छेद

राक्षस चकित हुआ

पर्वतेश्वर को चन्द्रगुप्त पकड़ लाया। चाणक्य ने अनुभव किया कि उसका हेतु उत्तम प्रकार से सफल हो रहा है और आगे व्यवस्था की जाये, इस पर वह विचार करने लगा–यह पहले परिच्छेद में कहा जा चुका है। उसने चन्द्रगुप्त को बड़े ठाठ-बाट से पाटलिपुत्र में लाने का निश्चय किया। उसके अनुसार उसने सारे नगर में चन्द्रगुप्त का जय-जयकार करवाया और यह डौंड़ी पिटवा दी कि "महाराज धनानन्द और उसके पुत्र की किसी दुष्ट ने हत्या करवा दी और इस अवसर से लाभ उठाकर पर्वतेश्वर पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करने की तैयारी में था। चन्द्रगुप्त ने अपने पिता व भाई की हत्या का बदला लेने की प्रतिज्ञा करके सेनापति भागुरायण की सहायता से पर्वतेश्वर पर आक्रमण किया और उस हमले से घबराकर पर्वतेश्वर जब भागा जा रहा था, तब चन्द्रगुप्त ने उसे पकड़कर कैद कर लिया और उसे लेकर आज वह पुष्पपुर आ रहा है। पर्वतेश्वर ग्रीक यवनों का दास राजा है। मूलत: आर्य होकर भी उसने उनकी दासता स्वीकार की है। जिस तरह वह दास बनकर दासता कर रहा है, वैसे ही महाराज धनानन्द को भी वह अपना दास बनाना चाहता था, सारांश यह है कि म्लेच्छों का दासानुदास बनाना चाहता था–इसी दुर्बुद्धि से इसने कुचक्र रचवा कर राजा की हत्या करवाई और हमारे दिव्य नगर पर आक्रमण करने आ रहा था। उसकी इस दुष्टता के लिये महाराज चन्द्रगुप्त उचित दण्ड तो देंगे ही, साथ ही यह खोज करवाकर कि इसके साथ इस नगर का कौन भेदिया मिला था–उसे भी यथायोग्य अर्थात् मृत्यु का दण्ड देने का निश्चय किया है। अत: इस तरह वीरता दिखाकर और राजा नन्द के साथ कुचक्र रचने वाले को पकड़कर लाते हुए राजपुत्र–अब महाराज का, सभी जय-घोष के साथ स्वागत करें।" एक ओर तो ऐसी घोषणा करवा दी और दूसरी ओर कारीगरों से जगह-जगह तोरण द्वार खड़े करवा दिये। पर, यह तैयारी करने में चन्द्रगुप्त के नगर-प्रवेश करने के लिए अभी समय है; तब तक हम मन्त्री राक्षस की गतिविधि देखें।

वह धनानन्द की सवारी के साथ-साथ चल रहा था। किसी ने आकर उसे एक पत्र दिया। उसको देखते ही राक्षस वहाँ से चला गया, पाठक यह भी जानते ही हैं। पर्वतेश्वर पाटलिपुत्र का घेरा डाल रहा है, इसका क्या अर्थ है? वह एकदम से इतना ढीठ कैसे हो गया? मैंने तो अनेक प्रयत्न करने के बाद महाराज को मुरा के महल से निकाला; पर इस आनन्द में एकाएक यह भयंकर प्रहार कैसे हो गया? मैं तो इस लोक की बातें जानने में अपने को बड़ा चतुर समझता था, पर इस घटना का एक भी शब्द अब तक मेरे कानों में कैसे नहीं आया? अतः चकित होकर वह जल्दी-जल्दी चलने लगा और खोज करने लगा कि क्या बात है? उसने जाना कि उसकी सब सेना पर्वतेश्वर पर टूट पड़ने के लिये तैयार बैठी है। यह सुनकर राक्षस को बड़ा सन्तोष हुआ। मैं भले ही इस काम में शिथिल था, भागुरायण

ने तो सेना तैयार कर रखी है। भागुरायण सेना के साथ नहीं था, अत: उसने दूसरे छोटे सेनापति को बुलाया; पर उसने कहलवा दिया–“किस समय भागुरायण क्या आज्ञा देता है इसका भरोसा नहीं है, मैं नहीं आ सकता।” यह सुनकर राक्षस को बड़ा आश्चर्य हुआ। शायद उसने जाना न हो कि कौन बुला रहा है, तभी यह उत्तर दे रहा है–ऐसा सोचकर उसने सेनापति को पुनः बुलवाया, पर इस बार भी काम न बना, अतः राक्षस बड़ा संतप्त हुआ। पाटलिपुत्र में मुझे ऐसा उत्तर कोई दे सकता है–इस बात की उसे स्वप्न में भी आशा न थी; पर जब आज उसने प्रत्यक्ष रूप में अपनी अवज्ञा होती देखी तो फिर क्या पूछना? राक्षस तुरन्त उस अधिकारी के पास गया और बोला–“तुमने मेरी अवज्ञा की, पर इस समय मैं कुछ नहीं बोलूँगा। पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने के लिए पर्वतेश्वर ने घेरा डाल रखा है, उसे खदेड़ने को इसी समय जाओ।” पर उस अधिकारी ने अत्यन्त शान्तिपूर्वक जवाब दिया–“भागुरायण प्रधान सेनापति हैं, उनकी आज्ञा है कि मेरी आज्ञा बिना किसी दूसरे की आज्ञा न मानो। जब तक उनकी आज्ञा नहीं आ जाती, सेना का एक सैनिक भी इधर से उधर न होगा। पर सेना पूर्ण-रूप से तैयार है।” यह बात सुनकर राक्षस को महान् आश्चर्य हुआ। उसकी आँखें लाल हो गईं, सन्ताप भी हुआ और उसने ज़ोर से प्रश्न किय– “मैं भागुरायण से भी ऊँचा अधिकारी हूँ न? ”

अधिकारी ने उत्तर में मुस्करा दिया। अब तो राक्षस का क्रोध और भी बढ़ गया। वह कुछ कहने ही वाला था कि उसे भयंकर कोलाहल सुन पड़ा। राक्षस ने समझा कि पर्वतेश्वर की सेना नगर में घुस आई है, वह बोला–“पर्वतेश्वर नगर में घुसकर प्रजा को कष्ट देने लगा है। फिर भी तू अपनी सेना लेकर इस जगह से नहीं हिल रहा?” और वह लाल-लाल आँखें निकालकर उसकी ओर देखने लगा। उसकी समझ में न आया कि क्या करे अथवा क्या न करे। इतने ही में वह अधिकारी शांतिपूर्वक बोला–“सेनापति भागुरायण की आज्ञा के बिना किसी ने मेरे मनुष्यों को हाथ लगाया नहीं कि म्यान से तलवार निकली नहीं। उनकी आज्ञा चाहिए।”

तब राक्षस बीला:–

"तब तो भागुरायण ने पर्वतेश्वर से मिलकर ही यह कुचक्र रचा होगा। ओह भागुरायण, तू पाटलिपुत्र के नाश का कारण हो रहा है?”

राक्षस ने यह प्रश्न तो ज़ोर से पूछा अवश्य; पर उसे उत्तर की आशा न थी। पर ‘ओह भागुरायण, तू पाटलिपुत्र के नाश का कारण हो रहा हैं,’ कहते ही उसे उत्तर मिला–

“मन्त्रिवर, तुम्हें अब मन्त्री कैसे कहा जाये? राजहत्या और पाटलिपुत्र के विनाश का कारण कौन है, यह अब सारा संसार जानता है। तुमने जो राज-हत्या की, उसका प्रतिकार तो अब हो नहीं सकता; पर पाटलिपुत्र का नाश मैं नहीं होने दूँगा। तुम्हारे कुकर्म के लिए योग्य समय पर तुमसे भी बदला लिया ही जायेगा।” गम्भीर वाणी में उच्चरित ये शब्द राक्षस के कान में पड़े। कौन बोलता है, देखने के लिए जब उसने सिर ऊपर ऊठाया तो भागुरायण दृष्टि में आया। पर ये शब्द भागुरायण ने कहे हैं, यह उसे सम्भव ही नहीं मालूम देता था। भागुरायण ने इतना कहकर उसकी ओर और लक्ष्य नहीं किया–अपने नीचे के सेनापति को आज्ञा दी–“पर्वतेश्वर ने नगर को घेर लिया है, उस किनारे से उस पर आक्रमण

करो।” और उसने अपनी आज्ञा इस तरह से चलायी मानो राक्षस यहाँ था ही नहीं।

राक्षस की समझ में कोई बात आई ही नहीं। इतने में ही उसे और कोलाहल सुनाई पड़ा। वहाँ बैठने का कोई प्रयोजन न जान वह यह देखने के लिये कि क्या बात है, बाहर निकला। मेरे पीछे दूसरी ओर क्या प्रसंग गुज़र रहा है, इसका उसे स्वप्न तक न था। भागुरायण शत्रु का समाचार ले रहा है अत: मैं उससे अभी कुछ न कहूँगा। तब तक महाराज का हाल-चाल देखूँ। वह अब सभामण्डप में पहुँच गए होंगे। पर्वतेश्वर की यह दुष्टता यदि उनके कान तक पहुँची तो वे स्वयं शत्रु पर हमला करने पहुँच जायेंगे। अत: वहीं जाने का विचार करके, परन्तु भागुरायण के व्यवहार से अत्यन्त क्षुब्ध और निराश होकर, वह सैन्य-शिविर से बाहर निकला। परन्तु जहाँ देखो वहीं हाहाकार मचा हुआ है। लोगों का समुदाय इधर-उधर भाग रहा है। उस कोलाहल की बात ज़रा भी उसकी समझ में नहीं आ रही थी। बीच-बीच में मेरे नाम का उच्चारण हो रहा है, यह राक्षस ने सुना। इतने में उसके पीछे से किसी ने आकर उसी की बाँह का स्पर्श किया। जब राक्षस ने पीछे घूमकर देखा तो उसका प्रतिहारी दिखाई दिया। उसने तुरन्त कहा– “मन्त्रिवर, इस समय आप कहीं छिप जाएँ, तो अच्छा रहे। महाराज की सवारी देखने के लिए इकट्ठे हुए लोग बड़े क्रोध में हैं और आपको अनेक प्रकार से कोस रहे हैं। अभी आप किसी की दृष्टि में नहीं पड़ें, तभी कुशल है। नहीं तो क्रोधित जनता क्या करेगी और क्या नहीं, इसका कोई भरोसा नहीं है।”

“सवारी कहाँ तक आई है? सभामण्डप तक नहीं पहुँची क्या ?” राक्षस के ये प्रश्न सुनकर प्रतिहारी स्तब्ध रह गया। पुनः राक्षस ने जब वही प्रश्न किया तो वह धीरे-से बोला–“मन्त्रिवर, सवारी को जहाँ पहुँचाने की आपने व्यवस्था की थी वहाँ पुत्रों सहित पहुँच गई है। उसी कारण से आप मुझ अकिंचन पर...... ”

“प्रतिहारी, तू क्या कह रहा है? मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आ रहा है। क्या कह रहा है, क्रोधित जनता मेरा नाम ले-लेकर चिल्ला-चिल्लाकर घूम रही है? आखिर हुआ क्या?”

“महाराज का ... आपके ऊपर जनता का क्रोध... ”

“क्या? उस कपटी मुरा के मोहपाश से छुड़ाकर महाराज को पुनः राजकार्य में लगाया, इसलिये जनता मुझ पर क्रोध कर रही है? अरे, तू क्या बक रहा है? इस समारोह के आनन्द में तू अधिक मदिरापान तो नहीं कर गया है? बोल, बोल, जल्दी बोल । नहीं तो........ ”

“मन्त्रिवर, आपकी सुरक्षा के लिए ही मैं कह रहा हूँ। कृपा कर यहाँ से चलिये, फिर मैं सब हाल बताता हूँ। आपने कुछ भी किया हो, मैं आपकी भक्ति करता हूँ, अतः आप मेरी बात सुनकर कहीं चलकर छिप जाएँ, नहीं तो महाराज की आकस्मिक हत्या का बदला लेने के लिये क्रूद्ध जनता क्या करेगी, इसका कोई भरोसा नहीं है।” “क्या? महाराज की आकस्मिक हत्या? कैसी हत्या? किसकी हत्या? तू पागल हो गया है अथवा मैं?”

“कोई भी पागल हो गया हो, पर अभी आप मेरे साथ आकर कहीं छिप जाएँ तो सब हाल बता दूँगा।”

“क्या कहता है? मैं अपने महल में न जाकर कहीं छिपकर बैठ जाऊँ? मैं क्या कोई चोर

हूँ? अथवा मुझे व्यर्थ देर कराने की तूने ठान रखी है। प्रतिहारी, तू मेरा पुराना सेवक है, इसलिए कुछ नहीं कर रहा हूँ, नहीं तो मुझे तुझ पर बड़ा क्रोध आ रहा है।"

"मन्त्रिवर, अब इस भरे रास्ते में मैं आपसे क्या कहूँ? अच्छा हुआ, अभी इस ओर कोई नहीं आया। मन्त्रिवर, जिस गड्ढे में राजा और कुमार गिर पड़े? वह आपने जानबूझकर बनवाया था और अपनी सुरक्षा के लिए आप जुलूस से कोई बहाना निकालकर चले आये– लोग यही कह रहे हैं और... "

"अरे, गड्ढा कैसा? मेरी समझ में तेरी बात नहीं आ रही है। कहना है तो स्पष्ट कह।"

"यह स्थान वह बात कहने का नहीं है। आप मेरे साथ एक ओर आयें तो कहूँ।"

राक्षस ने उसकी बात से ताड़ लिया कि कोई भयंकर दुर्घटना हो गई है और लोगों को मुझ पर ही शंका है। अभी कुछ देर पहले ही भागुरायण भी तो कुछ ऐसा ही कह रहा था। वह और भी चकित हो गया। पर, सब बात साफ-साफ़ सुन लेने के पहले शान्ति से वह कैसे बैठ सकता है? ऐसा सोचकर उसने प्रतिहारी के साथ जाना स्वीकार कर लिया। प्रतिहारी उसे पुष्पपुर में रहने वाले अपने एक मित्र के घर ले गया और राक्षस से उसने सब हाल बताया। यह सुनकर राक्षस अत्यंत दुखी हुआ। जिन महाराज की इतने दिनों से मैं मन, वचन और कर्म से सेवा कर रहा हूँ, उन्हीं के विरुद्ध किसी दुष्ट ने कुचक्र रचा और मुझे गन्ध तक नहीं मिली? आज तक मैं अपनी चातुरी का जो घमण्ड करता था, वह कहाँ गया? कोई दूसरी छोटी-मोटी बात होती तो कुछ नहीं; पर प्रत्यक्ष महाराज की जान लेने का कुचक्र रचा गया और मुझे ज़रा भी गन्ध नहीं मिली। उसे अपने ऊपर आश्चर्य, खेद और क्रोध आ रहा था कि किस तरह मैं इतना सुस्त बना रहा। इस पर जब लोग उस पर ही कुचक्र रचवाने का सन्देह भी करने लगे तब तो उसे और भी बुरा लगा। अपनी सारी चतुराई, दूरदर्शिता, नीति-विशारदता कहाँ नष्ट हो गई? मेरी आँखें कहाँ गईं? यह सब कुचक्र किसी अत्यंत प्रचण्ड शत्रु ने रचा है, यह स्पष्ट ही है। वह शत्रु सेनापति भागुरायण तो नहीं है? वही इन सब दुर्घटनाओं के लिये उत्तरदायी तो नहीं है? उसने ही पर्वतेश्वर को निमन्त्रित तो नहीं किया है? उसने पर्वतेश्वर को तो नहीं कहलवाया कि अमुक दिन अमुक बेला में मैं राजा और कुमार की हत्या करवा दूँगा, अत: तुम अपनी सेना लेकर पाटलिपुत्र पहुँच जाना, मैं तुम्हारी सहायता करके राज्य तुम्हें दे दूँगा? ऐसा ही कुछ होना चाहिए। तभी तो पर्वतेश्वर आज नगर का घेरा डाले पड़ा है। क्या सेनापति भागुरायण इतना अधम हो गया है? धिक्कार है, धिक्कार है, भागुरायण तुझे हज़ारों बार धिक्कार है! तूने ऐसा नीचापूर्ण कुचक्र रचा। तुझे महाराज का मन्त्रिपद चाहिए था तो मैं स्वयं तेरे लिए छोड़ देता; परन्तु तूने यह क्या किया? कुछ हर्ज़ नहीं, इस संकट से निकलकर मैं नन्दवंश की सेवा करूँगा। फिर तेरा क्या होता है, मैं देखूँगा। यही मेरी प्रतिज्ञा है। यही मेरा निश्चय है! अब यही व्रत हो गया है!

राक्षस के इस व्रत का कैसे क्या हाल हुआ, यह आगे ज्ञात होगा।

तीसवाँ परिच्छेद

चन्द्रगुप्त की सवारी

चन्द्रगुप्त को बड़ी धूमधाम से नगर में लाने और उसके द्वारा बन्दी बनाये हुए पर्वतेश्वर पर न्यायालय में न्याय करने की चाणक्य की बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी। इसके लिए जो कुछ प्रबन्ध करना था उसने किया और चन्द्रगुप्त को बड़े ठाट-बाट से नगर में लाया गया। क्षुब्ध हुई जनता को शान्त करने के हेतु उसने नगर में चारों ओर यह बात फैला दी कि चंद्रगुप्त पर्वतेश्वर को बन्दी करके ला रहा है और आज उसने पुष्पपुर को म्लेच्छों के अत्याचार से बचाया, इसलिये उसका जय-जयकार किया जाये। उसी प्रकार सेनापति भागुरायण भी बड़ा रणधीर है, यदि उसने अपनी सेना तैयार न रखी होती तो उस समय नगर की क्या हालत होती, कोई कह नहीं सकता। अत: उसकी भी राजनिष्ठा और चतुरता की जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है–चाणक्य ने जगह-जगह अपने आदमियों से जनता को यह सब कहलाने का प्रबन्ध कर दिया था। राजा धनानन्द और नन्दवंश के उत्तराधिकारी का आकस्मिक निधन हो जाने से चन्द्रगुप्त का ठाट-बाट से स्वागत करना विशेष लाभ न रखता था–चाणक्य यह बात अच्छी तरह जानता था। उसकी इच्छा जनता में चंद्रगुप्त के प्रति भक्ति पैदा करने की थी, जिससे उन्हें ज्ञात हो कि कोई सामान्य व्यक्ति राजगद्दी पर नहीं बैठाया जा रहा है।

उसी योजनानुसार चन्द्रगुप्त ने नगर-प्रवेश किया। पर्वतेश्वर को दिखाना मुख्य ध्येय था। उसके दोनों हाथ बँधे थे और चन्द्रगुप्त से ज़रा आगे वह घोड़े पर चल रहा था। चाणक्य जो चाहता था, वही हुआ। जहाँ-तहाँ चन्द्रगुप्त और भागुरायण का जय-जयकार होने लगा और लोग नंद की हत्या की बात भूल ही गये।

लोकमत की क्षण-भंगुरता का चाणक्य को पूर्णरूपेण ज्ञान था। जब तक चन्द्रगुप्त का पक्का दबदबा न हो जाये, उसे अधिक देर जनता के सामने रखने का कोई तात्पर्य नहीं है। ऐसा करने के लिये उसे राजमहल में ले जाकर राज्याभिषेक करके सिंहासन पर बैठाकर उसके नाम की दुन्दुभी बजवाने का चाणक्य ने पूरा प्रबन्ध किया। कौन जाने कब़ क्या हो जाये, अतः ऐसे अवसर को हाथ से निकल जाने देना चातुरी और दूरदर्शिता न होगी। तब जितनी जल्दी यह समारोह हो जाये उतना ही अच्छा है–यह विचार करके उसने सवारी को राजमहल में ले जाने का प्रबन्ध किया और पर्वतेश्वर को बन्दीगृह भिजवाकर चन्द्रगुप्त और भागुरायण को एक ओर बुलाकर आगे के कार्यक्रम पर विचार-विमर्श प्रारम्भ किया। भागुरायण ने कहा कि राक्षस कहाँ है और क्या कर रहा है, इसकी भी खबर लगनी चाहिए। चाणक्य हँसकर बोला– “ऐसे समय पर मैं उसे एक क्षण भी दृष्टि से दूर करूँगा क्या? जब

से वह धनानन्द के जुलूस से निकल गया उसके पीछे एक गुप्तचर लगा दिया है। राक्षस कोई सामान्य पुरुष नहीं है। निराश होकर बैठने वाला जीव नहीं है। उसे पाटलिपुत्र से बाहर नहीं जाने देना चाहिए। यदि वह अपने हाथ से निकल गया, तो क्या करेगा और क्या नहीं, इसका कोई ठिकाना नहीं है। इसके लिए उससे किसी तरह मन्त्री का पद फिर स्वीकार करवाना चाहिए, पर इसके पहले राजा का पद स्थापित हो जाना आवश्यक है। यह सब काम तुम्हारे हाथ में सौंपता हूँ, इसे करो। समय नष्ट न करो। इसी समय डौंड़ी फिरवा दो। रीति के अनुसार चार ब्राह्मण, चार महाजन और सभी क्षत्रियों की परिषद् बुलाओ और कहो कि यह हत्या किस प्रकार हुई, इसकी खोज करके हत्यारे को और पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने वाले पर्वतेश्वर को दण्ड देने के लिए कोई न्यायाधीश नियुक्त होना चाहिए। ऐसा करते हुए उनके सामने चन्द्रगुप्त की बड़ाई करके अपना काम निकाल लो। राक्षस के सम्बन्ध में आगे क्या किया जाये, यह मैं अवकाश मिलने पर कहूँगा।"

चाणक्य के कथनानुसार भागुरायण ने सब काम करने का निश्चय किया। तत्काल ही नगर के प्रभावशाली लोगों और रईसों को बुलाकर उन्हें सब बातें कह सुनाईं। चाणक्य ने इस बात का भी प्रबन्ध कर दिया था कि केवल चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक मात्र की चर्चा न की जाये, इस बात को भी खूब बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया जाये कि चन्द्रगुप्त नन्द के हत्यारे की खोज करवा रहा है, उसका पता जल्द ही लगेगा। इन सब बातों के साथ-साथ शुभ मुहूर्त पर चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक होने का प्रस्ताव पास हो गया।

इधर चन्द्रगुप्त ने पर्वतेश्वर को चाणक्य के सामने बुलाकर उससे प्रश्न करना शुरू किया। पर, प्रथम तो वह उसका कोई उत्तर ही न देता था। अन्त में बड़े प्रयत्नों के पश्चात् उसने बताया कि "मेरे पास राक्षस का पत्र आया था, तभी मैंने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया।" परन्तु इतनी-सी बात से ही चाणक्य का समाधान थोड़े ही होता ? चाणक्य ने पूछा कि "वह पत्र कहाँ है?" हाँ, न, करते अन्ततः पर्वतेश्वर ने पत्र निकालकर दिया। उस पत्र में स्पष्ट रूप से तो यह नहीं लिखा था कि नन्द की हत्या करने का क्या कुचक्र रचा गया है, पर यह अवश्य लिखा था कि कोई-न-कोई युक्ति की गई है। पर्वतेश्वर ने जो-जो उत्तर दिया, उसे चाणक्य ने लिखवा लिया। अनन्तर उसे अपनी कुचक्र की सफलता देखकर बड़ा हर्ष हुआ। भागुरायण को एक ओर ले जाकर उसने कहा–"सेनापति, एक काम करो। अमात्य राक्षस को हाथ से छूटने नहीं देना है। अत: तुम उससे भेंट कर उसे अपनी ओर मिला लो। वह क्या कहता है, मुझे आकर कहो। पर्वतेश्वर ने क्या कहा और क्या दिया, इसे अभी उसे न बताना। कहना, जो हुआ सो हुआ, अब आओ; सब लोग मिलकर हत्यारे का पता लगाकर उसे दण्ड दें। सारांश यह कि ऐसा करो कि उसका मन अपने पक्ष से मिल जाये।" भागुरायण ने ये बातें ध्यान से सुनीं, पर चाणक्य का बताया काम अपने से नहीं होने का; यह उसके मन का विश्वास था। चाणक्य भी अच्छी तरह जानता था कि भागुरायण के कहने से राक्षस हमसे प्रसन्न नहीं होगा; पर कम से कम उसके मन का हाल अवश्य मालूम हो जायेगा। सेना की छावनी में जाकर राक्षस क्या-क्या कह आया था और भागुरायण के प्रति उसने क्या उद्गार प्रगट किये थे, यह चाणक्य के कान में जा चुका था। अत: अब भागुरायण जब उससे मिलकर ऐसी बातें करेगा तो वह कदाचित् भड़क जाये। पर उसके मन की विचारधारा का पता लग जायेगा। तभी मैं भी विचार करूँगा कि मुझे क्या करना चाहिये। इसी विचार से

चाणक्य ने भागुरायण को राक्षस के पास भेजा था।

भागुरायण के सबन्ध में राक्षस की क्या सम्मति है, यदि वह इसे अच्छी तरह जानता होता, तो कदाचित् राक्षस के पास जाना स्वीकार न करता। परन्तु भागुरायण ने उससे मिलना स्वीकार किया और राक्षस से मिलने के लिये उसकी खोज में चला।

इधर राक्षस इस विचार में निमग्न था कि अब मैं आगे क्या करूँ ? वह सोचने लगा कि उसे अब किसकी सहायता प्राप्त हो सकेगी? राज्य में कोई कुचक्र रचा गया, तभी ये भयंकर काण्ड घटित हुये। यद्यपि उसे पूरे कुचक्र का पता न चला था, फिर भी उसे अब प्रत्येक बात में शंका और कुचक्र नज़र आने लगा। यह शंका आते ही उसका दिल घबरा गया। जब सब लोग मुझ पर ही शंका भी करते हैं तो किसी बड़े शक्तिशाली और चतुर व्यक्ति ने यह कुचक्र रचा है, इसमें सन्देह नहीं है। अत: इन सब बातों का पता लगाये बिना मेरे लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। पर इस बात का–कुचक्र का पता लगाने के लिये सूत्र कहाँ से मिले? प्रतिहारी ने केवल लोगों के क्रोध की बात सुनाई थी। भीतरी कुचक्र का उस बेचारे को क्या पता था? राक्षस के प्रति लोग व्यर्थ शंका कर रहे हैं, यह बात उसके मन में दृढ़ हो गई। उसको पूर्ण विश्वास हो गया कि मंत्री किसी भी तरह अपने स्वामी की इस तरह हत्या नहीं करवा सकता। कारण, उसकी स्वामिभक्ति के प्रति उसे ज़रा भी शंका न थी। इस प्रतिहारी को छोड़कर राक्षस को कोई विश्वासी व्यक्ति न देख पड़ा और इस समय विश्वासी व्यक्ति की आवश्यकता थी। इधर भागुरायण ने मंत्री की खोज प्रारम्भ की। राक्षस के पीछे लगे हुये चाणक्य के गुप्तचरों की सहायता से उसने राक्षस को खोज निकाला। आगे क्या हुआ–यह बहुत मनोरंजक है जो अगले परिच्छेद में मालूम होगा।

इकतीसवाँ परिच्छेद

राक्षस की प्रतिज्ञा

राक्षस बहुत घबरा गया था। उसकी समझ में ही नहीं आता था कि अब क्या किया जाये? अब उसे प्रतिहारी के मित्र के घर से बाहर निकलने में भी शंका हो रही थी। वह डर गया था, यह भी कहा जा सकता है। प्रतिहारी से उसे पता चल ही गया था कि सब लोग समझते हैं कि मैंने ही राजकुल का नाश किया है। अत: जब सब लोगों का मन मेरी ओर से इस तरह कलुषित हो गया है तब सब मुझे राजकुल-घातक के रूप में देखने लगेंगे तो पता नहीं मुझ पर क्या प्रसंग आ पड़े, कहीं मुझे जीता जला दें तो भी आश्चर्य नहीं। राक्षस भीरु न था; शूर था; पर यह अवसर ही ऐसा था कि शूरवीरता का कोई उपयोग न होता। अकेले उससे क्या होता, जब सारी जनता उसके विरुद्ध थी। उसने सोचा कि अन्त तक मैंने इतनी राजनिष्ठा की, नन्द के राज्य की दुंदुभी सारी पृथ्वी पर बजवा दी, इस सबका फल मुझे क्या मिला? सारी मण्डली, छोटे से बड़े अधिकारी तक को मैं अपनी मुट्ठी में रखता था; पर फल क्या हुआ? भरतखण्ड के कोने-कोने में क्या चल रहा है, किस राजा का क्या विचार है, इन सब बातों का पता लगाने में मैं दक्ष था; पर मेरी आँखों के सामने क्या चल रहा है, इसकी मुझे गंध तक नहीं आ रही है? इसी तरह के विचार करते-करते वह बेचारा चुपचाप लेटा था। इतने में भागुरायण वहाँ जा पहुँचा। जिसके घर में राक्षस जा बैठा था, वह प्रथम तो दरवाज़ा खोलता ही न था। उसकी इच्छा थी कि किसी को पता न चले कि अमात्य राक्षस उसके घर में है, और प्रतिहारी ने भी यही कह रखा था। पर जब एक गुप्तचर ने कहा कि सेनापति भागुरायण अमात्य राक्षस से मिलने आये हैं–वे जानते हैं कि मन्त्रिवर यही हैं–द्वार खोल दो; नहीं तो बलात् आयेंगे–तब बेचारा घर का मालिक डर गया। वह राक्षस के पास जाकर अपना संकट सुनाने लगा। सुनकर राक्षस बड़ा क्षुब्ध हुआ और बोला–''निस्सन्देह द्वार खोलकर उसे अन्दर लाओ। मैं व्यर्थ बदनामी से नहीं डरता। यह सब कुकर्म इसी भागुरायण का किया है। नन्दवंश का मन्त्री कहलाने के लिए ही नीच ने यह दुष्टता की है–राजकुल को नष्ट किया। उसे अन्दर ला, जल्दी ला। मेरा जो कुछ भी होगा, देखा जायेगा।''

राक्षस की यह बात सुनते ही उस आदमी ने जाकर दरवाज़ा खोल दिया। दरवाज़ा खुलते ही सेनापति भागुरायण अन्दर आया और दरवाज़ा खोलनेवाले से धीरज से बोला–''मुझे मन्त्री राक्षस के पास ले चल। तू डर मत।''

आदमी को 'न' कहने का अवसर ही न मिला। इसके अतिरिक्त मन्त्री राक्षस ने स्वयं सेनापति को लाने को कहा था। उसने तुरन्त ही उसे मन्त्री के पास पहुँचाया।

भागुरायण केवल सेनापति था। वह उत्तम सिपाही था; पर चातुर्य और कपट की बात नहीं कर सकता था। अमात्य राक्षस को देखते ही इस तरह से उस तरह से, ये बातें कहने का

उसने विचार किया था; पर उसके सामने जाते ही वे सब बातें भूल गया।

इधर भागुरायण को देखते ही मन्त्री राक्षस क्रोध से बोला–"भागुरायण, राजकुल का घात करके अपना काला मुँह मुझे दिखाने क्यों आया है? तू लोगों की दृष्टि में भले ही मगध का संरक्षक बना हो, पर मेरी और अपनी नज़र में तो तू राजकुलघातक ही है; अब तू मेरे सामने अपने कुकर्म की डींग हाँकने आया है क्या? नीच, पुरुषों की आँखों में धूल डालकर उन्हें अन्धा कब तक बनाये रहेगा?" वह और भी कुछ बोलने को हुआ, पर अपना संताप दबाकर वह भागुरायण से बोला–"क्यों सेनापति! महाराज को सुरक्षित पहुँचा दिया न?"

इस प्रकार बोलने का अर्थ भागुरायण समझ गया, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। पर, उसका जवाब वह उतनी जल्दी न दे सका, दूसरा अवसर होता तो वह कहता–"आपकी इच्छा के अनुसार ही सब कुछ हुआ है।" पर, बात बनाने में वह ज़रा भी चतुर न था; यह कहा ही जा चुका है। क्षणभर तो वह कुछ भी न बोला। अनन्तर धीरे-से राक्षस से बोला–"अमात्यराज, पर्वतेश्वर को चन्द्रगुप्त और मैंने पकड़ लिया है। अब आगे क्या व्यवस्था करनी है, यह प्रश्न आपसे मिले बिना हल नहीं हो सकता, इसीलिए आपको ढूँढ़ता आया हूँ। अब जो कुछ हो गया उसके लिए कुछ नहीं किया जा सकता। आगे की व्यवस्था करने के लिए कृपा करके आप चलिए। सेना की जी काम करना था, उसने किया। अब आपका काम बाकी है। मुझे चाण...चन्द्रगुप्त महाराज ने स्वयं आपकी खोजा के लए भेजा है।"

भागुरायण की ये बातें सुनकर राक्षस क्रोधित होने लगा। चन्द्रगुप्त के नाम के साथ 'महाराज' शब्द सुनते ही वह भड़क गया। भागुरायण का "चाण..." कहकर जीभ काटकर "चन्द्रगुप्त महाराज" कहना उसके लक्ष्य में नहीं आया। वह तुरन्त ही क्रोध और उद्वेग से बोला– "चन्द्रगुप्त महाराज! चन्द्रगुप्त महाराज का नाम तो मैंने नहीं सुना है! अच्छा, उस दासी के भतीजे को राजगद्दी पर बैठाने के लिए तूने ये कुचक्र रचे हैं? ओह! अब मैं सब बात समझ गया। वह दासी अपने भतीजे को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राजा को मरवाकर सिंहासन देने के लिए बुला लाई थी? शाबाश ! शाबाश!! 'अनृतं साहसं माया' आदि गुणों से युक्त स्त्री-रूप त्रिभुवन को नष्ट करने के लिए ही पैदा हुआ है–यह झूठ नहीं कहा गया है। ओ चाण्डालिनी, जिस समय महाराज ने तेरे उस लड़के का वध करवाया था, उसी समय तेरा भी वध करवा देना था। तब यह भयंकर प्रसंग क्यों आता! और सेनापति, तुझ-जैसे पुरुष ने भी उसके वाक्पाश में बँधकर महाराज का सर्वनाश कर दिया। आह! तुझे मन्त्री-पद की इच्छा थी तो मुझसे कहा होता। मैं तुझे अपना यह पद प्रसन्नता से दे देता...परन्तु...अब तुमसे और कुछ कहने से क्या लाभ? पर, भागुरायण, जो स्वामिघात करता है उसका कभी भला नहीं होता।" भागुरायण ने ये बातें शान्ति से सुनीं, पश्चात् बोला–"जो स्वामिघात करेगा उसकी भलाई कोई नहीं चाहेगा। पर, किसने स्वामिघात किया है, इस बात की संभावना ही नहीं है। आपने तो यह समझ कर चुप्पी साध ली थी कि मगध शत्रुओं से विहीन हो गया है और उधर पर्वतेश्वर ने मौक़ा देखकर यह सब करवाया। कुमार चन्द्रगुप्त तो अनेक प्रयत्नों के पश्चात् उसे पकड़कर लाये; पर, उनकी स्तुति करने के बदले आप उन्हें बुरा-भला कह रहे हैं। मुझे भी दोष देते हैं? इसको क्या कहा जाये? आप यहाँ अज्ञातवास में

कितने दिन रहेंगे? जब से वह घटना घटी, आप यहाँ बैठे हैं। आपके दुर्लक्ष्य के कारण इतना अनर्थ हो गया तब भी आर्य चाण...नहीं, महाराज चन्द्रगुप्त की हार्दिक इच्छा है कि आपकी अनुमति से ही सारी राज्य-व्यवस्था हो...''

"सेनापति!'' राक्षस ज़ोर से बोला, "तुम्हारा यह कपट-नाटक भी क्या है? तुम्हारी दृष्टि में उस दुष्ट का भतीजा 'महाराज' होगा, मेरी दृष्टि में नहीं। मेरे शरीर में जब तक प्राण हैं, मैं प्रयत्न करके उसे मगध देश के बाहर खदेड़ने का प्रयत्न करूँगा। नन्द के रक्त से रँगे हाथों से अब मुझे भी पकड़ना चाहता है, पर यह तेरी भूल है। मैं उस नन्द-कुल का ऋणी हूँ। मैं उसकी सेवा करूँगा। तेरे चन्द्रगुप्त के समान लौंडे की सेवा में मैं अपना शरीर या बुद्धि नष्ट नहीं करूँगा। जा, मुझसे इस बारे में बात करने फिर कभी न आना। मुझमें कुछ बुद्धि होगी तो तुम लोगों को दिखाऊँगा, नहीं तो मगध देश से सदा के लिए निकल जाऊँगा। तुम्हारी और मेरी बातचीत अब कभी न होगी। तुमने अपना नया मार्ग और नया स्वामी खोज निकाला है। मैं पुराने मार्ग पर ही हूँ। तुम्हारे बोलने से ऐसा लगता है कि कोई दूसरा भी तुम्हारी सहायता पर है। मैंने जान लिया है कि तुम्हारे मुँह से आर्य चाणक्य का नाम निकल रहा था; पर उसे बीच में ही दबाकर तुमने चन्द्रगुप्त का नाम लिया। उस ब्राह्मण ने तुझे मोहपाश में बाँध लिया है। पर, उसका ही यह सब खेल न होगा? वह चन्द्रगुप्त के साथ आया है तो यह उसका ही कृत्य होगा। कौन जाने, उस व्याधराज ने ही चन्द्रगुप्त को मगध का राज्य हथियाने के लिए भेजा हो। मैं मूर्ख की तरह आँखें बन्द करके बैठा रहा, मुझे विचार तक न था कि ऐसा भयानक प्रसंग आने वाला है। पर, अब व्यर्थ बातें करने से क्या लाभ? भागुरायण तुम तीनों-चारों ने मिलकर जो काम किया, वह बड़ा अनुचित हुआ। और जब तुम लोग, लोगों को यह कहकर भ्रम में डाल रहे हो कि यह सब मैंने किया है तो वह उससे भी अधिक अनुचित हुआ। मैं इस पाप का प्रायश्चित तुम लोगों से अवश्य करवाऊँगा। तुम्हारा सब कपट-नाटक अभी मैंने समझा नहीं है; पर एक बार समझ गया तो वैसे हज़ार कपट-नाटक करके तुम लोगों का सर्वनाश करूँगा। जाओ, फिर इस राक्षस से कभी भेंट न करना। यह राक्षस नन्द का सेवक है। जब तक नन्द का नाम पृथ्वी पर है, वह किसी दूसरे की सेवा नहीं करेगा।''

इतना कहकर राक्षस भागुरायण की ओर पीठ करके बैठ गया। भागुरायण की समझ में ही न आया कि क्या कहे ? यहाँ अधिक देर बैठने का कोई उपयोग नहीं है, यह सोचकर "आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें।'' कहकर वह चला गया। जो कुछ प्रसंग घटा, उसका उत्तरदायित्व राक्षस पर डालने की उसकी इच्छा न थी। कुछ भी हो, वह कितने वर्षों से राक्षस के नीचे काम कर रहा था। भागुरायण वहाँ से निकला तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि बड़े भारी संकट से पार हो गया है। वह सिपाही था। कपट की बातें करके दूसरे के मन की बातें जान लेना उसके लिए असम्भव था। वहाँ से जाने के पश्चात् उसने चाणक्य को जाकर सब हाल बताया। चाणक्य को पहले ही मालूम था कि राक्षस इस तरह आसानी से वश में आने वाला जीव नहीं है। पर, भागुरायण को उसने केवल इसलिए भेजा था कि पता चल जाये कि राक्षस ने हमारे विरुद्ध कोई कुचक्र तो नहीं रचा है–और रचा हो तो भेद मिल जाये। भागुरायण के वहाँ जाने के बाद उसने अपनी दूसरी योजनायें पूरी की थीं–चन्द्रगुप्त की ओर से राक्षस की पत्र लिखा कि "सेनापति ने आपको बताया ही होगा कि पर्वतेश्वर

पकड़कर लाया गया है। अब पर्वतेश्वर को उस भयंकर काण्ड के लिये या तो समुचित दण्ड देना है या उसके पुत्र के पास से जुर्माना लेना है–यही विचार करना है। आप नन्दकुल के सच्चे सेवक हैं, अतः अपराधी को दण्ड देने का अधिकार आपको ही है। आप अपना अधिकार स्वीकार करके न्याय करें। ऐसा करने से लोगों का कलुषित मन भी प्रसन्न होगा और आपके खोज करने से सच्चे अपराधी का पता भी चल जायेगा। अत: आप ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर ध्यान दें, यही विनती है। इस विनती का अनादर होने से स्वामिकार्य का अनादर होगा।''

वह पत्र सीधे राक्षस के हाथ में पहुँचाये जाने की व्यवस्था की गई। पत्र भेजने वाला चन्द्रगुप्त है–यह जानते ही उसका मन हुआ कि पत्र फाड़ डाले; पर पत्र पढ़कर उसे महान् आश्चर्य हुआ। पर्वतेश्वर का न्याय करने के लिए और सच्चे अपराधी का पता लगाने का अधिकार सौंपा जाने पर आश्चर्य ही था। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। समझ में ही न आया कि क्या करे और क्या न करे। यह अधिकार स्वीकार करने का अर्थ होता है चन्द्रगुप्त की सेवा स्वीकार करना और उसे नन्द के सिंहासन पर बैठाने की अनुमति देना। यदि न स्वीकार करूँ तो ये ही लोग जनता से कहेंगे कि कुचक्र में इसका भी हाथ था, तभी यह अधिकार स्वीकार नहीं करता। यह अधिकार करने पर और पर्वतेश्वर से टेढ़े-मेढ़े प्रश्न करने पर इन तीनों के कुचक्र का कुछ तो पता चलेगा और जनता भी सच्ची बात जान जायेगी। अत: यह अधिकार तो स्वीकार करना चाहिए। मुझे यह अधिकार देने में यदि इन लोगों का कोई कुत्सितपन है तो वह भी प्रगट हो जायेगा। इसके अलावा मैं इस समय स्वतन्त्रता से कुछ कर भी नहीं सकता। अब मेरे पक्ष में कौन है–यह समझना भी कठिन है। मैंने किसी पर विश्वास करके उसे अपना गुप्त कार्य बता दिया और यदि उसने मेरे शत्रु से यह हाल कह दिया तो क्या रह जायेगा? अत: जो अधिकार उसने मुझे दिये हैं, उनको लेकर उसका पैर उसी के गले में अटका सकूँगा। ऐसा विचार करके उसने अपने प्रतिहारी से यह पत्र भिजवाया :–

"व्याधपति प्रद्युम्नदेवात्मज कुमार चन्द्रगुप्त को आमात्य राक्षस का अनेक आशीर्वाद। आपका पत्र मिला। पर्वतेश्वर की दुष्टता की खोज करने की मुझमें शक्ति है। पर, यह खोज करने से जिसका अपराध जिस पर लगेगा, उसको वैसा ही दण्ड मैं दूँगा, इस बात की पूरी व्यवस्था की जाये। नन्दवंश का घात करने वाले को उचित दण्ड देकर में नंद वंश की अन्तिम सेवा अपने हाथ से करूँगा।''

यह पत्र पढ़ते ही चाणक्य को आनन्द हुआ और उसे अपनी नीति-निपुणता पर विश्वास हुआ और यह समझते ही "आमात्य! तू मेरे जाल में आ गया!'' अपने-आप कहकर उसने ताली बजा दी।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

क्या न्याय हुआ?

राक्षस को इस तरह अधिकार देने में चाणक्य का हेतु केवल यह था कि उसे अज्ञातवास से निकालकर समराङ्गण में लाए और उसकी अच्छी दुर्दशा करके उसकी आँखों के सामने चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बैठाये। चाणक्य अति चतुर, बड़ा कुटिल, अपने वैरी का नाश करने में तत्पर और महाक्रोधी था; परन्तु एक बड़ा गुण उसमें यह था वह किंचित् भी लोभी न था। स्वार्थ-जैसी कोई चीज़ वह जानता ही न था। उसे अधिकार नहीं चाहिए था, द्रव्य नहीं चाहिए था; उसका जो अपमान हुआ था, वह केवल उसका बदला लेना चाहता था। प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये उसने प्रत्येक प्रयत्न किया। हिमालय के व्याधादिकों को अपने औषधि-ज्ञान का उपयोग करके प्रसन्न कर उनकी कृपा-सम्पादन किया। उनके तरुण बालकों को धनुर्विद्या का ज्ञान देकर उन्हें भी अपनी मुट्ठी में किया। सारांश, अत्यन्त दरिद्री होते हुए भी उसने अपनी विद्या के बल से हिमालय के कितने ही व्याध, भील आदि लोगों के सरदारों पर अपनी छाप बिठायी? जिस तरह प्राचीन काल के ऋषि विद्यादान करके लोगों की शक्ति सहज ही प्राप्त कर लेते थे, उसी तरह चाणक्य ने भी प्राप्त किया। मनुष्य विद्वान् हो तो उसका आदर कहीं भी हो सकता है। जो गुण उसे हिमालय पर उपयोगी सिद्ध हुआ, वही पाटलिपुत्र में भी उपयोगी हुआ। अपने मधुर स्वभाव से उसने भागुरायण को अपने वश में किया। मन्त्र तन्त्र और ओषधि-ज्ञान से और वसुभूति के आश्रय देने से पाटलिपुत्र के बड़े-बड़े लोगों से उसका सम्बन्ध हो गया। चन्दनदास जैसे राक्षस के स्नेही भी उसका मान करने लगे। इतना सब होने पर भी उसने कभी किसी से एक पैसा नहीं माँगा। कभी किसी ने आग्रह भी किया तो भी लेकर लौटा दिया। इतना सब होने पर भी अपना सच्चा स्वरूप उसने कभी किसी के आगे नहीं प्रगट होने दिया।

जिस वसुभूति के कारण पाटलिपुत्र में उसका परिचय बढ़ा, उस वसुभूति को भी उसने नहीं छोड़ा। उसके साथ पहले-जैसा सम्बन्ध ही रखा। केवल सिद्धार्थक को पूर्ण रूप से अपनी सेवा में लगा लिया। सिद्धार्थक कम कुटिल न था, उसने चाणक्य की नाना प्रकार की जो सहायता की, उसे यहाँ कहने का अवकाश नहीं है। पर चाणक्य अत्यन्त तेजस्वी और विद्वान् ब्राह्मण था। अकेले होने पर भी व हज़ारों कुचक्र रचकर उन्हें सफल बना सकता था। उसके ही लड़कों ने यवनों का कितना द्रव्य लूटा था; पर उसे उसकी आवश्यकता न पड़ी। प्रत्येक व्यक्ति को वह अपनी बातों से वश में कर लेने की शक्ति रखता था। राक्षस सरल पुरुष था। मैं जो इतने कुचक्र रचूँगा, उसको वह क्या समझेगा। वह मुझ–चाणक्य को उस व्याधराज के पुत्र के साथ आया हुआ मात्र दरिद्री ब्राह्मण ही समझता है, और भागुरायण सेनापति तो उसके पीछे लगा ही है। तब मुझे उसी ओर देखने की क्या आवश्यकता है,

अपने बड़प्पन के लिये वह अनुचित है–ये सब बातें चाणक्य के लिये अत्यन्त श्रेयस्कर हुईं। सारांश, चाणक्य के मन के अनुसार सभी कुछ प्राप्त होता गया। अब जो कुछ करना शेष था, राक्षस की अनुमति से चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बैठाना और राक्षस से मन्त्री-पद लेने की बात स्वीकार करवाना। इसके पश्चात् ग्रीक यवनों की अच्छी तरह पराजय करके उन्हें आर्यावर्त से बाहर निकालना। इतना हुआ कि उसकी इच्छा तृप्त हो गई। फिर इसके पश्चात् उसका विचार–नहीं, निश्चय हिमालय में जाकर तपस्या करने का था। राक्षस को अनुकूल करने के लिये उसे द्रव्य अथवा अधिकार का लोभ देना व्यर्थ था। उसकी तो एकमात्र इच्छा यही थी कि जिसने मेरे स्वामिकुल का विध्वंस किया, उसके कुचक्र का भण्डाफोड़ करके लोगों में उसकी थू-थू करवा दूँ, और उसे अपने हाथ से प्राणदण्ड देकर मैं अपना मस्तक ऊँचा करूँ। जब उसे यह लगेगा कि यह काम मेरे हाथ से हो जायेगा, तभी वह आयेगा। नहीं तो किसी दूसरे राजा के पास जाकर उसकी सहायता लेकर वह चन्द्रगुप्त को कष्ट देने की चेष्टा करेगा। ऐसा सोचकर ही चाणक्य ने राक्षस के पास वह पत्र लिखा और राक्षस ने अधिकार स्वीकार भी कर लिया। अपनी खोज करने में मैं ही अपराधी बनूँगा, यह उसकी स्वप्न में भी कल्पना न थी। दूसरे दिन ही राक्षस का न्यायासन पर बैठकर न्याय करने का निश्चय हुआ और वह न्यायासन पर जाकर विराजमान भी हो गया। चन्द्रगुप्त और उसका सामना होते ही चन्द्रगुप्त ने उससे कह– "अमात्य-राज, प्रथम तो गुप्त रूप से ही खोज प्रारम्भ होनी चाहिये। कहीं उस हत्यारे को खोज का पता लग गया तो वह भाग जायेगा और उसे पकड़कर लाने में हमें भारी कठिनाई उठानी पड़ेगी। नहीं तो कौन जाने वह यवनों के पास चला जाये। अत: हम पर्वतेश्वर से अकेले में ही पूछताछ करें और वह जिसका नाम ले, उस-उसको पकड़कर सज़ा दें। फिर वह कोई भी हो–चाहे महाविद्वान् श्रोत्रिय ब्राह्मण अथवा कोई चांडाल।"

चन्द्रगुप्त की यह बात राक्षस को अच्छी लगी और उसने भी अपनी सम्मति दी। राक्षस का यह पक्का विश्वास था कि यह सब कुचक्र चन्द्रगुप्त, चाणक्य और भागुरायण का रचा है; बीच में ही पर्वतेश्वर से कोई भूल हो गई है अथवा उसे इन लोगों ने फँसाया है। सच बात क्या है, इसका तर्क करना कठिन है। मैं सच बात का पता लगाकर इन लोगों की पूरी दुर्दशा करूँगा। इन लोगों ने मुझे ही जाल में फँसाने के लिये न्याय करने को बुलाया है, पर मैं उल्टा इन लोगों के कुचक्र का भंडाफोड़ करके इनके दाँत इनके ही गले पर गड़ा दूँगा। यह विचार करके वह न्यायासन पर गया। वहाँ चन्द्रगुप्त और भागुरायण दोनों ही बैठे थे। उसके आते ही दोनों ने उठकर उसका सत्कार किया और उसे मध्य में बैठाया। राक्षस ने विचार किया कि चन्द्रगुप्त और भागुरायण दोनों ही लुच्चे हैं। अब मैं पूरी तरह से छानबीन करके इनका लुच्चापन बाहर निकालूँगा–इनका यह ढोंग निकल जायेगा। पर पुनः यह विचार आते ही उसने सोचा कि जब सब अधिकार इन लोगों ने अपने हाथ में कर लिया है तब मैं इनको दण्ड कैसे दूँगा? समझो कि नन्दकुल का घात करने वाले ये ही प्रमाणित हुये तो क्या ये यह बात कभी स्वीकार करेंगे ? ये स्वयं मुझ पर दोषारोपण नहीं करने लगेंगे? परन्तु अब इस तरह का विचार आना निरर्थक है, उसका क्या उपयोग है? अब ये सब बातें स्वीकार करके मैं न्यायासन पर नहीं बैठूँगा तो लोग सन्देह करेंगे। अब जो कुछ करने के लिये मैं आया हूँ उसे शान्तिपूर्वक कर डालूँगा। देखूँ, आगे क्या होता है? ऐसा विचार करके अपनी शङ्का-

प्रतिशङ्का दूर करके वह चन्द्रगुप्त से बोला– "किरात-राजकुमार चन्द्रगुप्त, नन्द का वंश नष्ट होने से अब तू उनके सिंहासन की व्यवस्था देखने लगा है? कितना विश्वासघात है? यह हत्या करने का कर्म नीच पुरुषों का है न? ठीक। अब देखता हूँ तेरे हाथ से भी क्या होता है? मैं न्याय करने में समर्थ हूँ। उस दुष्ट पर्वतेश्वर का कहना भी सुनना है, उसे बुलवाओ।"

राक्षस की यह बात सुनकर भागुरायण और चन्द्रगुप्त एक-दूसरे की ओर देखने लगे।

थोड़ी ही देर में पर्वतेश्वर को बुलाने के लिये चन्द्रगुप्त ने सेवक भेजा। पर्वतेश्वर को सेवक के साथ बन्दीगृह से आना ही पड़ा। दरवाजे के अन्दर पैर रखते ही उसकी दृष्टि राक्षस पर गई और उसके क्रोध की सीमा न रही। उसका सर्वांग क्रोध से काँपने लगा। यदि वह स्वतन्त्र होता तो उसी समय राक्षस को अपनी तलवार के घाट उतार देता। वह राक्षस से ज़ोर से चिल्लाकर बोला– "अमात्य राक्षस, तू नाम का ही राक्षस नहीं, पर कर्मानुसार भी राक्षस है! नीच, यदि तुझे अपने स्वामी का और उसके कुल का नाश करना था तो मुझे बीच में क्यों व्यर्थ फँसाया? मैंने नीति की बड़ी-बड़ी चालें देखी हैं, पर इस तरह की विश्वासघात करने की नीति किसी ने कहीं न देखी होगी। यदि पत्र पर तेरी मुद्रा न होती तो मैं कभी उसका विश्वास न करता, पर मेरा दुर्भाग्य था–क्या कहूँ! तू अत्यन्त अधम है–इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। और अब अपने सामने बुलाकर तू मेरी विडम्बना करवाना चाहता है। नीच..."

पर्वतेश्वर के मन में और भी कुछ बोलने को था, पर उसका सन्ताप इतना बढ़ गया था कि मुँह से शब्द ही न निकलता था!

इधर राक्षस उसका यह बोलना सुनकर बड़ा आश्चर्यचकित हुआ। मेरी मुद्रा से भेजा हुआ पत्र इसके पास पहुँचा, तब यह आया–आखिर इसका मतलब क्या है?

पर्वतेश्वर के इस प्रकार बोलने का उत्तर भी मैं क्या दूँ? राक्षस के मन की यह स्थिति चन्द्रगुप्त ताड़ गया। उसे मालूम था कि तर्क इसी प्रकार का होगा। अत: वह बड़ी शान्ति से पर्वतेश्वर से बोला– "पर्वतेश्वर, व्यर्थ किसी का नाम लगाकर बड़बड़ाने से कुछ नहीं होगा। अमात्यराज राक्षस इस समय न्याय के आसन पर सुशोभित हैं। सहसा राजघात कैसे हुआ, क्या हुआ, तुम मगध पर आक्रमण करने आते समय कैसे आये–इन सबका पता लगाने का काम इन्होंने स्वीकार किया है। अत: अपराधी को दण्ड देने का काम भी इन्हीं के सुपुर्द हुआ है। तुम्हें हम क्षतिपूर्ति का द्रव्य लेकर छोड़ देंगे। पर, तुम्हें छोड़ें या बन्दीगृह में रखें, यह तुम पर ही निर्भर करता है। यदि तुम सच्चे अपराधी को बताकर और सब बातें भी बता दो तो हम थोड़े अर्थ-दण्ड पर ही तुम्हें छोड़ देंगे। नहीं तो अधिकारप्राप्त अमात्य राक्षस..."

"वाह! वाह! अमात्य राक्षस न्यायाधीश बने हैं!" पर्वतेश्वर विकटता से हँसकर बोला।

"क्या आपके मगध देश में अपराधी को ही न्यायाधीश बनाने की प्रथा है? और इस दुष्ट ने स्वयं मुझे पत्र भेजा कि अमुक दिन मैं राजपरिवार का नाश करूँगा, तब थोड़ी-सी सेना लेकर पाटलिपुत्र को घेर लो। मैं तुम्हारी सहायता पर रहूँगा, ज़रा भी शङ्का मत करना।" इसने मुझे ऐसा लिखा था। इसे डर था कि कदाचित् मैं अपना आदमी भेजकर कोई खोज करूँ अत: इसने लिखा–"मेरे पत्र का उत्तर मेरा पत्र ले जाने वाले के हाथ दो। अपने मनुष्य

के हाथ मत भेजो। न मालूम वह किसके हाथ में पड़ जाये। “मुझे कभी यह शङ्का न हुई कि क्या राक्षस-जैसा सच्चा मनुष्य कभी इतना विश्वासघात–अधमता करेगा, पर मेरी तो बुद्धि मारी गई थी, शङ्का क्यों नहीं आई? आनी चाहिये थी। पर मेरा भाग्य ही प्रतिकूल था। चन्द्रगुप्त! अब तू राजा होने वाला है, पर संभल। यह दुष्ट एक दिन तेरे साथ भी ऐसा ही विश्वासघात करके तुझे...”

भागुरायण और चन्द्रगुप्त बड़े आश्चर्य का नाटय करते हुए राक्षस की ओर देखने लगे। जैसे उनके लिये यह सब बातें नई हों और वे विश्वास न करते हों। चन्द्रगुप्त बिलकुल मौन धारण करके बैठ गया। राक्षस भी कुछ देर तक स्तब्ध रहा। इतने में ही पता नहीं कि उसके मन में क्या आया और वह खड़ा होकर बोला– “पर्वतेश्वर, तू होश में तो है? कहीं शत्रु के हाथ में पड़ने से तेरी बुद्धि एकदम भ्रष्ट तो नहीं हो गई है? कहाँ है वह पत्र–निकाल ?”

“यह ले, अधम, नीच! तू समझता है कि पत्र मेरे पास है ही नहीं। देख, पूरा पत्र पढ़कर देख। इसके ऊपर इस नीच की मुद्रा देखो। और इस पत्र में स्वामिघात का कुचक्र रचने के बारे में लिखा है, यह भी पढ़ो। राक्षस, अब भी झूठ बोलकर वह न्यायासन कलंकित न कर। नीचे उतर। अरे नीच, न्यायासन पर बैठने की योग्यता तुझमें कहाँ से आई? अब यदि मुझे तेरी क्षमता के बारे में कोई पूछे तो मैं एक ही उत्तर दूँगा कि तू श्मशान के वधस्तंभ अथवा सूली का पात्र है!”

राक्षस बड़ा क्षुब्ध और क्रोधित हुआ। यह गड़बड़झाला उसकी समझ में कुछ भी न आया।

तैंतीसवाँ परिच्छेद

न्यायाधीश अथवा अपराधी

पर्वतेश्वर की बात सुनकर राक्षस का चेहरा क्रोध से लाल हो गया। सन्ताप के मारे उसके मुँह से शब्द ही न निकलता था। चन्द्रगुप्त और भागुरायण अर्थपूर्ण दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। कुछ देर के बाद जब उसका सन्ताप कुछ कम हुआ तो वह बोला– "असत्य! असत्य!" पर उसे ऐसा लगा कि ऐसे अवसर पर मुझे अपने आपे से बाहर नहीं होना चाहिए। संताप दबाकर शांति से बोलकर ही सच बात का पता लगाना चाहिये– ऐसा विचार करके वह बड़े कष्ट से अपना सन्ताप दबाकर बोला– "पर्वतेश्वर, जब मैंने तुझे ऐसा पत्र लिखा ही नहीं, तो तू मेरे ऊपर यह आरोप लगाकर क्या करेगा? पर्वतेश्वर, शत्रु के हाथ में पड़ जाने से तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है अथवा किसी ने मेरे नाम से तुम्हें फँसाया है। अत: अपने फँस जाने के खेद से व्यर्थ मुझ पर लांछन मत लगाओ। जिन नीच लोगों ने तुम्हें बुलाया था उनका नाम बिना हिचकिचाहट के बोल जाओ, फिर तुम हर्जाना देने पर वापस जाने दिये जाओगे। नहीं तो नन्द के इस राज्य से वापस जाने की आशा मत रखो। जो घटना जिस प्रकार हुई हो, उसे स्पष्ट कहकर अपना छुटकारा कराओ।"

राक्षस की यह बात सुनकर पर्वतेश्वर और चिढ़ गया। इस नीच ने ही मुझे बुलाया और अब न्याय करने के लिए स्वयं ही न्यायासन पर बैठकर मुझसे ऐसी बातें कर रहा है। अब एक बार उसका मन, चन्द्रगुप्त और भागुरायण से जो कुछ भी कहना था कहकर, मौन धारण करने का हुआ अत: उन दोनों की ओर देखकर वह बोला– "क्यों, जो अपराधी है उसे ही न्यायासन पर बैठाकर–बड़प्पन देकर, और उसके द्वारा कुचक्र में फँसाये लोगों का उसी द्वारा अपमान करवाना, क्या यही नन्द-राज्य की प्रथा है? अमात्य राक्षस का मतलब था–नन्द का एकनिष्ठ सेवक सारा जगत् जानता था। यह इस नीच की चाल थी कि एक बार मैं ऐसा नाम कर लूँ, फिर जो चाहे सो करूँ। बिना कारण मुझे निमंत्रण देकर अपने मगध पर चढ़ाई के लिए बुलाया–'राजा धनानन्द महामूर्ख है। उसका राज्य की ओर ज़रा भी लक्ष्य नहीं है। इसके अलावा वह एक दासी के पीछे लगा है। यदि उसे ऐसे ही बहकने दिया तो मगध देश नरक में चला जायेगा, आपके आक्रमण करने का यही अवसर है। मैंने इस बात का प्रबन्ध किया है कि अमुक दिन अमुक समय उसका और उसके बाल-बच्चों सबका नाश हो जाये; अत: ऐसे प्रसङ्ग पर आप यहाँ आ जाएँगे तो कार्य-सिद्धि हो जायेगी। कुराज से अराजकता अच्छी है, पर आप जैसा राजा रहते कुराज क्यों रहे, और अराजकता भी क्यों रहने दी जाये?' ऐसा अन्तिम पत्र इसने मुझे भेजा। शायद इस अधम की महत्त्वाकांक्षा नन्द को मारकर फिर मुझे भी एक ठिकाने लगाकर राज्य करने की थी! चन्द्रगुप्त, तुमने बड़े पराक्रम से मुझे पकड़ा, अत: राज्य के स्वामी अब तुम्हीं हो। पर, यदि तुम्हें अपना स्वामित्व स्थिर रखना हो तो इस अधम को पहले यमलोक भेज दो, नहीं तो यह तुम्हारी भी हत्या

करा देगा–यह निश्चय समझो। जिस नीच ने इतने दिन तक स्वामिनिष्ठा का ढोंग रचकर अन्त में उस स्वामी को ही यमलोक भेज दिया, वह किस पर सच्ची निष्ठा रखेगा? मैं अब तुम्हारे अधीन हो गया हूँ, अत: यह स्वाभाविक है कि तुम मेरी बात न सुनोगे; पर जिस तरह मैं इस नीच के भुलावे में फँस गया, ऐसे तुम भी न फँस जाना, इसलिए इतनी विनती कर रहा हूँ। इससे अधिक मैं कुछ न बोलूँगा। मुझे न्याय करके वधस्तम्भ पर ले चलो और मेरा शिरच्छेद करो, मुझे शूली दो या और जिस प्रकार चाहो मारो; पर इस अधम की बातें मुझे अब ज़रा भी मत सुनाओ। अब मैं इससे अधिक मुँह से एक शब्द भी नहीं निकालूँगा। इतना बोला, यही बहुत किया। अब चाहे मेरे साथ न्याय करो चाहे अन्याय करो। जहाँ चोर, कुचक्री, झूठे न्यायाधीश होते हैं वहाँ न्याय किस तरह का होगा, यह तो स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है।"

इतना कहकर पर्वतेश्वर ने अपने पास से एक पत्र चन्द्रगुप्त और भागुरायण की ओर फेंक दिया। दोनों ने वह कृत्रिम पत्र आश्चर्यचकित मुद्रा से आदि से अन्त तक पढ़ा और स्तब्ध होकर कभी राक्षस की ओर और कभी पर्वतेश्वर की ओर देखने लगे। जैसे उनकी समझ में ही न आ रहा हो कि क्या करें। वास्तव में तो वे देखना चाहते थे कि राक्षस अब क्या करेगा और यही देखने के लिए वे यह नाटक खेल रहे थे। हमारे बीच में व्यर्थ बोलने से उसे शङ्का होगी और यदि उस सन्देह से उसे ज़रा भी लाभ न हुआ तो अन्त में हमें उससे जो काम निकलवाना होगा, निकलवा लेंगे–यह वह जानता था।

इधर राक्षस का विचित्र हाल था। अपने ऊपर पर्वतेश्वर द्वारा अभियोग लगते देख उसे बहुत बुरा लगा, पर पत्र के नीचे जो देखता है तो मुद्रा उसी की है। यदि कहे कि पर्वतेश्वर झूठ बोल रहा है तो मेरी मुद्रा कहाँ से मिल गई? वह बड़े फेर में पड़ा। मेरा मुद्राधारक पर्वतेश्वर से मिल गया–यह तो कभी सम्भव ही नहीं है। जिस तरह से पर्वतेश्वर के राज्य में गुप्तचर रखकर मैं वहाँ के हाल जान जाता हूँ, कहीं पर्वतेश्वर ने भी ऐसा ही गुप्तचर यहाँ तो नहीं रखा था, यदि यही बात है तो मेरी पूरी दुर्दशा बदी है। कारण, मैं अपने को बड़ा चतुर समझता था। सारी पुष्पपुरी में कहाँ क्या बात हो रही है, इसकी मुझे पूरी सूचना रहती थी और प्रत्यक्ष मेरे देखते मेरे स्वामी और उनके कुल का नाश हो गया और पर्वतेश्वर के समान शत्रु नगर घेरने आ गया–आखिर इसका मतलब क्या है? मैं ऐसा अन्धे-जैसा कैसे बन गया? यही नहीं, उस शत्रु को दूसरों ने पकड़ा और वैसी स्थिति में भी सब दोष यह मेरे मत्थे मढ़ता है, मेरा मुद्रांकित पत्र दिखाता है। आखिर यह सब इन्द्रजाल है क्या? अन्धकार! राक्षस की आँखों के सामने अँधेरा-सा छाने लगा। यह मुद्रांकित चिट्ठी मेरी नहीं है, इस पत्र के बारे में मैं कुछ नहीं जानता–यदि मैं यह कहूँ भी तो कौन विश्वास करेगा ? यह पत्र मेरा नहीं है। इसके लिये मैं प्रमाण भी क्या दूँ? अब मैं इस मायाजाल से कैसे छूटूँगा। यदि पर्वतेश्वर की कही बात लोगों ने सुन ली तो वे मुझे क्या कहेंगे? आज तक की अपनी कीर्ति को कितना धब्बा लगेगा? इस बेचारे के मन में सहस्त्रों विचार आने-जाने लगे। अन्त में ये सब विचार दूर करके, मन को शांत कर यह चन्द्रगुप्त और भागगुरायण की ओर देखकर बोला– "कुमार, जब यह पर्वतेश्वर मुझे भी इस प्रसंग में घसीट रहा है और कह रहा है कि पुष्पपुरी पर हमला करने का निमंत्रण मैंने ही उसे दिया है तब उसके साथ ही मुझे भी अपराधी जानकर तुम्हें न्याय करवाना चाहिये। पर्वतेश्वर यह सच ही कह रहा है कि अब मैं

न्यायासन पर बैठा तो वह कलंकित होगा। तुमने इससे पुष्पपुरी का संरक्षण किया। अत: लोग तुम्हें अपना त्राता मानेंगे। कुमार, अब यदि तुम मगध के सिंहासन पर भी बैठ गये तो लोग विरोध नहीं करेंगे; पर पर्वतेश्वर के साथ ही मेरा भी न्याय होना जरूरी है। अतएव किसी चतुर मनुष्य को न्यायाधीश बनाकर मुझ पर भी लांछन रखो। न्याय करो। उस न्याय के अनुसार मुझे जो भी दण्ड मिलेगा, मैं भोगने को तैयार हूँ। आज तक सहस्रों लोगों का न्याय करके मैंने उन्हें मृत्युदण्ड दिये हैं। मेरे ऊपर–स्वामिघात, स्वामि-कुलघात, म्लेच्छों का आश्रय लेकर पर्वतेश्वर की राज्य प्रदान करने की अभिसन्धि–ये तीन लांछन रखो। जो मेरा दैव मेरे अनुकूल होगा तो इस लांछन से मेरी मुक्ति होगी, नहीं तो मैं इस संसार के योग्य नहीं हूँ–ऐसा समझ स्वयं अपनी आत्मा को शरीर से अलग कर दूँगा। चलो, इसी समय मुझे कारागृह में ले चलो।"

इतना कहकर राक्षस न्यायासन से उतर पड़ा और पर्वतेश्वर से कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया। अब वह एकदम शांत था। अब वह धैर्य की मूर्ति दिखाई पड़ने लगा। चन्द्रगुप्त और भागुरायण समझते थे कि जैसे ही पर्वतेश्वर उसका नाम लेगा, वह घबराकर "मुझे छोड़ो, पर्वतेश्वर झूठ बोल रहा है।" कहकर हमारी विनती करेगा, अथवा क्रोध में बक-बक करने लगेगा। पर वह इस तरह स्वयं पर लांछन लगवाकर न्याय की माँग करेगा और बन्दीगृह में जाने को तैयार हो जायेगा–यह उनका अनुमान न था। चाणक्य जानता था कि नन्द की मृत्यु के बाद जब जनता का क्रोध थोड़ा कम होगा तो राक्षस के मित्र उस पर लगाये गये लांछन को वृथा कर हमारे विरुद्ध खड़े हो जाएँगे और कदाचित् जनता का मत भी बदल दें। सागर और जनता समान हैं, शान्ति के समय जिसे आश्रय देते हैं, क्षुब्ध होने पर उसे रसातल पहुँचा देते हैं। अतएव राक्षस पर आरोप लगाकर खुलेआम उस पर न्यायालय में अभियोग चलाना उसे बिल्कुल इष्ट न था। चाणक्य की एकमात्र इच्छा यह थी कि राक्षस चन्द्रगुप्त का मन्त्री-पद स्वीकार करके यवनों को आर्यवर्त से बाहर निकाले । तक्षशिला नगरी में रहकर विष्णुशर्मा उर्फ चाणक्य को यवन-ग्रीकों के अत्याचार का पूर्ण ज्ञान था तथा उन पर वह अत्यधिक क्षुब्ध था। आगे वह पाटलिपुत्र आया और पिछले अध्यायों में वर्णनानुसार नन्द-द्वारा अपमानित होकर उसने उसका बदला लिया और राक्षस जैसे धुरन्धर अमात्य को भी उसमें फाँस लिया। पर यह कितने समय तक गुप्त रहेगा? राक्षस पर खुलेआम अभियोग चलाने से सम्भवत: अपना कुचक्र कहीं-न-कहीं से फूट पड़े, अतएव चाणक्य उस पर खुलेआम आरोप नहीं लगाना चाहता था। लोगों का मन व्यग्र था, राक्षस को दण्ड देकर मगध से निकाला भी जा सकता था। पर चाणक्य को यह भी पसंद न था। राक्षस मगध से बाहर गया तो चन्द्रगुप्त से वैमनस्य बढ़ाकर किसी राजा को अपनाकर मगध पर आक्रमण कराये बिना नहीं रहेगा। नन्दवंश का नाश हो जाने पर वह किसी दूसरे का सिंहासन पर बैठाना नहीं देख सकता। अतएव वह अपनी सारी बुद्धिमत्ता और शक्ति का प्रयोग चन्द्रगुप्त को उलटने में करेगा। उसे इस तरह खो देने से लाभ नहीं, नुकसान ही होगा। उसे अपनी ओर मिलाने का दूसरा कारण यह भी था कि चन्द्रगुप्त को उसके-जैसे मन्त्री की अत्यन्त आवश्यकता है। भागुरायण में मन्त्री बनने की योग्यता नहीं थी; वह सैनिकमात्र था। चाणक्य मन्त्री बनना नहीं चाहता था। उसका मन आश्रम में जाकर पुनः तपस्या करने का था, पर इसके पहले चन्द्रगुप्त का हाथ दृढ़ करके जाना था जिससे यह ग्रीक

लोगों से अच्छा मोर्चा ले सके। यदि राक्षस ने एक बार उसे नन्द की जगह जानकर उसकी सेवा स्वीकार कर ली–नहीं, शपथ ले ली तो सब काम बन जायेगा। अब वह चौकन्ना भी रहेगा–यह नहीं समझेगा कि राज्य का कोई शत्रु ही नहीं है। अब उसे अच्छी शिक्षा भी मिल गई है। चन्द्रगुप्त के लिए योग्य सचिव राक्षस ही है। उसे केवल एक बार यह कहना चाहिए कि चन्द्रगुप्त नन्दवंश का अंकुर है, मगध का राजा है और मैं उसका मन्त्री हूँ। यदि मैंने उससे यह कहलवा लिया, तो अपना कार्य सिद्ध हो जायेगा। चन्द्रगुप्त का राज्य सुचारु रूप से चलने में कोई विघ्न नहीं पड़ेगा। पर राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में लाने के लिए बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अब तक तो कुछ भी नहीं हुआ है। राक्षस का वचन बदलना पृथ्वी की उल्टी परिक्रमा करने के समान था। जिस तरह से यह काम असम्भव है वैसे ही राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में लाना भी असम्भव है। पर जो असम्भव है उसे पूरा कने में निपुणता है–अत: वह भविष्य के कार्यक्रम पर पुनः सोच-विचार करने लगा। राक्षस पर अभियोग लगाकर उससे अपने मन के अनुसार काम करवा लेना असम्भव था–चाणक्य यह भी जानता था। अत: पर्वतेश्वर के द्वारा राक्षस पर नन्द की हत्या का आक्षेप और उसके छूटने की आवश्यकता का आभास उसे देना बिल्कुल छोटा-सा साधन था। इस साधन से पूर्णरूप से काम नहीं हो सकता, राक्षस का मन जीतने के लिए निराले ही साधनों की आवश्यकता थी। चाणक्य उन्हीं साधनों के बारे में सोच रहा था। उसने चन्द्रगुप्त से कहकर राक्षस को न्यायासन पर बिठाकर वह सब बातें करने की युक्ति रच रखी थी, तभी चन्द्रगुप्त और राक्षस की वैसी बात हुई। चन्द्रगुप्त को चाणक्य ने कितनी ही बातें सिखा रखी थीं। उसमें कितने ही प्रश्नों का समावेश था जिसका उत्तर चाणक्य की चाहिये था। उसी अनुसार चन्द्रगुप्त ने राक्षस से कहा–

"मन्त्रिवर राक्षस, पर्वतेश्वर का बड़बड़ाना आपने सुन ही लिया। हमने भी सुना, आप-जैसा स्वामिनिष्ठ और नन्द-वंश का सेवक श्रेष्ठ पुरुष ऐसी बातें करेगा, यह कैसे सच हो सकता है? अत: उसकी बात से आप मन में विषाद न लाइये और न यही समझिये कि हम मन में उसे सच मानते हैं। पर्वतेश्वर इस तरह से एक-दूसरे के विरुद्ध बातें कहकर मगध देश में फूट करवाना चाहता है। आप उससे जा मिलेंगे, यह हमें जागते हुए तो क्या, स्वप्न में भी सत्य नहीं जान पड़ेगा। अत: सच्चा षड्यन्त्रकारी कौन है और किसने इस तरह से आपकी मुद्रा से पत्र लिखा, इसकी आप खोज कीजिए।"

"कुमार, तुम्हारे मन में चाहे जो हो, पर बाहर से जब तुम यह कह रहे हो कि मेरे हाथ से ऐसा कुकर्म नहीं हो सकता, तो यही बड़ी बात है। पर तुम्हारे समान लोगों के मन में यह बात होने से क्या उपयोग होता है, मेरी मुद्रा से युक्त पत्र इसके पास निकला। लोकापवाद के लिये यही बहुत है। यह अपवाद पूर्णरूप से मुझ पर से हट जाना चाहिए। यदि इस अपवाद को खुले रूप में आप नष्ट करने की चेष्टा करें तभी मैं कहूँगा कि आपका मुझ पर विश्वास है।"

भागुरायण बीच में ही बोलाा– "यदि इस तरह से खुल्लमखुल्ला हम लोग खोज करेंगे तो व्यर्थ बात और बढ़ेगी, बदनामी होगी। अच्छा तो यह हो कि इस बात को अन्दर ही दबाकर पर्वतेश्वर से हर्जाना लेकर इसे इसके राज्य में पहुँचा दिया जाये और कुमार

चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर बैठाकर मगध का राज्य शासन आप पूर्ववत् जारी रखें। आप सचिव और मैं सेनापति...”

“छि:-छि:” राक्षस जोर से चिल्लाकर बोला– “भागुरायण, इस नन्द-वंश के सेवक के सामने ऐसी बातें मुँह से फिर न निकालना। नन्द-वंश को नष्ट करवाने वाले इस दासीपुत्र को सिंहासन पर बैठाकर तू उसका मंत्री-पद मुझसे स्वीकार कराना चाहता है? ऐसा कहते हुए तेरी जीभ के हजारों टुकड़े नहीं हो जाते? नीचो, क्या मैं तुम लोगों का सारा कपट-नाटक समझा नहीं? पर समझा बड़ी देर से। तभी तुम्हें ऐसी बातें कहने का अवसर मिला। नहीं तो...पर अब वह कहने से क्या लाभ?”

चौंतीसवाँ परिच्छेद

एक और षड्यन्त्र

राक्षस की यह बात सुनकर भागुरायण कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा। इस समय वह क्या बोले, कुछ समझ न सका; पर यह सोचकर कि चुप बैठने से सब अपराध यह मेरे ही सिर लादेगा, वह राक्षस से बोला–"क्यों? बोलना उपयोगी क्यों नहीं है ? जो-जो आपके मन में हो, स्पष्ट रूप से कह दीजिये। मन में मत रखिये। मन में रखने से इसका क्या उपयोग होगा?"

"भागुरायण, नन्द की सेना का तू अधिपति है। जब तू ही उनके ऊपर उलट कर एक भील-राज को गद्दी पर बैठाने का उपक्रम करने लगा तो क्या कहा जाये? मैं ही अन्धा हो गया था। मगधराज का बाह्य शत्रु अब कोई नहीं है, ऐसा समझकर मैं चुपचाप बैठ गया, तभी तुझे योग्य दण्ड भी मिल गया। तुम राजघाती, विश्वासघाती और कितने ही प्रकार घाती हो। तुम्हारे सामने खड़े होकर तुम्हें देखने से भी बड़ा पाप लगेगा। तब तुमसे बातचीत तो और भी नहीं करनी चाहिए। यदि तुम चतुर होगे, तो सबके सामने मेरा न्याय करोगे। यदि मैं अपराधी ठहर गया तो जो दण्ड चाहो, दो। नहीं तो मैं स्वयं जनता के सम्मुख इस सब कुचक्र का भंडाफोड़ करूँगा।"

"अमात्य" भागुरायण तत्काल बोला–"तुम्हारा न्याय करने वाले हम कौन हैं?" तुम्हीं सबका न्याय करते हो। पर तुमसे मेरी इतनी विनती है कि व्यर्थ न्याय के चक्कर में न पड़ो। जनता बड़ी भावुक है। कब किस बात से उसका क्या रुख हो जायेगा, कोई कह नहीं सकता।"

"भागुरायण, यह चालबाजी करने का क्या अर्थ है? जनता का कैसा रुख बदला करता है, यह तुम्हें ही नहीं मुझे भी मालूम है। अब तुम अधिकारारूढ़ हो। तुम्हें जो कुछ करना हो, करो; पर अपने सम्बन्ध में मैं जो कुछ चाहूँ उसमें टाँग मत अड़ाओ। मेरी इच्छा यह है कि यदि पर्वतेश्वर का मुझ पर लगाया हुआ आरोप सत्य ठहर जाये तो मुझे दण्ड मिले। इस बात में मुझे तुम लोगों का उपकार नहीं चाहिये। मेरी प्रतिष्ठा रखने के लिए तुम लोग किसी प्रकार के चक्कर में मत पड़ो। मैं अब अधिक नहीं बोलूँगा। नन्द का कट्टर सेवक हूँ। मैं इस व्याध पुत्र को बुलाकर उसके हाथ में राज्य देने की बात तो दूर, स्वप्न में भी ऐसा विचार नहीं कर सकता। अब और क्या कहूँ? यदि किसी को तुम लोगों द्वारा लगाया यह आरोप सत्य मालूम देगा तो मुझे दण्ड देगा। परन्तु इस प्रकरण को अन्दर-ही-अन्दर दबाकर, तुम्हारी तरह मैं भी चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कर लुँगा, यह तुम स्वप्न में भी मन में मत लाओ। मैं यह बात कितनी बार कहूँ? "

ये बातें राक्षस बड़े उद्वेग से कह रहा था। भागुरायण और चन्द्रगुप्त चुपचाप बैठे सुन रहे थे। ऐसे समय ही एक दूत आया और भागुरायण के कान में कुछ गुनगुनाया। तब भागुरायण तत्काल दूत से बोला–"क्या कहता है? राजगृह के समीप खुदी हुई खाई को अपने घर में से मार्ग देने वाले षड्यन्त्रकारी का पता चल गया? यह कौन है, चन्दनदास ! वाह! चन्दनदास तो अमात्य का बड़ा गहरा मित्र था और उसने वैसे काम में सहायता दी, यह कैसे सम्भव है? असम्भव है। चन्दनदास राजघात का कारण हो ही नहीं सकता।"

"पर उसने स्वयं ही सब स्वीकार कर लिया। उसका स्पष्ट कहना है कि अमात्य के पत्र लिखने से उसने यह सब किया। अमात्य मेरे मित्र हैं, उन्हें 'न' कैसे कहता?" अमात्य को सुनाकर ही यह बातचीत हुई और ज़ोर से हुई, इसके कहने की आवश्यकता ही नहीं है। अमात्य यह सुनकर बड़ा संतापित हुआ। उसे पूर्ण विश्वास था कि मेरा मित्र चन्दनदास राजहत्या में सहायता नहीं दे सकता। पर अब उसके मन की यह स्थिति हो गई थी कि प्रत्येक बात उसे सच प्रतीत होती थी। कौन जाने, जैसे सब लोग इन नीचों के पक्ष में हो गये, वैसे ही वह भी हो गया हो? पर यदि चन्दनदास भी उस कुचक्री ब्राह्मण के अनुकूल हो गया तो सारा जगत् ही उसके अनुकूल हो गया और नन्द का विनाश-काल समीप आ गया था, ऐसा कहना व्यर्थ नहीं है! उसके मन में यही विचार चल रहे थे; पर भागुरायण की बात सुनकर वह स्वयं एक अक्षर भी न बोला। उसने मौन धारण कर लिया। बोलने से कोई लाभ तो था ही नहीं।

इधर उस दूत और भागुरायण के बीच और बातें चल रही थीं।

बड़ा समय बीत गया। पर्वतेश्वर का न्याय वैसे ही रह गया। अन्त में उसे उसकी पहली जगह पर रखना निश्चय हुआ। चन्द्रगुप्त ने अपने परिचारकों को आज्ञा दी। वे पर्वतेश्वर को वहाँ से ले गये। अनन्तर अमात्य से भागुरायण ने कहा–"अमात्यराज, इस समय आपकी चित्तवृत्ति अत्यन्त क्षुब्ध हो गई है। तभी मैं आपसे कुछ कह नहीं रहा हूँ। पर, स्थिति क्या है–मैंने आपको बता दी है। आप जहाँ मन हो, वहाँ जाइये और इन सब बातों पर विचार कीजिये। मैंने जो विनती की है, वह व्यर्थ तो नहीं है, पर आपके विचार से यही हो जाये, तो ठीक रहे।"

राक्षस ने भागुरायण की बात सुनकर एक बार अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा, पर बोला कुछ भी नहीं। इन मनुष्य से बात करना भी घातक है–यह विचार उसके मन में आया। मेरे अन्धेपन का लाभ उठाकर उसने क्या-क्या कुचक्र रचे और मैं उसके जाल में फँस गया, इसका उसे बड़ा दुःख था। पर, बेचारा करता क्या? न्यायालय से बाहर निकलने पर उसे यही न मालूम पड़ता था कि वह किधर जाये। प्रतिहारी के मित्र के घर रहकर उसने चन्दनदास को कहला भेजा था कि उसके स्त्री और बच्चों को वह अपने घर ले जाये। चन्ददास ने वैसा करने का वचन दे दिया था; पर स्वयं भेंट करने भी नहीं आया। चन्ददास को इस बात का आश्चर्य हुआ था। पर, अब वह भी लुप्त हो गया। यदि चन्दनदास ने राजघात में सहायता की है, तो मुझसे कौन-सा मुँह लेकर मिलेगा? जब चन्दनदास-जैसा अहिंसाव्रत-सेवी गृहस्थ राजकुल का नाश करने को उद्यत हो गया तो और क्या कहा जाये? पर, अब मैं कहाँ जाऊँ? उस राजघातकी चन्दनदास का मुँह देखने से भी घृणा हो गई।

उसके घर से अपनी स्त्री और पुत्र लाकर मैं पुष्पपुरी छोड़कर चलता बनूँ? यदि नन्दराजा स्वार्थसिद्धि अब भी तपोवन में तपस्या करता होगा, तो उसे मिलकर उसकी सहायता से किसी राजा की सहायता लेकर मैं इस पुष्पपुरी में ससैन्य आऊँगा और चन्द्रगुप्त और उसके सहकारियों–चाणक्य और भागुरायण की अच्छी खबर लेकर स्वार्थसिद्धि को राजगद्दी पर बैठाऊँगा। वह पक्के तौर पर जान गया था कि यह लोग न्यायासन के सामने खड़े होकर मेरा न्याय जनता के समक्ष नहीं करेंगे, न ही ये लोग बन्दीगृह में रख सकते हैं। इन अधमों का हेतु केवल इतना है कि लोगों का मन मेरी ओर से कलुषित करके मेरी दुष्कीर्ति करके लोगों की दृष्टि में मुझे गिरा दें। अत: मेरा यहाँ रहना श्रेयस्कर नहीं है। पर, मैं जाने के पहले स्त्री और बच्चों की क्या व्यवस्था करूँ? चन्दनदास-जैसे नीच लोगों के घर अब उन्हें नहीं रहने देना है। कौन जाने, यह कब मेरे स्त्री-बच्चों को शत्रु के अधीन कर दे? अब मैं क्या करूँ-इस प्रकार का विचार करता हुआ बेचारा राक्षस आम रास्ते से हटकर निर्जन रास्ते से जा रहा था। जाते-जाते वह पुष्पपुरी के निकटवर्ती वन में पहुँचा। प्रतिहारी के मित्र के घर पहुँचने के लिए इस निर्जन वन से एक रास्ता गया था, उस समय उसे वही रास्ता ठीक जँचा। वह थोड़ी ही दूर गया होगा कि एक सघन वट वृक्ष के नीचे हाय मित्र चन्दनदास, राक्षस की आज्ञा का पालन करने के लिये तुमने जो किया वह तुम्हारे वध का कारण हो गया न? और तुम्हें इस बात का पता चल गया है, फिर भी छुटकारे का उपाय न करके तुम वध के लिये तैयार हो गये हो? हे मित्र! यदि तुम्हारा वध हो गया और तुम्हारी स्त्री सती हो गई तो मैं ही इस जगत् में क्यों रहूँ? तू मेरे मित्रों में उत्तमोत्तम था–तेरे बिना मैं कैसे रहूँगा। मैं भी फाँसी लगाकर तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहा हूँ...” राक्षस के कान में ये शब्द पड़े और वह ठिठक गया। इस समय इस निर्जन वन में आकर चन्दनदास के शोक में अपने प्राण देने वाला यह उसका कौन-सा मित्र है? और चन्दनदास ने जो-कुछ किया वह राक्षस की आज्ञा से–इसका क्या अर्थ है? क्या चन्दनदास को मेरी और से आज्ञा देकर किसी ने फँसा दिया ? यह सब कैसी विलक्षण बातें हैं? इस आत्महत्या करने वाले गृहस्थ को एक ओर बुलाकर इससे सब हाल पूछूँ और उसका मन शान्त करके आगे देखूँ क्या होता है! ऐसा विचार करके वह उस गृहस्थ के पास गया और ज़ोर से बोला– “अरे, अपने मित्र के वध के पीछे अपने प्राण देने वाले तुम कौन हो?”

“क्यों महाराज, मुझसे पूछताछ क्यों करते हैं! मुझे इस काम से रोकने के झंझट में आप न पड़िये, समझे? मैं अपने मित्र के पीछे एक क्षण भी नहीं रह सकता, मुझे जाने दीजिये।”

“अरे, यह तो ठीक है, पर जिसके पीछे तुम प्राण दे रहे हो, वह मेरा भी मित्र है। उसका वध देखकर मुझे भी बड़ा दु:ख हो रहा है, पर यह वध क्यों और किसकी आज्ञा से हो रहा है? बता दो तो मैं कोई उपाय करूँ। नहीं तो तुम्हारे साथ मैं भी मित्र से भेंट करने चलूँगा।”

“क्या चन्दनदास, आपका भी मित्र है? रहा होगा? राजघात के कुकर्म में जिस-जिसने राक्षस की मदद की है, उन सबका वध होनेवाला है। वह त्रिपुटी–चाणक्य, चन्द्रगुप्त और भागुरायण–उस कुचक्र में सहयोग देने वाले सभी को दण्ड देगी।”

“अरे भले आदमी, यह तो ठीक है, पर चन्दनदास पर उन्होंने क्या आरोप लगाये हैं?”’

“आरोप! आरोप क्या है? राजा धनानन्द की सवारी राजगृह के द्वार के समीप तोरण के

नीचे आई कि उसे खाई में गिराने की अपने घर में से गुप्त रूप से खाई खुदवाई अथवा खोदने की सहायता देकर राक्षस का साथ दिया–वही आरोप है। उसने यह व्यवस्था राक्षस के पत्र के कारण की–यह स्पष्ट है। राक्षस ने उसे लिखा था–तुम ऐसा करो। मेरे आदमी खाई खोदना तुम्हारे घर से प्रारम्भ करेंगे, उनकी सहायता करना। राक्षस की और उसकी गहरी मित्रता है, अत: उसने तदनुसार स्वीकार कर लिया। पर, अब उसका वध हो रहा है।"

"क्या कह रहे हो? राक्षस ने लिखा था कि अपने घर में से खाई खोदने के लिए जगह दे दो। अरे, इन चाण्डालों ने झूठे पत्र लिखकर कितनों को फँसाया! अरे, चन्दनदास, तुझे राक्षस से भी तो एक बार पूछ लेना था? ऐसी कारस्तानी का पत्र भला राक्षस कभी लिख सकता है? कितना अन्धापन है! कितना अन्धेर है! तभी मैंने यह सुना तो चन्दनदास पर क्रोध आया; पर अब वह फँस गया है–उस पर तरस आता है। अच्छा फिर, आगे ? "

"आगे क्या? राजघात होने पर जब सब जगह हाहाकार होने लगा तो चन्दनदास घबरा गया। राक्षस की खोजने लगा तो चन्दनदास को वह कहीं मिला ही नहीं । दो-तीन दिन पश्चात् राक्षस ने उसे कहलवाया कि मेरी पत्नी और बच्चों को अपने घर ले जाओ। उसके ऐसा करने पर चन्द्रगुप्त उसके पीछे पड़ गया कि राक्षस की स्त्री और बच्चों को मेरे सुपुर्द करो तो मैं तुम्हें छोड़ दूँ। तुझ पर कोई आँच नहीं आने दूँगा, नहीं तो तेरा वध करवा दूँगा। चन्दनदास ने यह स्वीकार नहीं किया। उल्टे उन्हें कहीं छिपा दिया, और चन्द्रगुप्त को उसने स्पष्ट उत्तर दे दिया कि चाहो तो मेरा वध करवा दो, पर मैं उनका पता नहीं बताऊँगा।" वह दुष्ट कैसे क्षमा करता? उसने चन्दनदास के वध की आज्ञा दे दी। अब उसे वधस्तम्भ के पास ले जाया गया है। बहुत करके उसका वध हो गया होगा या अभी हो जायेगा। महाराज, अब मुझे अपने मित्र के पीछे जाने दीजिये।" यह सुनकर राक्षस अत्यन्त स्तब्ध होकर खड़ा रहा। उसकी समझ में कुछ आ ही नहीं रहा था, उसने केवल आत्महत्या करने वाले मनुष्य का हाथ पकड़ रखा था। अन्त में उसने मनुष्य से पूछा–"तुम्हारा नाम क्या है?"

उसने उत्तर दिया–"शकटदास"। तब राक्ष्स उससे पुनः बोला–"शकटदास जी, चन्दनदास ने राक्षस के स्त्री-बच्चों को कहाँ रखा है–आप जानते हैं? आप उसके मित्र हैं तभी पूछता हूँ।"

"नहीं, मैं उसका मित्र हूँ सही, परन्तु ऐसी गुप्त बात एक कान से दूसरे कान तक पहुँचते देर नहीं लगती, अत: उसने मुझे भी कुछ नहीं बताया है। यदि मुझे सचमुच ज्ञात होता तो अब तक कभी-का चन्द्रगुप्त को उनका पता बताकर मैंने चन्दनदास का छुटकारा करा लिया होता। जो मित्र अपना प्राण बचाने के लिए अपने मित्र की हत्या होने देता है उसे मित्र भी कैसे कहा जाये? पर, चन्दनदास ऐसा नहीं है।"

यह मर्मभेदी बात राक्षस को बड़ी बुरी लगी। कुछ देर चुप रहने के पश्चात् वह बोला–"मित्र! तुम व्यर्थ आत्महत्या मत करो। मुझे वधस्थान पर ले चलो। मैं तुम्हारे मित्र को छुड़वाता हूँ। अमात्य राक्षस–जिसके स्त्री और बच्चों के लिये चन्दनदास प्राण दे रहा है–मैं ही हूँ!"

यह सुनते ही शकटदास ने बड़ा आश्चर्य दिखाया।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

प्रतिज्ञा-भंग अथवा मित्र-वध?

शकटदास ने आश्चर्य ही नहीं, बल्कि अविश्वास भी दिखलाया। "महाराज और उनके कुल का विध्वंस करने का यन्त्र सफल हुआ। पर, आगे की परिस्थिति अपने काबू से बाहर देखकर, राक्षस पुष्पपुरी में बिल्कुल नहीं रह सकता, तब आपका कहना मुझे असम्भव जान पड़ता है।" जब शकटदास ने ऐसा कहा तो राक्षस को उसे विश्वास दिलाने के लिए कि "मैं ही राक्षस हूँ" कहना और उसे कितनी अनुनय करनी पड़ी–"भाई, आप सचमुच राक्षस ही हैं तो मैं आपको चन्दनदास के पास ले चलता हूँ। वह अभी जीता हो तो ठीक ही है। अपने को चन्द्रगुप्त के अधीन करके और अपने स्त्री और बच्चों को भी उसके सुपुर्द करके आप उसे छुड़ाइये। नहीं तो अपने मित्र के समान मैं भी निर्वाण-प्राप्त कर लूँगा। मैं उसके बिना नहीं रह सकता। भगवान् उसे और मुझे एक ही गति दे।"

शकटदास की यह बात सुनकर राक्षस उसके पीछे-पीछे चला। गंगा नदी के श्मशान घाट पर गया, जहाँ सचमुच ही चन्दनदास को अभी वध्य-चिह्नों से युक्त खड़ा किया गया था। राक्षस शकटदास के साथ वहाँ पहुँचा। उसके सर्वांग पर सिन्दूर लगा था, गले में माला पड़ी थी और एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनाया गया था। उसकी पत्नी और दस वर्ष का एक बालक भी वहाँ आये थे। स्त्री तो सती होने आई थी। पुत्र उनके अङ्ग से लगकर दीनवाणी से चिल्ला रहा था– "तुम लोगों ने ऐसा वेश क्यों बना रखा है, तुम कहाँ जा रहे हो?" कुछ भी करने पर वह रोये बिना नहीं रुकता था। वह दृश्य देखकर राक्षस अत्यन्त घबरा गया। उसका मित्र उसके लिए व्यर्थ मृत्यु पा रहा है, यही नहीं, उसकी पत्नी भी सती हो रही है; पर चन्दनदास अपने-आपको बचा सकने पर भी मेरे स्त्री-बच्चों के हेतु एक भी शब्द नहीं बोल रहा है। राक्षस वध करने वाले चांडालों में से एक से कुछ कहने ही वाला था कि उनमें से चन्दनदास से बोला– "श्रेष्ठिन्, आप अपने प्राण व्यर्थ क्यों गँवाते हैं? राक्षस की स्त्री और बच्चे कहाँ हैं, बता दीजिये। महाराज चन्द्रगुप्त बड़े दयालु हैं। ये उन स्त्री-बच्चों पर कोई आँच नहीं आने देंगे। केवल राक्षस को अपने हाथ में रखने के लिए उन्हें उन लोगों की आवश्यकता है।"

"चांडालो, राक्षस ने अपना कुटुम्ब मेरे अधीन किया। जब तक मैं जीता हूँ, उन्हें दूसरे किसी के सुपुर्द नहीं करूँगा। मित्र की इतनी निष्ठा सेवा न हो सकी, ती जी कर ही क्या करना है?"

राक्षस ने यह सुना तो उसे बड़ा बुरा लगा। मेरे मित्र की मेरे ऊपर इतनी निष्ठा है, फिर भी आज बिना कारण मैं उसकी मृत्यु का कारण हो रहा हूँ। उसका मित्र मुझे अचानक मिल गया और उसने मुझे सब हाल बताया–यह अच्छा हुआ। यह कहकर उसने एक लम्बी साँस ली और चाण्डालों के आगे आकर बोला– "अरे चाण्डालो, जिस मनुष्य की स्त्री और बच्चों के

लिए तुम इन श्रेष्ठिन् का वध कर रहे हो, वह तुम्हारे सामने खड़ा है? अत: इन्हें छोड़कर चाहो तो मेरा वध कर दो। उस दुष्ट चाणक्य और चन्द्रगुप्त के कुचक्र में जैसे सभी पड़ गये हैं वैसे ही ये भी पड़ गये, अत: इन्हें छोड़ दो। इनका किसी भी बात में कोई अपराध नहीं है।"

यह सुनते ही चाण्डाल राक्षस की ओर देखने लगे। चन्दनदास की पत्नी भी आश्चर्य से और आशापूर्ण नेत्रों से राक्षस की ओर देखने लगी; और चन्दनदास भी आश्चर्य की मुद्रा से उसकी ओर देखने लगा कि यह कैसे आ पहुँचा। आश्चर्य का क्षण जाते ही राक्षस से चांडाल लोग बोले–"आर्यश्रेष्ठ, चन्द्रगुप्त महाराज ने हमें केवल इतनी आज्ञा दी है कि यदि यह श्रेष्ठिन् अमात्य के कुटुम्ब का पता बता दे तो इन्हें छोड़ दो। जब तक यह हो नहीं जाता, हमें छोड़ने की आज्ञा नहीं है। अमात्यराज के आने पर सेठ चंदनदास छोड़ दिये जाएँ–जब हमें ऐसी आज्ञा नहीं है तो क्या करें? हे श्रेष्ठिन्! यदि आपको अपने प्राणों का मोह नहीं है, तो कोई उपाय नहीं है, पर यदि अब भी आपने आर्यश्रेष्ठ की पत्नी और पुत्रों का पता बता दिया तो अपने कुटुम्ब में जाकर सुख से रह सकेंगे। फिर अब क्यों नहीं बता देते?"

चन्दनदास ने उसके बोलने की ओर ध्यान दिये बिना अमात्य राक्षस से कहा– "अमात्यराज, आप मेरे मित्र हैं, अतएव आपके कहने को मैं टाल नहीं सकता। आपका पत्र आया और मैंने अपने घर में से खाई खोदने की अनुमति दे दी। आपने यह विचार क्यों किया है, मैं यह पूछने भी नहीं आया। वास्तव में पूछने आना चाहिए था, पर मैंने अन्धापन किया, उसका प्रायश्चित्त अब मैं भोग रहा हूँ। अब मुझे छुड़ाने के चक्कर में मत पड़ो। मैं आपके कान में आपके कुटुम्ब का पता बता देता हूँ–उन्हें सुरक्षित रूप में ले जाइये। आप यहाँ रहेंगे तो कौन जाने आप पर भी कोई विपत्ति आ पड़े। आपका सर्वनाश करने के हेतु ही ये सब परिस्थितियाँ एकाएक आ खड़ी हुई हैं। यदि मैंने आपसे आकर पूछा भर होता तो आप जाग्रत हो गये होते, परन्तु मैं अन्धा हो गया था–मैं मूर्ख बन गया था। न सोच-विचार किया, न आपको सूचना दी। उन्हें आज्ञा दे दी और उस भयंकर कुचक्र में फँसकर राजवंशघात में मदद दी। मेरे इस काम के लिये मुझे दण्ड मिलना चाहिये। अब कृपा कर अमात्यराज, मुझे यह प्रायश्चित्त-मृत्यु-दण्ड भोगने दीजिये।"

अमात्य को उसकी यह बातें सुनकर महान् आश्चर्य हुआ, परन्तु इस तरह से आश्चर्य करके बैठने का वह समय न था। अतएव वह चन्दनदास से बोला–"चन्दनदास, चाहे जो कुछ भी हो, पर तुम्हारे प्राण इतने सस्ते नहीं हैं। मैं तुम्हें जो कहता हूँ, उसके अनुसार करो। मेरी पत्नी कहाँ है, कह दो, फिर मैं तुम्हें उस उत्तरदायित्व से मुक्त कर देता हूँ। जब मैं प्रत्यक्ष रूप में घूम रहा हूँ और चन्द्रगुप्त मुझे कोई दण्ड नहीं देना चाहता तो मेरी पत्नी और बच्चों को लेकर वह क्या करेगा? चांडालों, इसे छोड़ो। मैं तुम्हें अपनी पत्नी और पुत्रों का पता देता हूँ, बस हुआ न?"

"अमात्यराज", चांडालों ने उत्तर दिया–"हम तो आज्ञा के दास हैं। चन्द्रगुप्त महाराज का हुक्म हो कि इन्हें छोड़ दो तभी हम छोड़ सकते हैं। नहीं तो हम कैसे छोड़ सकते हैं?"

"चन्द्रगुप्त कहाँ है? मैं उससे इन्हें छोड़ देने की आज्ञा लाता हूँ। तब तो तुम्हारा कुछ नहीं कहना है न?"

"फिर हमारा क्या कहना हो सकता है, अमात्यराज!"

"अरे, कैसा मैं अमात्यराज ? मेरी इस अन्धता के कारण मुझे तुम लोगों की भी आज इतनी अनुनय करनी पड़ रही है। हे कैलाशनाथ ! मुझ पर यह कैसा प्रसंग आ पड़ा है?"

अब राक्षस को यही नहीं सूझता था कि वह आगे क्या करे। अपने मित्र के प्राण बचाने के लिये सभी प्रयत्न करने चाहिये। जब यही बात है, तो मैं चन्द्रगुप्त से कह दूँ कि "मुझे जो कुछ करना हो, करो; पर चन्दनदास को छोड़ दो।" अब इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। तब उसने चंडालों से पुन: कहा–"सुगृहस्थो, इतना तो स्वीकार करो कि जब तक मैं और शकटदास चन्द्रगुप्त के पास जाकर आ नहीं जाते तब तक इन्हें आँच नहीं आने दोगे। मैं एक घण्टे के अन्दर ही इन्हें छुड़ाने की आज्ञा लाता हूँ।"

ऐसा कहकर वह शकटदास की ओर देखकर बोला–"चलिये, आपको दिये गये वचनानुसार हम आपके मित्र और उनकी पत्नी के प्राण बचाने के लिए चन्द्रगुप्त के पास चलें।"

"अमात्यराज", 'चन्द्रगुप्त महाराज'क्यों नहीं कहते? उन्हें महाराज न कहने से आपकी विनय वे कैसे मानेंगे?"

शकटदास की यह बात सुनकर राक्षस कुछ सन्तप्त हुआ और वैसे ही नेत्रों से शकटदास की ओर देखकर बोला– "क्या! चन्द्रगुप्त को–उस राजघाती नरपशु को मैं अपने मुँह से महाराज कह सकता हूँ?"

"हैं! हैं!! यह आप क्या कहते हैं? वे राज्यारूढ़ हुए, आपको बुरा भले ही लगा हो; पर बोल देने से तो कुछ बिगड़ नहीं जाता? ऐसा कह देने से आपका काम बन जायेगा या बिगड़ जायेगा?"

"कुछ भी हो, पर मैं अपने मुँह से उस नीच को 'महाराज' नहीं कह सकता।"

"तब आप यह कैसे आशा करते हैं कि वे चन्दनदास को सूली देने से मुक्त कर देंगे?"

"क्यों नहीं? जब मैं उसके सामने जा उपस्थित होऊँगा तो वह चन्दनदास को क्यों सूली देगा।" यह कह राक्षस बड़ा संतप्त दिखाई दिया।

तब शकटदास उससे धीरे-से बोला– "अमात्यराज, आपका यह संताप ऐसी जगह ठीक नहीं है। ऐसा संताप लेकर यदि आप चन्द्रगुप्त महाराज के पास जाएँगे तो हारने की ही अधिक संभावना है। इससे अच्छा तो यही है कि चन्दनदास को जो कुछ होता है, होने दीजिये और मैं भी अपने मित्र के पीछे-पीछे जाता हूँ।"

चन्दनदास के वध की बात सुनते ही राक्षस का सब सन्ताप अदृश्य हो गया। उसे यह याद आते ही न मालूम कैसा लगता था कि मेरे कारण जिसकी मृत्यु हो रही है, वह कितनी उत्सुकता से इसकी प्रतीक्षा कर रहा है। अन्त में उसने सोचा–जो होगा सो होगा ही; पर मैं एक बार जाकर चन्द्रगुप्त से विनती करूँ। ऐसा विचार करके वह प्रस्थान करने ही वाला था कि "चन्द्रगुप्त महाराज की जय"की ध्वनि उसके कानों में आने लगी और दूसरे क्षण चन्द्रगुप्त उसके समीप आ खड़ा हुआ। उसे देखते ही राक्षस की भृकुटी चढ़ गई और उसने उसकी ओर

से मुँह फेर लिया। चन्द्रगुप्त ने तो जैसे उसे देखा ही नहीं, चाण्डालों की ओर मुँह करके बोला– "क्यों रे, तुम लोगों ने इस राजघातकी को अब तक सूली नहीं दी ? तुम्हें क्या कहा जाये। चलो, मेरे देखते यह काम कर डालो। ऐसे भंयकर अपराधी को ऐसा दण्ड तुरन्त देना चाहिए।" चन्द्रगुप्त की बात समाप्त होते न होते एक चाण्डाल बोला–"हम अपना कर्तव्य करने ही जा रहे थे कि ये अमात्यराज यहाँ आ पहुँचे और बोले–"चन्दनदास को छोड़ देने की मैं महाराज से आज्ञा लाता हूँ, तब तक वध मत करो।"

"कौन, अमात्यराज ने यह कहा ? ठीक, ठीक ? वे यहाँ हैं?"

"हाँ! चन्द्रगुप्त हम यहीं हैं।" राक्षस आगे आकर बोला–"मेरी पत्नी और पुत्र तुम्हें चाहिये तो उपस्थित करता हूँ और मैं स्वयं तुम्हारे हस्तगत हूँ और क्या चाहिये?"

"अमात्यराज, राजशत्रु को राजघात में सहायता देने वाले मनुष्य को क्षमा करके छोड़ देने को कहते हैं! यह व्यापार करने वाला वणिक् अनेक बार म्लेच्छों के पास जाता है। यह पर्वतेश्वर की ओर मिल गया और अपने घर में से सुरंग खुदवाकर राजद्वार के सामने तोरण के नीचे इसने खाई खुदवाई। इतना सब करके कहता है कि अमात्य राक्षस ने मुझसे यह सब करवाया है। जिस तरह पर्वतेश्वर आपका नाम लेता है, उसी प्रकार यह भी आप पर आरोप लगता है। अतएव इसके यह करने से शंका होती है, क्योंकि यह पर्वतेश्वर से मिला हुआ है। आप इस कुचक्र में थे, यह मैं कैसे मान सकता हूँ। यह तो मैंने आपसे तभी कह दिया था। ऐसी बात होने पर इसे किस तरह जीता छोड़ दिया जाये। यही नहीं, इसने आपके कुटुम्ब का भी बुरा हाल किया होगा। जब वे लोग इसके पास थे, तो यह दिखाने के लिए कि आप म्लेच्छों से मिल गये हैं, कदाचित् इसने उन्हें म्लेच्छों के हाथ में दे दिया हो। हमें ऐसा सन्देह हुआ, तभी हम कहते हैं कि उन्हें हमारे हस्तगत करो।"

"छिः-छिः चन्द्रगुप्त! चन्दनदास से कहीं ऐसा हो सकता है; उनकी जगह मैं स्वयं को उपस्थित करता हूँ। जिस तरह मेरी मुद्रा से पत्र लिखकर पर्वतेश्वर को फँसाया गया, वैसे ही यह बेचारा भी फँसाया गया। आपसे मेरी विनती है कि इसे छोड़ दें।"

"अमात्यराज, यह आपकी विनती है क्या? मैं इसे आज्ञा समझता हूँ। पर..." चन्द्रगुप्त इतना कहकर रुक गया तो भागुरायण आगे बोला, "पर अब आप अपना पक्षाभिमान छोड़कर इस राज की धुरी पूर्वानुसार अपने हाथ में लें।"

"भागुरायण, जो मैं एक बार कह चुका, उसे बार-बार क्यों कहूँ? मैं तुम्हारे जैसे राजघातकों से आ मिलूँगा–यही तुम्हारी समझ है? मेरी प्रतिज्ञा क्या है, तुम्हें मालूम है न। उसका भंग कभी भी नहीं हो सकता?" भागुरायण यह सुनकर तुरन्त बोला–"फिर चन्दनदास की सूली की आज्ञा का भंग भी कैसे हो सकता है?"

"और फिर" शकटदास बीच में ही बोला– "मेरे मित्र का प्राणघात भी कैसे रुकेगा। उसकी पत्नी सती हो जायेगी और मैं भी वट वृक्ष के नीचे जाकर फाँसी लगा लूँगा। पर इतनी देर तक चन्दनदास की पत्नी और मुझे आपने आशा क्यों दी ?"

यह बात सुनते ही राक्षस रह गया। वह क्या कहे, उसकी समझ में ही न आया।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

राक्षस का निश्चय

शकटदास की बात राक्षस के हृदय में बरछों के समान चुभ गई। चन्दनदास को छुड़ाने की प्रतिज्ञा करके वह उसे यथास्थान लाया था। वह समझता था कि चन्दनदास से पता पूछने के बाद वह अपनी स्त्री और बच्चों को शत्रु के अधीन कर देगा, तब वे चन्दनदास को छोड़ देंगे। यही समझकर वह शकटदास को लाया था। पर, यहाँ आने पर देखा कि इस योजना का कोई उपयोग नहीं है। चन्दनदास एक भी बात सुनता ही न था और भागुरायण आदि का भी विचित्र ही रुख दिखाई दिया। अतएव ऐसी स्थिति में उसे कुछ सुझाई ही न पड़ता था। इस समय यदि मैं चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठने दूँ, उसे महाराज कहूँ और उसका मन्त्री बनूँ तभी वह चन्दनदास को छोड़ेगा, नहीं तो मेरे एकनिष्ठ मित्र–नहीं भक्त को–सूली देगा और उसके सूली पर चढ़ने के बाद उसकी पत्नी भी सती हो जायेगी। यह सब वध किसके लिये? ऐसा वध मैं कैसे होने दूँ? वध होने की बात भी तो मन में नहीं आती। कैसे आयेगी? भागुरायण का बताया हुआ उपाय ही चन्द्रगुप्त को मान्य होगा। भाई, अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर मैं नन्द-वंशघाती की सेवा करने लगूँ तब सब ठीक हो जायेगा। मित्र-वध को रोकने के लिए मैं सपरिवार मरने को तैयार हूँ, पर इससे भी इन लोगों की आत्मा शान्त होती नहीं दीखती। ये लोग मुझे अपना सेवक बनाने की इच्छा रखते हैं क्या? नहीं तो मुझे मन्त्री बनाने का क्या उपयोग है? मैं अन्धा हो गया, मेरी आँखों के सामने ये सब व्यूह रखे और सफल बनाये गये। पर, जन्मान्ध के समान मैं अँधेरे में ही रहा। अब मेरे मन्त्री-पद स्वीकार करने में ही क्या मान है? लोगों में भी अब मेरा क्या मान रह गया है ? कितनों को तो पक्का विश्वास हो गया है कि मेरे हाथों ही नन्द-वंश का समूल नाश हुआ है। कितने लोग तो समझते हैं कि कुचक्र रचकर मैं महाराज के सवारी के पास से चला गया, क्योंकि वहाँ रहना सुरक्षित न था। अब अपकीर्ति होने में बाकी ही क्या रहा है! जो कलङ्क लगने की था, लग ही चुका है। अब अपने मित्र को वध से बचाने के लिए उन नीचों की सेवा स्वीकार करके नन्दवंश का साथ छोड़ दूँ? यह त्रिकाल में भी मेरे हाथ से होगा क्या? जिन लोगों ने नन्दवंश को इस तरह मारा, जिस तरह वधिक बकरी को मारते हैं, वे चन्दनदास पर दया कैसे करेंगे? इसे भी मारकर रहेंगे। पर इसे टालने का दूसरा उपाय ही क्या है? अतएव भागुरायण के कथनानुसार चलने से ही यह संकट दूर होगा, अन्यथा नहीं। परन्तु नन्दवंश का घात करने वाले नीचों की सेवा न करने की जो प्रतिज्ञा मैंने की है, उसे छोड़ दूँ? एक ओर मित्रवध हो रहा है, दूसरी ओर प्रतिज्ञा टूट रही है। दो में कौन-सा काम करूँ ? मित्र का वध होना इन चांडालों की सेवा करने की अपेक्षा अच्छा है। ऐसे अनेक विचार करते-करते राक्षस ने निश्चय किया कि अपनी बात रखने के लिये चन्दनदास और

उसकी पत्नी का भी वध मैं होने दूँगा। मैं अपनी प्रतिज्ञा-भंग करूँ तो ही यह प्रसंग टल सकता है, अन्यथा नहीं। पर, प्रतिज्ञा का तोड़ना मुझे इष्ट नहीं है। ऐसा निश्चय करके राक्षस चन्दनदास के पास पहुँचकर बोला–"तुम्हारा संकट टालने के लिये मैं अपने ऊपर प्रत्येक संकट ले लेता, पर राजद्रोही, राजघाती लोगों की सेवा स्वीकार किये बिना यह संकट टल नहीं सकता, अतएव इसका कोई उपाय नहीं है। अत: भगवान् कैलाशनाथ का स्मरण करके मृत्यु का आलिंगन करो। दूसरी बात मैं क्या कह सकता हूँ। न मालूम इन राजघाती लोगों के फन्दे में तुम कैसे पड़ गये? अपने घर में से सुरंग खोदने की तुमने अनुमति दी अत: तुम्हें भी उसका थोड़ा-सा प्रायश्चित्त मिल रहा है–यही मेरा कहना है।"

राक्षस की यह बात सुनकर भागुरायण और चन्द्रगुप्त दोनों ही आश्चर्यचकित हो गए। वे समझते थे कि अपने स्त्री और बच्चों के लिए चन्दनदास का मरना देखकर राक्षस को सचमुच बुरा लगेगा और यह, हम जो भी कहेंगे, स्वीकार कर लेगा। पर, अब अपने अनुमान को इस तरह ग़लत होते देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ। उन्हें स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगा कि राक्षस को अब किसी भी दशा में अपनी ओर नहीं मिलाया जा सकता। आर्य चाणक्य ने अब तक राक्षस को अपनी और मिलाने के अनेक प्रयत्न किये; पर सब असफल रहे। यह अपने से मिला नहीं, तो बाहर जाकर उत्पात मचायेगा। अतः अब यही उपाय है कि उसे पुष्पपुरी से बाहर न जाने दिया जाये। राक्षस के बाहर जाने का अर्थ होगा उसका मगध के शत्रुओं से मिलकर मगध पर आक्रमण करना। पर्वतेश्वर से मिलकर इसने नन्दवंश का नाश किया, यह बात फैलाना जितना सरल है जितना जनता के समक्ष उसका न्याय करके दण्ड देना सरल नहीं है। चन्द्रगुप्त आदि जानते थे कि बात को बहुत बढ़ा देने से कहीं हमारी कलई किसी रूप में न खुल जाये। चाणक्य भी राक्षस की योग्यता जानता था। उसने पुरानी बातों को भूलकर यदि एक बार भी चन्द्रगुप्त को मगधराज मान लिया तो कभी नहीं बदलेगा, और अब इन सब प्रसंगों के बाद शिथिल भी नहीं रहेगा। चाणक्य की अपनी इच्छा मगध में रहने की तनिक भी न थी, चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बैठाकर उसका मन्त्रित्व स्वीकार करना चाणक्य की महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। उसकी दो इच्छायें थीं–एक पाटलिपुत्र आने के पहले तक्षशिला नगर में यवनों-द्वारा आर्यों पर हुआ अत्याचार उसे बड़ा बुरा लगा था; तक्षशिला से यवनों को भगाकर आर्यों का राज्य स्थापित करने के लिए वह नन्द के पास आया था; पर उसने उसका अपमान किया, अतएव चाणक्य ने मन में ठान लिया कि वह नन्दवंश का नाश करके रहेगा। यह काम तो सर्वथा पूरा हो गया। दूसरा काम यदि राक्षस चाहे तो हो सकता है। मन्त्री होने के लिए राक्षस में सभी गुण विद्यमान हैं, यह बात चाणक्य पूर्ण रूप से जानता था और तभी तो उसकी इच्छा थी कि राक्षस चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद स्वीकार करे। चाणक्य का निश्चय अटल होता था–इसे पाठकों को बताने की आश्वयकता नहीं है। उसने राक्षस के हृदय-परिवर्तन के लिये अनेक यत्न किये, यद्यपि वह स्वयं राक्षस से दूर रहा। एक बार भागुरायण को भेजकर देखा। चन्दनदास का वध हो रहा है–राक्षस को यह भी जनाया गया–पर, इस उपाय से भी कार्यसिद्धि न हुई।

राक्षस चन्दनदास का मरना भी देखने को तैयार है–यह देखते ही चन्द्रगुप्त और भागुरायण आगे के कार्यक्रम के बारे में अर्थपूर्ण दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखने लगे। पर, उनके इस प्रकार देखने का अर्थ राक्षस की समझ में नहीं आया। थोड़ा समय बीता, चन्द्रगुप्त

ने चांडालों को रुकने को इङ्गित करके कहा–"चांडालो, तुम अपना नृशंस काम मत करो। जब प्रत्यक्ष अमात्यराज यहाँ विद्यमान हैं तो उनकी पत्नी और बच्चों के लिए इस श्रेष्ठी का प्राण लेना हमें उचित नहीं जँचता। अतएव या तो इसे कारागृह में रखो या छोड़ ही दो।" चांडालों से इतना कहकर चन्द्रगुप्त चन्दनदास की ओर मुड़ा और बोला–"चन्दनदास, अब तुम निश्चिन्त होकर जाओ। पर, पाटलिपुत्र छोड़कर कहीं न जाना, कदाचित् तुम्हारी आवश्यकता पड़ जाये।"

इतना कहकर राक्षस की ओर देखे बिना चन्द्रगुप्त भागुरायण को लेकर चलता बना। राक्षस पर दृष्टि रखने के लिए दूसरे लोग तो थे ही । चन्द्रगुप्त के चले जाने के बाद चांडालों ने चन्दनदास को छोड़ दिया। छूटते ही उसने राक्षस का पैर कसकर पकड़ लिया और बोला–"आपके यहाँ आने से ही मुझे मुक्ति मिली। नहीं तो आज मैं सचमुच स्वर्गलोक जा रहा था। आगे क्या होने वाला है, इसका मुझे कुछ भी अनुमान न था और मैं ऐसा मूर्ख निकला कि आपका पत्र, जिसमें आपने मेरे मकान में से सुरंग खुदवाने को लिखा था, मिलने पर बिना कुछ सोचे-समझे और आपसे मिले ही उसके खोदे जाने की आज्ञा दे दी। कृपा करके आप मेरे घर चलिये। अमात्य-पत्नी आपके विषय में बड़ी चिन्तित हैं। उन्हें भी वहीं लाता हूँ।"

राक्षस को चन्दनदास की बात सुनकर न मालूम कैसा लगा। उसमें झूठ की शंका हुई। पर, चन्दनदास और राक्षस में इतनी मैत्री थी कि उसे यह सम्भव नहीं जान पड़ा कि चन्दनदास चाणक्य से मिलकर मुझे फँसायेगा। यहीं पर मुझसे सच-झूठ पूछने पर यह कदाचित् सँभल जाये, इससे अच्छा तो यह है कि इसके घर चलकर धीरे-धीरे इससे सब बात स्पष्ट कहलवा लूँ। ऐसा विचार करके राक्षस ने उसके साथ प्रस्थान किया।

राक्षस को अब पूर्णरूप से विश्वास हो गया कि ये दुष्ट जनता में मेरी कितनी ही बदनामी करें, पर मुझे कारागृह में डालने या न्याय का ढोंग रचकर दण्ड देने का इनमें साहस नहीं है। अत: यहीं रहकर मुझे यह जानना चाहिए कि वास्तविक बात क्या है, और किन-किन लोगों ने मिलकर कुचक्र रचाकर अपना दाँव साधा है। वह जानता था कि लोगों में मेरे प्रति बुरी भावना पैदा हो गई है, अत: उनके पास मुझे नहीं जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी जानता था कि मेरे प्रत्येक काम पर चाणक्य की दृष्टि होगी। पर, उसके यह जानने की उत्सुकता बढ़ गई थी कि मैं ऐसा अन्धा क्यों हो गया; इसीलिए उससे पाटलिपुत्र छोड़ते नहीं बनता था। अब चन्दनदास के घर पहुँचकर उसने सब बातों का पता लगाने का निश्चय किया।

प्रथमत: उसने इस बात का विचार प्रारम्भ किया कि यह इतना भयंकर षड्यन्त्र मुझे कुछ भी मालूम हुए बिना कैसे सफल हो गया? जब कई षड्यंत्रों के सहयोग से यह भयानक षड्यन्त्र रचा गया, तो वे षड्यन्त्र कैसे रचे गये? पर्वतेश्वर के दिखाये हुए पत्र पर खास मेरी मुद्रा है, अर्थात् मेरा मुद्राघर हिरण्यगुप्त–जिसे मैं अत्यन्त विश्वासपात्र समझता हूँ–मेरे शत्रुओं से मिल गया। नहीं तो मेरी मुद्रा का किसी के हाथ में जाना सम्भव नहीं है। यदि हिरण्यगुप्त प्रत्यक्ष रूप में उनसे नहीं मिला तो लापरवाही से उसने मुद्रा को कहीं रख दिया होगा और वह किसी दूसरे के हाथ में चली गई होगी। परन्तु षड्यन्त्र रचने वालों ने ही मुद्रा

हथियाने पर षड्यन्त्र किया होगा। मुद्रा पाकर जाली पत्र तैयार करना ही उनका मुख्य ध्येय था और उसी पत्र के द्वारा उन दुष्टों ने पर्वतेश्वर को बुलाने का काम साधा–तब हिरण्यगुप्त की लापरवाही से मुद्रा का शत्रुओं के हाथ जाना सम्भव नहीं। पत्र लिखने के लिये दुष्टों ने या तो हिरण्यगुप्त को अपनी ओर मिलाया होगा अथवा किसी दूसरे के द्वारा हिरण्यगुप्त के पास से चुरा मँगवाया होगा। पर मुद्रा चोरी नहीं की जा सकती, कारण, जब-जब मुझे उसकी आश्वयकता पड़ी, वह हिरण्यगुप्त के पास थी। निदान, मुद्रा तब-तब चुराई जा सकती थी जब-जब दुष्टों को उसकी आश्वयकता पड़ी। पर, बहुत करके हिरण्यगुप्त को अपनी ओर मिलाकर दुष्टों ने जब आश्वयकता पड़ी तब उसका उपयोग किया। इस तरह से यदि हिरण्यगुप्त को फोड़ लिया हो तो भी आश्चर्य नहीं। हिरण्यगुप्त को फोड़ने का अर्थ मेरी एक आँख का फोड़ देना है। तब मैं स्वयं यदि अन्धा हो गया, तो क्या आश्चर्य है। किन्तु हिरण्यगुप्त को किस बात का लोभ देकर अपनी ओर मिलाया होगा? द्रव्य की आशा से? यह असम्भव है। तब किस वस्तु के मोह में यह पड़ गया? स्त्री-मोह में तो नहीं? पर, कैसी स्त्री ?

यह प्रश्न खड़ा होते ही राक्षस स्तब्ध हो गया। कुछ देर बाद ताली बजाते हुए दीर्घ साँस लेकर बोला–“शाबाश ! शत्रुओ! ऐसा जो होगा, तो सचमुच तुम्हारी शाबाशी है। जिस दुष्टा को मैंने मुरा के महल में अपनी गुप्तचरनी बनाकर रखा था उसके द्वारा ही तुम लोगों ने हिरण्यगुप्त को अपनी ओर मिलाया होगा। तुम लोगों ने मेरा शस्त्र मेरे ही कलेजे में भोंक दिया; इसमें अणुमात्र भी शंका नहीं है। इतना सब कुछ हुआ; पर राजघात का क्या बदला मिल गया?

राक्षस को अपना यह विचार करते छोड़कर अब हम चाणक्य की ओर मुड़ते हैं।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

चाणक्य का विचार

चाणक्य की यह आशा कि राक्षस मित्रवध टालने के लिए अपना कहना मान लेगा और चन्द्रगुप्त को मगध का राजा मानकर उसका मन्त्रित्व स्वीकार कर लेगा, समूल नष्ट हो गई। उसे स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा कि उसकी सत्यनिष्ठा और नन्द-कुल की भक्ति के आगे अपनी नीति-निपुणता अथवा कौशल काम न आयेगा और अब आगे क्या किया जाये, इसके बारे में उसका मन बहुत उलझ गया। राक्षस को कहीं जाने देना ठीक नहीं है। यदि यह कहीं चला गया तो किसी सहायता से चन्द्रगुप्त को उलटने का प्रयत्न करने से नहीं चूकेगा। नव नन्दों को मारकर मैंने पृथ्वी निर्नन्द नहीं कर दी। चन्द्रगुप्त को हटाकर यदि मगध पर नन्द का पुनः राज्य करवाना है तो उसे खोजने पर कोई-न-कोई नन्द-नामधारी कुमार या वृद्ध मिल ही जायेगा और पराजय से कुपित राक्षस मौके से लाभ उठाने में नहीं चूकेगा। तब उसे पुन: पूर्वस्थान पर लाने के लिए क्या किया जाये? अब तक का सभी उपाय-योजना व्यर्थ गई।"पर्वतेश्वर तुम्हारे पत्र दिखाता है और अब तक जो कुछ हुआ है उससे सहज ही लोगों की समझ हो गई है कि नन्द को इस तरह मारने वाले तुम्हीं हो। पर्वतेश्वर ने लुच्चों को अपनी ओर मिलाकर उनके घर में से सुरंग ले जाकर खाई खुदवाई और अब उन लोगों का नाम छिपाकर राक्षस जैसे पापभीरु और नन्दनिष्ठ अमात्य का नाम लेता है, इसमें ज़रा भी तथ्यांश नहीं है। उन पर अभियोग लगाकर न्याय किया जायेगा और नगरवासियों में जो दुर्भावना तुम्हारे प्रति है, वह नष्ट हो जायेगी। पर यदि तुम हमारे अनुकूल हुये तभी यह सब करेंगे, नहीं तो लोकापवाद बढ़ाने की व्यवस्था कर देंगे अथवा तुम्हारे प्रति लोगों का विद्वेष और भी भड़का देंगे।" राक्षस को ऐसी धमकी भी दी। पर वह इन धमकी से तनिक भी न डरा, अपना ही हठ लिये बैठा है, अपने प्राण पर संकट नहीं आया; तो अपने स्नेह-पात्र के प्राणों पर संकट आ पड़ा है, उसे दूर करना हो तो चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद स्वीकार करो, यही एक साधन है। इस बात की परीक्षा भी ले ली। पर वह कहता है कि भले ही मित्र-वध हो जाये, पर मैं नन्दवंश का नाश करने वाले नीचों की सेवा कभी नहीं स्वीकार करूँगा, न ही उसे मगध का राजा मानूँगा। शाबाश; राक्षस, शाबाश ! तू भले ही नीतिनिष्ठ न हो, पर सत्यनिष्ठा और सन्निष्ठा तेरे भाग्य में पूर्णरूप से पड़ी है। तेरे देखते तेरा मित्र तेरे साथ मर रहा था, स्त्री सती होने जा रही थी, ऐसी स्थिति में भी तू अपनी स्वामिनिष्ठा नहीं छोड़ता। स्वामिघात करने वालों की सेवा भी स्वीकार नहीं करता। कोई दूसरा होता तो अब तक कभी का ही विरोधी पक्ष में शामिल हो गया होता, परन्तु यह तेरा काम नहीं है। यह जानकर ही मैंने तुझे चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने का प्रण किया है। भागुरायण की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत करके उसे तेरे विरोध में खड़ा किया। तुम और वह तो एक समान पदाधिकारी हो, पर क्या कारण है कि नन्द राक्षस को इतना श्रेष्ठ मानता है, तुम्हें उतना

नहीं मानता था। ऐसा बार-बार कहकर और सेनापति का महत्त्व समझाकर उसका मन विद्रोह करने के लिये तैयार किया और वह मेरे फाँस में आ भी गया। अतएव उसके समान मनुष्य को मन्त्री बनाने से क्या लाभ? उसकी उतनी ही कीमत है। सचिव तो राक्षस को ही बनाना चाहिए, पर यह काम कैसे किया जाये? अब तक की सभी युक्तियाँ असफल रहीं। राक्षस का निश्चय बदलना सम्भव नहीं दिखाई देता। उसके मत से चन्द्रगुप्त अत्यन्त नीच कुल का है। वही नन्द को मारकर सिंहासन पर बैठा है। तब कैसे उसकी सेवा करूँ, कैसे उसे अपना स्वामी मानूँ। अच्छा, यदि राक्षस को छोड़ दिया और उसे उसके मन के अनुसार चलने दिया तो ? वह चुप बैठेगा? वह चुप नहीं बैठेगा। वह मलयकेतु से जा मिलेगा। मलयकेतु अकेला मगध पर आक्रमण नहीं करेगा। उसे भी किसी की सहायता की जरूरत होगी। आज ऐसी सहायता देने वाला एक ही मनुष्य है। वह है यवनों का सेनापति सेल्यूकस। सेल्यूकस और मलयकेतु के मिल जाने से तो विशेष डर नहीं है। पर राक्षस के समान मन्त्री जिसकी ओर मिल जायेगा, यदि सब प्रजा नहीं तो कुछ प्रजाजन तो अवश्य उससे मिल जाएँगे। अब यह भी टालना है। हमारे मगध के भीतर किसी तरह का अन्तर्कलह नहीं होना चाहिये। इस समय तो उसे टालना ही है। जब तक मैं हूँ किसी से भी मिलकर सफलता-प्राप्ति की आशा पर मैं कब तक यहाँ बैठा रहूँगा। चन्द्रगुप्त के राज्य की उक्त व्यवस्था के लिए राक्षस-जैसा मंत्री ही चाहिए। यह किसी भी युक्ति से मन्त्री बनने को तैयार नहीं होता। मैंने अनेक प्रयत्न किये कि वह एक बार चन्द्रगुप्त को मगधराज मान ले, उसके मित्र को मृत्यु के दरवाज़े पर खड़ा करके कहा कि यदि तुम इसे जीवित चाहते हो तो हमारे अनुकूल हो जाओ; पर जो 'मुझे ही सूली दो, मेरी पत्नी और बच्चों को सूली दो, अथवा कैद कर लो' कहने को तैयार हो गया, वह क्या अपने मित्र को सूली पर से उतारने के लिए अपनी प्रतिज्ञा भंग करेगा? यह सब व्यर्थ है। इस तरह के सभी षड्यन्त्र व्यर्थ हैं। अब मैं स्वयं उससे एकांत में मिलूँ और उसे सब स्थिति का ज्ञान कराकर देखूँ कि वह क्या कहता है? नहीं तो व्यर्थ समय नष्ट करने से कुछ भी हाथ न लगेगा। उसके आदमियों को फोड़ना सरल था। किसी को महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत मिलाया, किसी को द्रव्य से अपनी ओर मिलाया, किसी को स्त्री-मोह से फँसाया, किसी के भोलेपन का लाभ लेकर फँसाया। सारांश यह कि बड़े-बड़े पदवीधारी और योग्य पुरुषों को, उनकी मानसिक दुर्बलता का पता लगाकर, उन पर योग्य औषधि का प्रयोग करके अपना काम निकाला। पर राक्षस में कोई मानसिक कमज़ोरी नहीं है। राक्षस के आदमियों को फँसाना दूसरी बात थी; आत्मविश्वास में अंधे हुए राक्षस को फँसा दूसरी बात थी, अब राक्षस ने आँखें खोल दी हैं, वह जान गया है कि वह अपने अंधेपन के कारण फँस गया था, तभी यह विलक्षण राज्यक्रांति आ गई। आँखें खोलकर देखने वाले राक्षस को फँसाना सहज नहीं है। साम, दाम, दण्ड, भेद में दाम, दण्ड और भेद–इन तीनों का प्रयोग असफल रहा। वह यदि पिघल सकता है तो केवल साम-प्रयोग से। यह साम-प्रयोग करना मेरे अलावा दूसरे से सम्भव नहीं है। अतएव अब मुझे स्वयं को आगे बढ़ना चाहिए। उसकी सत्यनिष्ठा के आगे मेरी वक्रनीति का कोई प्रयोग नहीं होगा। उसकी सरलता के आगे मेरी कुटिलता अत्यन्त निर्बल है। मेरी कुटिलता भला क्यों निर्बल है? जहाँ कौटिल्य का उपयोग हो सकता है वहाँ कुटिलता, जहाँ सरलता की जरूरत होती है वहाँ सरलता का उपयोग हो सकता है। चारों ओर दृष्टि करके

चलना पड़ता है। आज एक साधन तो कल दूसरा, परसों तीसरा। जो साधन जिस समय योग्य होता है उसका उपयोग उसी समय कर लेना चाहिये। यही जब मेरी नीति है तो इस समय ही क्यों न उसका उपयोग कर लूँ? मैं राक्षस से भेंट करूँ। अत्यन्त सरलता से पेश आऊँ। उसके अन्दर नन्दवंशाभिमान जाग्रत करके अपना काम निकाल लूँ। मगध देश पर आक्रमण का भय है, यदि उसका निवारण इसी समय न किया गया तो मगध रसातल को चला जायेगा। यवन इसे पदाक्रांत कर देंगे–उसके मन को ऐसी बातें कहकर देशभक्ति का ज़ोर भरे बिना छोड़ूँगा नहीं। चाणक्य जो प्रतिज्ञा करेगा, उसे पूरा किये बिना नहीं रहेगा। चाणक्य की दृष्टि लक्ष्य पर है, मार्ग पर नहीं। यदि राक्षस से भिक्षा माँगने की–उसके सामने अपना दुपट्टा फैलाने की आश्वयकता हुई तब भी हर्ज नहीं है। मुझे कार्य सिद्ध करना ही है। यदि चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर सुप्रतिष्ठित करना है तो राक्षस की सहायता की आवश्यकता है। यदि उसने एक बार–केवल एक बार मन्त्रिपद स्वीकार कर लिया तो वह पीछे हटने का नहीं है...।

इतना विचार मन में आने के बाद यकायक उसके मन में नया ही विचार आया। यह विचार आते ही उसके चेहरे पर संतोष दिखाई देने लगा। उसे लगा कि विचार अच्छा है। यह विचार राक्षस से मैं न कहकर स्वयं चन्द्रगुप्त से कहलवाऊँ। पर कैसे? हमारी ओर उसकी मन-मुटौवल रची जाये। यह बनावटी झगड़ा राक्षस के कान तक भी पहुँचेगा। ऐसा होने पर चन्द्रगुप्त मेरा तिरस्कार करके राक्षस को अपने पक्ष में बुलाये। नन्द को मारने में न मेरा हाथ था, न भागुरायण का। चाणक्य ने यह षड्यन्त्र अन्त तक हससे छिपा रखा। तब तक धनानन्द को बंदी करने भर की बात पक्की हुई थी; पर अन्त में कुछ गड़बड़ करके बिना हमारी जानकारी के चाणक्य ने भयंकर राजघात किया। तब चन्द्रगुप्त के यह कहने पर कि यह पुरानी बातों को भूलकर अब आप मुझे सहयोग दीजिए–राक्षस फँस जायेगा क्या? शायद फँस जाये और शायद न भी फँसे । तुझे जब इतना पश्चात्ताप हो रहा है। राज-हत्या करने की बात भी नहीं थी, तो अब राज-हत्या से पाया हुआ यह सिंहासन और राज-लोभ छोड़ दे। हम किसी नन्द को लायेंगे। नहीं तो वन में तपस्या के हेतु गये नन्दराजा को लाकर राज-सिंहासन पर बैठाकर नन्दवंश जाग्रत रखेंगे। यदि राक्षस ने ऐसा कहा तो चन्द्रगुप्त क्या उत्तर देगा? यह कुछ नहीं। किसी भी तरह की चाल चलने पर अब राक्षस फँसने का नहीं। उसकी स्वामिनिष्ठा और देशभक्ति से ही भरपूर लाभ उठाकर अपना पक्ष बनाना चाहिए। यह कैसे किया जाये? अब जाली पत्र की अफवाहें उड़ाकर राक्षस को वश में नहीं किया जा सकता। अब कोई नई चाल ही चलनी पड़ेगी। ऐसा जानकर चाणक्य और भी सोच-विचार में पड़ गया।

पर चाणक्य को वैसी स्थिति में अधिक देर तक बैठने की जरूरत नहीं पड़ी। जो होनहार प्रतीत होता था यह हो गया। पर्वतेश्वर को लाकर बन्दीगृह में रखने पर उसका पुत्र मलयकेतु बड़ा संतापित हुआ। उसका पहला निश्चय मगध पर आक्रमण करने का हुआ। पर, अकेले हमला करने में अपनी जीत पर उसे ज़रा शंका हुई। अतएव उसके मन में आया कि किसी दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति की सहायता से मगध पर आक्रमण किया जाये। पीछे यह कहा जा चुका है कि पर्वतेश्वर ग्रीक यवनों के अधीन राजा था। ऐसे समय में उसका अपने

साम्राज्याधिपति से सहायता के लिए याचना करना स्वाभाविक ही था। ऐसा समझकर मलयकेतु ने सिकन्दर बादशाह के प्रतिनिधि सेल्यूकस के पास पत्र भेजा और उसमें नन्द की हत्या और हत्या के समय अपने पिता को धोखा देकर ले जाने आदि का हाल लिख दिया। अन्त में उसने लिखा था कि ऐसे प्रसंग पर आप ससैन्य आकर सहायता करें जिससे हम उन राजहत्यारों से अच्छा बदला ले सकें।

सेल्यूकस भी ऐसे ही अवसरों की ताक में रहता था। उसे अपना यवनराज्य बढ़ाने की बड़ी लालसा थी। पर, वह जानता था कि जब तक राक्षस मगध का मन्त्री है तब तक मेरी दाल नहीं गलेगी। इसीलिये चुपचाप बैठा था।

जिस तरह सिकन्दर की महत्त्वाकांक्षा थी कि सारा जगत् मेरे पैरों-तले रौंद उठे उसी तरह सेल्यूकस की महत्त्वाकांक्षा आर्यावर्त और गङ्गा नदी के उस ओर मगधादि देशों को जीतकर चारों ओर ग्रीकों का राज्य फैलाने की थी। वह चाहता था–सारे आर्य लोग उसके दास हो जाएँ।

सिकन्दर ने जिन-जिन देशों में पैर रखा वहाँ-वहाँ उसे बड़ी सफलता मिली। केवल नन्द-राज्य पर हमला करते हुए वह झिझक रहा था। सिकन्दर ने प्रयत्न कर देखा था, पर अनेक कारणों से उसकी जीत न हो सकी। सेल्यूकस का मन था कि इस मामले में वह सिकन्दर से भी आगे बढ़ जाये। उसका मन था कि मगध का राज्य जीतकर पाटलिपुत्र ग्रीक यवनों की राजधानी बनाई जाये। अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए यह उपयुक्त अवसर मिला है। पर्वतेश्वर को कैद कर लेने से मलयकेतु चिढ़ा हुआ है, वह अपनी सभी सेना के साथ मदद करेगा, अब मैं ग्रीक, गांधार, पंजाब आदि की सेना और हाथी एकत्र करके मगधराज को पराजित कर सकता हूँ। ऐसा मन में सोचकर उसने चढ़ाई करने के लिए अपनी कमर कसी। उसने और मलयकेतु ने बैठकर परामर्श किया। उन्होंने पहले इस बात पर सोच-विचार किया कि आक्रमण एकाएक कर दिया जाये अथवा चन्द्रगुप्त को पत्र लिखकर धमकी दी जाये कि पर्वतेश्वर को छोड़ दो, नहीं तो हम तुम्हारा राज्य नष्ट करने आ रहे हैं। सेल्यूकस का विचार था कि तुरन्त ही हमला कर दिया जाये तो विजय में कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि वहाँ के लोग भी असन्तुष्ट हैं। मलयकेतु को डर था कि अचानक आक्रमण कर देने से शायद चिढ़कर चन्द्रगुप्त पर्वतेश्वर को मरवा डाले। यह न करके पिता के आ जाने पर भी यदि हमला करना हो तो किया जाये। सेल्यूकस बोला–"मलयकेतु! तुम ठीक कह रहे हो; पर यह अवसर हाथ से नहीं जाने देना है। अपना पत्र पहुँचते ही ये एक प्रकार से जग जाएँगे और सब एकत्रित होकर युद्ध के लिए तैयार हो जाएँगे।"

"यह ठीक है", मलयकेतु ने भी उत्तर दिया,"पर अचानक हमला करने से यदि उन्होंने मेरे पूज्य पिता की जान ही ले ली, तो हमारे जाने का उपयोग ही क्या होगा। यदि उन्होंने मेरे पिता को लौटा भी दिया तो पितृवासघात करके आक्रमण करने में ही क्या बाधा है? अपना काम साधने के लिये युक्ति खोज निकालना ही तो नीति है।"

इस प्रकार के विचार-विमर्श के बाद यह निश्चय हुआ कि मलयकेतु अपनी ओर से एक चतुर दूत मगधराज के पास भेजे। वह पर्वतेश्वर की मुक्ति के लिए कहे और यदि चन्द्रगुप्त अस्वीकार करे तो मगध पर आक्रमण किया जाये। ऐसा निश्चय होने पर कुछ यवनों के साथ

शाकलायन नाम के ब्राह्मण को मलयकेतु ने मगध भेजा। शाकलायन को कह दिया था कि राजसभा में दूत बनकर जाने के अतिरिक्त तुम्हें यह भी देखना पड़ेगा कि वहाँ प्रजा के मन की क्या स्थिति है और हमें कोई अपने अनुकूल मिल सकता है अथवा नहीं।

शाकलायन रास्ते में कहीं भी अधिक देर तक रुके बिना पुष्पपुरी पहुँचा। पर वह एकाएक अन्दर प्रवेश न कर सका। चन्द्रगुप्त की कड़ी आज्ञा थी कि कोई भी नया व्यक्ति पुष्पपुरी से बाहर जाने लगे अथवा भीतर आना चाहे तो उसे रोककर उसके आने का ध्येय चन्द्रगुप्त को बताया जाये और तभी आज्ञा मिलने पर उसे आने दिया जा सके। शाकलायन को मगधराज से ही काम था। तब उसे अपना काम और आने का स्थान बताने में कोई हर्ज़ न था। चन्द्रगुप्त के पास समाचार पहुँचने पर उसे अन्दर जाने की आज्ञा मिल गई।

शाकलायन ने अन्दर जाकर किस तरह से दूत का काम किया और उसके साथ ही दूसरा काम भी साधता रहा, इसका विवरण पाठकों को अगले परिच्छेद में मिलेगा।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

नाईराम

शाकलायन कुछ कम चतुर ब्राह्मण न था। वह सेल्यूकस और मलयकेतु का दूत बनकर आया था। पर, उसका विचार दूत का ही काम करके लौट जाने को न था। धनानन्द और उसके कुल को नष्ट करके सिंहासन पर बैठने वाले चन्द्रगुप्त के प्रति वह लोकमत जानना चाहता था, अतएव वह अपने दौत्य कार्य की अवधि बढ़ाना चाहता था। जो काम करने के लिए आया हूँ उसे करके ही जाने से वस्तुस्थिति के बारे में क्या पता चलेगा? शाकलायन जानता था कि चन्द्रगुप्त कहेगा कि तुम्हें जो-कुछ उचित जँचे करो और यही समाचार मुझे ले भी जाना पड़ेगा। जो इतने सब षड्यन्त्र रचकर बिना किसी भूल के सफल हो गया, वह डर जायेगा, यह तो असम्भव ही था। अतएव शाकलायन के मन में ऊपर लिखे सभी विचार पैदा हुए। जब राजपुरुष आज्ञा लेकर पाटलिपुत्र में उनके दल सहित उसको राजाभ्यागत मकान में ले गये तो थोड़ा समय बीतते ही शाकलायन ने चन्द्रगुप्त को कहला भेजा–"मुझे रास्ते में बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, अतएव मैं बहुत थक गया हूँ। चार दिन तक तो मैं कहीं बाहर भी न आ-जा सकूँगा। आते ही मैं राजसभा में पहुँचकर महाराज के दर्शन न कर सका, इसके लिए क्षमा प्रदान करेंगे। स्वास्थ्य ठीक होते ही चरणों में पहुँचकर स्वामी का सन्देश निवेदन करूँगा।" यह सन्देश पहुँचते ही चन्द्रगुप्त इस बात का सच्चा अर्थ जान गया और उसने शाकलायन के साथ आये हुए लोगों पर कड़ी नज़र रखने के लिए गुप्तचरों को आज्ञा दी। उसने ऐसी आज्ञा दी कि उन लोगों का सवेरे से शाम तक आना-जाना–'कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, किससे बोलते हैं–प्रत्येक घण्टे उसके पास पहुँचता रहे। पर किसी को यह पता न चलने पाये कि उसके ऊपर नज़र रखी जा रही है।

इधर शाकलायन ने प्रथम दिन कुछ न किया। न वह अपने लिए रखे गये सेवकों से ही कुछ बोला। वह सचमुच अपने कमरे से बाहर नहीं निकला। चाणक्य ने उसका कपट जानकर एक युक्ति की। उसने शाकलायन के पास एक संमर्दक नाई भेजा– "हमारा यह नाई अपने काम में बड़ा कुशल है। आपके शरीर में जो यह थकावट है, उसे यह दूर कर देगा। आप सारे दिन अपने कमरे से बाहर नहीं निकले। यह जानकर ही यह आदमी भेजा जा रहा है। इससे सेवा अवश्य कराएं।" यह सन्देश भी भेजा।

शाकलायन ने नाई के आते ही एक बार उसकी ओर देखा। संवाहक बड़े चतुर होते हैं। उसके मन में प्रथमत: विचार आया कि यदि यह मेरे पास रहेगा तो यहाँ के सब कामकाज राजा के कान तक पहुँचा देगा, अतः इसे यहाँ नहीं रखूँ। पर दूसरे ही क्षण उसने सोचा कि ये लोग बातें भी करने में एक ही होते हैं। अत: इसके पास से वस्तु-स्थिति का कुछ पता लगाया जा सकता है। इसे तनिक चढ़ाभर दिया तो यह सब बातें उगल देगा। इसलिए इसे रखकर इसका उपयोग किया जाये।

ऐसा विचार करके उसने नाई को रख लिया। यही नहीं, उससे अपना शरीर भी दबवाने का इरादा किया। हेतु यह था कि शरीर दबवाते हुये उससे प्रश्न करके सहज ही कई बातों का पता लगाया जा सकता है। नाई भी खुश होकर बोला–

"महाराज, आपने मेरी सेवा स्वीकार की, मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। अब आप यही समझिये कि आपकी थकावट दूर हो गई। मेरी सेवा स्वयं धनानन्द महाराज लेते थे। मुझसे पैर दबवाते हुए महाराज मुरादेवी से हँसकर कहते कि देखो तुम्हारे हाथ से अच्छा हाथ तो नाईराम का है। फिर मुरादेवी चिढ़ जाती। फिर महाराज हँस देते। लेकिन देखिये, उस मुरादेवी ने क्या किया? अब क्या कहूँ? उसी के कुचक्र से महाराज डूब गये। कैसी दुष्टा स्त्री थी। यदि आपसे इन बातों का वर्णन करने लगें तो सारा दिन भी पूरा न होगा। पर अब कहने से उपयोग ही क्या है। सभी की हत्या हो गई और वह भी मर गई। अब तो नया राज्य हो गया है।" यह कहकर नाई ने लम्बी साँस खींची और शोकग्रस्त-सा होकर चुप हो गया। शायद पुराने सुख की बात याद आ गई थी। अब शाकलायन ने सोचा कि यह अच्छा मौक़ा है। इससे इधर-उधर प्रश्न पूछकर मैं वस्तुस्थिति, लोगों के मन की स्थिति और राज्य उलटने में किन-किन का हाथ था, आदि बातें सावधानी से पूछ लूँ। उसने झट से कहा–नाईराम, तुम्हारा नाम क्या है, संमर्दक ?

"हाँ, मुझे संमर्दक कहते हैं स्वामी। यह हमारा पीढ़ियों से चला आता काम है।"

"ठीक, तभी तो तुम्हारे हाथों में यह जादू है कि अभी आधा घण्टा भी न हुआ कि मुझे आराम मालूम पड़ने लगा। वाह! राजघराने में ऐसे ही गुणियों की आवश्यकता होती है। धनानन्द महाराज तुम्हें बहुत चाहते थे न? वे अच्छे गुणज्ञ और मर्मज्ञ थे न?"

"क्यों नहीं? उनके समान गुण-पारखी तो मुझे कोई दूसरा दीख ही नहीं पड़ता।"

"ऐसा गुणग्राही राजा था फिर उसकी खुलेआम इस तरह से हत्या कैसे हो गई रे संमर्दक ? लोग क्या ऊँघते थे? बाहर तो यह बात फैली है कि जनता ही महाराज से असन्तुष्ट थी।"

"महाराज यह आपकी भूल है। लोगों को राजहत्या अब भी बुरी लग रही है। पर बेचारे करें तो क्या करें? जिसके हाथ में शासन है वह कहता है कि मैं ही राजा हूँ। हे भगवान्!"

"तो लोग बिगड़े हुए हैं ?"

"बहुत। पर सेनापति भागुरायण चन्द्रगुप्त की मुट्ठी में है। तब क्या किया जाये ?"

"अरे, जब कुछ करना ही हो तो कोई दूसरी सेना तुम लोगों की सहायता नहीं कर सकती ?"

"दूसरे किसकी सहायता आयेगी ? वह आयेगी भी तो राजलोभ से न? नितान्त असहाय लोगों की कौन सहायता करेगा?"

"अरे, तुमको सहायता से मतलब। सहायता लेकर सेना को नमस्कार कर दो।"

"यह तो ठीक है। पर सहायता करने के लिए कौन बैठा है?"

"हाँ, यह तो है। पर क्यों रे नाई, तेरी जाति बड़ी चतुर होती है न? 'पक्षियों में कौवा

और मनुष्यों में नौआ।' यह कहावत भी तो है। तभी पूछता हूँ। समझो कि तुम्हारे बुलाये बिना ही कोई बाहरी सेना नन्द-वंश के हत्यारों को सज़ा देने आये तो तुम लोग उसकी सहायता करोगे?"

"स्वामी, हम ग़रीब लोग क्या सहायता कर सकते हैं? हाँ, जब लोगों में कोई विद्रोह करने वाला हो तो कदाचित् लोग विद्रोह करने को भी तैयार हो जाएँ। लोग क्या कर सकते हैं?"

"नाई, तू बड़ा चतुर दीखता है। तू अपने काम में ही नहीं, राजनीति में भी चतुर है।"

"अरे महाराज, मैं कसा चतुर हूँ? यदि मैं ऐसा चतुर होता तो धनानन्द महाराज और उनके वंश का नाश कैसे होने देता? हाँ, हमारी जाति बात करने में नहीं चूकती। इसी से आपको प्रतीत होता है कि चतुर है।"

"अहा हा! तेरी बात से मैं बहुत प्रसन्न हुआ, सारी थकावट दूर हो गई। शाबाश, यह पुरस्कार ले।"

ऐसा कहकर शाकलायन ने उसे एक सुवर्ण-मुद्रा दी।

वह देखते ही नाई के नेत्र फैल गये। उसे बड़ा आनन्द हुआ। मुँह से 'न, न' कहते हुए उसने उसे अपने टेंट के हवाले किया। शाकलायन को यह देखकर सन्तोष हुआ कि मेरे पुरस्कार से नाई प्रसन्न हो गया है।

कुछ देर बाद वह नाई से पुनः बोला–"यदि कोई तुम लोगों का पक्ष लेकर मगध पर चढ़ाई करे तो लोग क्या करेंगे? संकोच मत कर। स्पष्ट कह दे। मैं यह बात किसी के कान में न पड़ने दूँगा कि तू ऐसी बात कहता था। मुझे केवल इतना जानना है कि आजकल मगध में लोगों के मन का क्या हाल है?"

"महाराज कृपा कीजिये! संध्या के समय दीवार के भी कान होते हैं। कौन किसका गुप्तचर है, कहा नहीं जा सकता। मुझे लगता है कि पुष्पपुरी का प्रत्येक व्यक्ति गुप्तचर है, और वह जो सुनता है उस दुष्ट ब्राह्मण-चाणक्य को कह आता है। अतएव आप मुझसे ऐसी कोई बात न पूछें और न ही मैं बताऊँगा। आप जो सेवा चाहें, करवा लें। वह मैं खुशी से करूँगा।"

"पर नाई, तेरी यह सावधानी देखकर मुझे बड़ा संतोष प्राप्त हुआ है। इसके लिए यह दूसरी सुवर्ण-मुद्रा ले। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं तुझे यह लोभ में फाँसने को दे रहा हूँ। इसे अपने ही पास यादगारी के तौर पर रहने दो। और इधर देखो, अब तुम्हें और मुझे छोड़कर यहाँ कोई नहीं है। फिर व्यर्थ क्यों घबराते हो? आस-पास में भी कोई नहीं है। अब और क्या कहूँ।"

"क्या बताऊँ स्वामी! पर आप कहने को ही कहते हैं तो बताता हूँ। पर यदि कहीं भी यह बात बाहर फैल गई तो मेरे प्राणों पर बन आयेगी।"

"अरे नहीं रे, मैं सावधान रहूँगा। बस यही न?"

"तो फिर सुनिये स्वामी! यदि अमात्य राक्षस आपसे मिल गया तो कुछ काम बनेगा।

उसका कारण ऐसा है, अमात्य बेचारा सीधा-साधा है। इस चाणक्य, चन्द्रगुप्त और भागुरायण ने उसकी आँख में धूल झोंककर जाली पत्र लिखकर आपके राजा को बुलाया। राक्षस के नाम के सब पत्र जाली थे। राक्षस उनके बारे में कुछ नहीं जानता। पर्वतेश्वर महाराज को इस तरह बुलाकर उनकी फ़ज़ीहत की। इधर लोगों ने समझा कि सब कुचक्र राक्षस का रचा है। अतएव पर्वतेश्वर और लोगों–दोनों ने ही राक्षस को अपमानित किया। यदि चतुराई से काम लें तो राक्षस आपके पक्ष में हो जायेगा। अब लोगों के मन में राक्षस के प्रति क्रोध कम हो रहा है, और चाणक्य की कलई धीरे-धीरे खुलने लगी है। कितने ही लोग जान गए हैं कि यह सब षड्यन्त्र चाणक्य का रचा है–अर्थात् धीरे-धीरे लोग राक्षस के अनुकूल हो रहे हैं। आप प्रयत्न कीजिये, शायद सफल हो जाएँ।...”

नाई के मुँह से ऐसी बात सुनकर शाकलायन ज़रा घबरा गया। “कहीं यह नाई न होकर चाणक्य का भेजा कोई गुप्तचर तो नहीं है?” पर यकायक उसके मन में विचार आया और वह सोचने लगा कि कुछ भी हो, इसे अपनी दृष्टि के ओट में नहीं होने देना है, इस पर कड़ी दृष्टि रखनी है। अनन्तर उससे बोला–“तेरा कहना ठीक है, पर राक्षस से भेंट कैसे हो? कहाँ बुलाया जाये?”

“इसमें क्या अड़चन है? राक्षस अभी भी पुष्पपुरी में है, और यह जानकर भी कि चाणक्य की दृष्टि उस पर है, जहाँ-तहाँ जाता-आता रहता है। अब यदि आप उससे मिलें तो सब ठीक हो जाये। यदि उससे आपको भेंट करनी ही हो तो मैं करवा दूँ।”

शाकलायन कुछ देर चुप रहा, फिर बोला–“ठीक! तू मेरी उसकी भेंट करवा दे। फिर मैं देखूँ कि क्या हो सकता है, और क्या नहीं।”

नाई बोला–“ठीक है। आपकी उनसे भेंट कराने का दायित्व मैं लेता हूँ।”

शाकलायन स्पष्ट जानता था कि जो काम मैं करने आया हूँ उसमें सफलता नहीं मिलेगी। ये लोग पर्वतेश्वर को यों ही नहीं छोड़ देंगे। कुछ क्षतिपूर्ति के रूप में माँगेंगे और इसी बहाने सेल्यूकस और मलयकेतु मगध पर आक्रमण कर देंगे। तब यदि पहले से ही मैंने कुछ भेद जान लिए और अन्तर्कलह बढ़ा दिया तो अपने पक्ष की विजय सम्भव है। नहीं तो हार का ही विशेष डर है। अतएव मैं राक्षस से मिलकर सचमुच देखूँ, क्या बात है? पुराने समय में नाइयों का जाना-आना सभी जगह बे-रोकटोक के होता था, अतएव उन्हें प्रत्येक गुप्त बात का पता रहता था।

ऊपर वर्णित संवाद के बाद शाकलायन ने नाई से और बातें भी सुनीं। नाई बड़ा चतुर था। उसने अपना सिक्का जमा लिया और बातचीत के सिलसिले में वह शाकलायन से और बोला–“मुझे चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि पसन्द नहीं हैं। मेरी प्रकृति भगवान् बुद्ध के अहिंसा धर्म की ओर है। यदि अब पुनः नन्द-वंश के सिंहासन पर आने की आशा न होगी तो मैं बौद्ध भिक्षु बन जाऊँगा। मुरादेवी की दासी वृन्दमाला ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। मेरा भी मन उसका अनुकरण करने का है।”

शालकायन ने नाई को छुट्टी दे दी। उसे यह कहकर विदा किया कि “इस मकान के बाहर न जाना, तुम्हारी आवश्यकता पड़ेगी। यदि हमारी विजय हुई तो तुम्हारा कल्याण

होगा।” उसके रहने का भी प्रबन्ध कर दिया।

अब शाकलायन सोचने लगा कि राक्षस से भेंट कैसे की जाये? यहाँ राक्षस को छिपाना अनिष्टकारक होगा। मेरा भी जाना अनिष्ट से पूर्ण है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाये? इसकी उसे बड़ी चिन्ता हो गई। इसके अतिरिक्त सेल्यूकस और मलयकेतु ने मुझे जल्द लौट आने को कहा है। यह बहाना भी कब तक चलेगा कि रास्ते की कठिनाई से मैं थक गया हूँ। अतएव अब जो-कुछ भी करना हो, शीघ्र करना चाहिए। नाई की सहायता से भेष बदलकर मैं राक्षस से मिल आऊँ।

ऐसा विचार करके शाकलायन ने नाई को पुनः बुलवाया और अपने विचार से अवगत करवाया। नाई ने भी इसे पसन्द किया। उसने नाई का भेष धारण करना आसान बताया। प्रथम तो शाकलायन को नाई का भेष धारण करने में झिझक मालूम दी। वह कट्टर ब्राह्मण था–उसे नाई का भेष धारण करके कहीं जाना बुरा लगा। पर, राजकीय प्रसङ्ग में घुसने पर सभी प्रकार का संकोच दूर करना पड़ता है, ऐसा समझ उसने नाई का भेष धारण करना स्वीकार किया और तैयारी भी करने लगा। इधर किसी के मन में शङ्का न हो, ऐसा सोचकर नाई ने एक दूसरे नाई को बुलवाया और उसके वस्त्र शाकलायन को पहना दिए और शाकलायन के वस्त्र उसे पहनाकर वहीं बैठा दिया और दोनों नाई मकान से बाहर निकले। वे राक्षस के निवास-स्थान पर पहुँचे।

नाई भेषधारी शाकलायन और राक्षस की भेंट हुई और उनकी जो बातें हुईं वे बड़ी विनोदप्रद सिद्ध हुईं।

राक्षस का वास्तविक मूल्य उस बात से प्रकट हुआ।

उनतालीसवाँ परिच्छेद

राक्षस और शाकलायन

राक्षस ने अभी तक पाटलिपुत्र नहीं छोड़ा था। यही नहीं, अपनी स्त्री और बच्चों को लेकर वह धैर्यपूर्वक अपने पूर्व निवास-स्थान पर रहने लगा। जब चन्दनदास को चन्द्रगुप्त ने छोड़ दिया तो राक्षस जान गया कि खुले रूप में मुझे मारने की हिम्मत इन लोगों में नहीं है। अन्य किसी प्रकार का उपद्रव (मेरे प्रति) भी करने का इनका साहस नहीं है, अथवा इनके लिए यह सम्भव नहीं है। मेरे विषय में इन्होंने लोकमत को भड़का दिया है, पर लोकमत लक्ष्मी की तरह या अस्त होते हुए सूर्य की किरणों से रंजित मेघ के समान क्षणिक है। यदि मैं ऐसे ही चुपचाप रहा तो कौन जाने लोग मेरे अनुकूल हो जायें और एक दिन मैं नन्दवंश की पुनः प्रतिष्ठा कर सकूँ। कुछ भी हो, पर मेरे यहाँ से चले जाने पर लोगों के मन का सन्देह बना रहेगा।

ऐसे विचार करके राक्षस अपने मूल निवास-स्थान पर आया था। अपने पक्ष के लोगों की गिनती करके, उनको पूर्ण रूप से परखकर वह अपना व्यवहार चला रहा था। हिरण्यगुप्त अब इसके परिवार में न था। राक्षस की बड़ी इच्छा थी कि उसे फँसाकर एक बार उसके द्वारा सब हाल सच-सच सुने; पर वह न जाने कहाँ अदृश्य था। अपने जीते-जी अपने नाम से सब कारबार हो, अपने विश्वासपात्र मनुष्य अपने विरुद्ध उठ खड़े हों; वे राजवंश को उच्छिन्न करें; पर अपने को ज़रा भी पता न चले, यह कितनी लज्जास्पद बात थी ? ऐसी बातें सोचकर राक्षस जल-भुन जाता था, पर जल-भुन जाने से क्या होता है? हाथ से कुछ होना चाहिए। अतएव उसने विचार किया कि मैं यहीं रहकर देखूँ, आगे क्या गुल खिलता है। इधर जब राक्षस का घर समीप आने लगा तो संमर्दक बोला–"महाराज, एक बड़ी महत्त्व की विनती आपसे करनी है। वह यह है कि आप कभी यह न कहिए कि मैंने अथवा चाणक्य ने आपको राक्षस के पास भेजा है। यह कहते ही सब चौपट हो जायेगा। चाणक्य का नाम सुनते ही राक्षस को शङ्का हो जायेगी कि मैं झूठ-मूठ आपको उसके पास लाया हूँ। ठीक यही होगा कि इस बारे में आप उससे कुछ न कहें।" शाकलायन को यह बात ठीक जँची और उसने इस विषय में कुछ भी न कहने का वादा किया।

नाई और नाई-भेषधारी शाकलायन राक्षस के घर पहुँचे तो प्रथमतः अन्दर जाने के लिये रुकना पड़ा। राक्षस की आज्ञा थी कि यदि कोई नया मनुष्य आये तो उससे पूर्णतया पूछताछ किये बिना उसे भीतर न लाया जाये। पर जब राक्षस को पता चला कि उसके दर्शन के हेतु दो नाई आये हैं, बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है, अतएव दर्शन चाहते हैं, तो उसने कुछ सोचकर फिर किंचित् हँसकर उन्हें भीतर आने की आज्ञा दी।

प्रतिहारी के उन दोनों को भीतर लाते ही राक्षस ने एक बार ग़ौर से उनकी ओर देखा और उसके मन में पहले ही जो शङ्का आई थी उसको ठीक जानकर गर्दन हिलाई, तत्पश्चात् बोला–"यदि आप लोग सचमुच नाई होते तो मुझे आपका स्वागत करने में सङ्कोच होता। मैं समझ गया हूँ कि यह भेष धारण करके आप लोग मेरे पास किसी मतलब से आये हैं। अतएव बैठ जाइये और बोलिए कि क्या काम है। अब मेरे हाथ से होने-योग्य कोई काम नहीं है। लेकिन जब आप लोग आ ही गये हैं तो सुन ही लेना चाहिए।"

राक्षस की यह बात सुनकर दोनों नाई एक-दूसरे की ओर देखने लगे। शाकलायन को आश्चर्य हुआ कि राक्षस ने हमारा छद्मभेष कैसे जान लिया, पर उसके बारे में कुछ न कहकर वह बोला– "आपने पहचान लिया, इसमें आश्चर्य ही क्या है? किसी का छद्मभेष जानकर भी उसकी बात सुनना आपका ही काम है। अस्तु मैं भी अब झूठ नहीं बोलूँगा। खुलेरूप से आपके पास आने में धोखा था, अतएव मैं इस नाई की सहायता से इस भेष में आपके दर्शन के हेतु आया हूँ। मैं अपना परिचय देने के पहले यह आश्वासन पाना चाहता हूँ कि यहाँ आस-पास तो कोई नहीं है?"

राक्षस ने कहा–"तनिक भी चिन्ता न कीजिए। आप किस देश से आए हैं? और क्यों? आप नाई न होकर कोई राजपुरुष हैं।"

"अमात्यश्रेष्ठ, मैं सचमुच राजपुरुष हूँ, स्वामिकार्य से आया हूँ।"

"वह क्या कार्य है? और आपका स्वामी कौन है? आप साफ-साफ कहिये!"

"ठीक है, अब मैं साफ-साफ ही कहूँगा। मैं पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु और...नहीं, उनके ही पास से आया हूँ।"

राक्षस ने भाँप लिया कि यह कोई बात छिपा रहा है, पर वैसा न दिखाकर बोला– "उनके पास से मेरे पास आए हो! मेरे गुप्तचर ने कहा तो सही कि शाकलायन नाम का उनका कोई मन्त्री यहाँ आया है। क्या मलयकेतु को यह देखकर संताप नहीं हुआ कि उनके पिता को बन्दी बनाने का कारण मैं ही हूँ। क्या उसने मुझे पकड़कर ले जाने के लिए आपको भेजा है?"

"छि:-छि: अमात्यराज, ऐसा मत कहिए। मलयकेतु आप पर क्रोधित है और यह स्वाभाविक भी है; पर यहाँ आने पर मुझे जो कुछ पता चला है उससे मैं जान गया हूँ कि पर्वतेश्वर को बुला भेजने और बन्दीगृह में रखने में आपका ज़रा भी हाथ नहीं है, तभी तो आपके पास आया हूँ।"

"यह आप कैसे जान गए? पाटलिपुत्र में तो सभी यही समझ बैठे हैं कि मैंने ही राज-घात किया, राजकुल-उच्छिन्न किया। मैंने ही म्लेछराज पर्वतेश्वर को मगध का राज्य देने की व्यवस्था की। परन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्य की चैतन्यता के कारण सभी खेल चौपट हो गया। पर आपको अन्य बातें बताने वाला कौन मिल गया।"

"अमात्यराज, ऐसी बात कहने वाले एक नहीं, अनेक हैं। आज भी पाटलिपुत्र में अनेक ऐसे लोग हैं जो जानते हैं कि ऐसा जघन्य कर्म आपके लिए न होगा। उनकी अब भी आपके प्रति श्रद्धा है।"

“ओह! तो अब भी मगध में कुछ लोग ऐसे हैं। ठीक, फिर?”

“आपके बारे में इन लोगों ने जो अपवाद खड़ा किया है उससे आपको क्रोध आना स्वाभाविक ही है, और अपवाद दूर करने के लिए आप उद्योग करने को उत्सुक होंगे, यही जानकर मैं आपके पास आया हूँ।“

“आप जानते ही हैं कि मन में रहने और हाथ से होने में कितना अन्तर है? “

“यह तो साधारण लोगों का कहना है। आपके जैसे असाधारण लोगों के लिए क्या सम्भव नहीं है?”

“मैं कहाँ का असाधाण हूँ। साधारण का साधारण ही हूँ। जो घटनायें हुईं, वे इस बात की पुष्टि करेंगी। पर आप यहाँ किसलिए पधारे हैं, मैं अब तक न समझ सका। हर्ज न हो तो साफ़-साफ़ कहिये–मेरी सुनने की इच्छा है।” राक्षस ने कहा।

“मैं मलयकेतु के पास से चन्द्रगुप्त को सन्देश लेकर आया हूँ। वह यह है कि या तो मेरे पिता को तुरन्त छोड़कर एक करोड़ हर्जाना दो, नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।”

“क्या कहते हो? यह सन्देश मलयकेतु ने चन्द्रगुप्त के पास भेजा है?”

“हाँ, उन्होंने ही भेजा है, और मैं ही इसके लिए दूत नियुक्त किया गया हूँ। क्यों, भला आपको अचरज क्यों हो रहा है?”

“पतंगे ने दीपक पर झपटा मारा तो किसे आश्चर्य न होगा?”

“मलयकेतु को आप पतंगे की उपमा दे रहे हैं, परन्तु वह वैसा अविचारी नहीं है।”

“यदि वह अविचारी न होता तो अपने बल पर चन्द्रगुप्त के पास यह संदेश न भेजता, यदि उसे किसी दूसरे की भी सहायता हो तभी सम्भव है।”

“ऐसी मदद मिलनी चाहिए, तभी तो आपके पास आया हूँ। यदि आपकी मदद मिल गई तो सभी काम सिद्ध हो जाएँगे।”

“मैं क्या मदद कर सकता हूँ? “ राक्षस ने पूछा।”

“सभी हो सकता है। इतना लीकापवाद आपके विरुद्ध है। फिर भी आप जो कर सकते हैं, वह दूसरा कोई नहीं कर सकता।”

“खैर, यह तो ठीक है, पर मलयकेतु के पीछे कौन है?”

“और कौन हो सकता है?” राक्षस की ओर आश्चर्य से देखकर शाकलायन बोला।”

“इधर देखिये! यदि आप सब बातें साफ़-साफ़ कहने आये हैं, तो स्पष्ट कहिये। मलयकेतु के मन में बिना किसी दूसरे राजा की सहायता के मगध पर आक्रमण करने का विचार ही नहीं आ सकता। इस काम में उसे जिसकी मदद मिल सकती है, वह है म्लेच्छ सेल्यूकस, उसने सहायता देना स्वीकार किया है न?”

अब इस बार में बहाना बनाने से काम न चलेगा, यह जानकर शाकलायन बोला– “हाँ, आप जो कह रहे हैं, वह ठीक है। सेल्यूकस उसे पूर्णरूप से सहायता करेगा। जिस तरह से

सेल्यूकस उसे बाह्यरूप से सहायता दे रहा है वैसे ही आप गुप्त रूप से दें, यही मेरी विनती है। आज लोकमत आपके अनुकूल नहीं है, पर जल्द ही हो जायेगा, ऐसा दिखाई पड़ रहा है। आपकी सहायता से यह काम पूरा हो जायेगा। चाणक्य और चन्द्रगुप्त से बदला लिया जा सकेगा। उनकी पराजय से मलयकेतु को भी अपने पिता के अपमान का बदला मिल जायेगा...”

“और यवन सेनापति सेल्यूकस को क्या लाभ होगा?” राक्षस ने भौंह कपाल पर चढ़ाकर विचित्र रूप से देखते हुए पूछा। यह प्रश्न पूछते हुए उसकी आवाज़ भी विचित्र हो गई। शाकलायन राक्षस की यह बात सुनकर कुछ देर तक चुप बैठा रहा।

तब राक्षस उससे पुनः बोला–“क्यों जी, आप चुप क्यों हो गए? जब सेल्यूकस मलयकेतु की इस प्रकार मदद कर रहा है तो उसको भी तो कोई स्वार्थ-साधन करना है या नहीं? उसे क्या लाभ होगा?”

“उसका लाभ कुछ नहीं है। केवल मित्रता के नाते वह मदद करेगा।”

यह सुनकर राक्षस हँसकर शाकलायन की ओर देखकर बोला–“आपको दूत का काम मलयकेतु और सेल्यूकस दोनों ने ही सौंपा है, अतएव आप मन्त्री ही होंगे। अर्थात् सेल्यूकस का कोई हेतु नहीं, क्या आप भी इसे सच मानते हैं? नहीं न? तब यह कहना भी व्यर्थ है। सेल्यूकस बड़ा महत्त्वाकांक्षी है, उसके मन में मगध जीतने की लालसा है। तभी वह आपकी मदद देने की तैयार हो गया है।”

“यदि ऐसा हो तो क्या होगा?” शाकलायन एकदम से बोला।

“क्या होगा? बहुत कुछ होगा। क्या नहीं होगा–यह कहिये।” राक्षस ने कठोर रूप से उत्तर देकर उसकी ओर कठोर दृष्टि से देखा। वह आगे बोला–“आप यह क्यों भूल जाते हैं कि इन यवनों की इच्छा सारे आर्यावर्त और आर्यराज को अपने पैरों-तले रौंदना है। तभी उन्होंने पर्वतेश्वर को जीतकर राज्य उसे लौटा नहीं दिया ? तभी तो पर्वतेश्वर ने अपनी सेना में यवन और म्लेच्छ सैनिक रखे हैं। पर्वतेश्वर की दृष्टि से उनका दास रहने में भले ही हित हो, पर मेरी दृष्टि में नहीं।”

“क्यों नहीं? जब आपके हाथ से व्यवस्था...”

“शांतं पापम्! आप यह क्या कह रहे हैं? यदि अपने हाथ से व्यवस्था न होती तो अपने सजातीय अपने बराबर वाले की मदद ली जाये, परन्तु दूसरों को–सिकन्दर के सूबेदार सेल्यूकस को–बुलाकर आप अपने शत्रु का मान-मर्दन देखेंगे?”

“इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है?” शाकलायन ने पूछा।

“दूसरा उपाय गुपचुप बैठने का है; और कौन उपाय है?”

“फिर आपकी सहायता मिलना हमारे लिए सम्भव नहीं है?”

“नहीं, नहीं! इन दुष्टों ने राजघात करके मेरे नाम को कलंक लगाया, इसका बदला लेने की मेरी हार्दिक इच्छा है; परन्तु उसकी तृप्ति करने के लिए मैं सेल्यूकस की मदद कभी न मानूँगा। और यदि वह दे भी तो भी न लूँगा, शिव! शिव!”

“पर सेल्यूकस के मन में कोई बुरा हेतु नहीं है। केवल मलयकेतु के पिता के अपमान का बदला लेने में सहायता करना है। उसे इसके लिए कुछ नहीं चाहिए।”

“मन्त्रिवर, यह कहना कि आप राजप्रकरण नहीं समझते, बड़ी धृष्टता होगी, अतएव मैं यह न कहूँगा। न ही मैं वैसा समझता हूँ। आप सब समझते हैं, पर आप उसके सेवक हैं अतएव आपको उसमें कुछ बुराई नहीं मालूम देती। पर मेने मन की स्थिति अब भी वैसी नहीं हुई है। मगध देश पर यवनों का राज्य या यवनों की अधीनता में आनन्द मानने वाले पर्वतेश्वर का राज्य भी मुझे अच्छा न लगेगा। ऐसे काम के लिए मैं मदद नहीं करूँगा। क्या मुझे ज्ञात नहीं है कि मलयकेतु के पिता और सेल्यूकस दोनों की ही आँख बहुत दिनों से मगध पर है? ज्ञात है। तब मगध देश जीतने में मैं उनकी सहायता कैसे कर सकता हूँ?”

“तब क्या इन राजघाती लोगों के हाथ में ही राज्य रहने देना आपको अच्छा लगता है?” शाकलायन ने कहा।

“अच्छा कैसे लगेगा। पर यवनों अथवा यवनों का प्रभुत्व स्वीकार करने-वालों से इन लोगों के ही हाथों में रहना अच्छा है।”

“अमात्यराज, मैं नहीं समझता था कि आप ऐसा कहेंगे। मैं तो समझता था कि मेरे कहने की देर भर है और आप बड़ी खुशी से हमारी सहायता करने को तैयार हो जायेंगे, परन्तु आपकी बात से आपके विचार बिलकुल उल्टे प्रतीत होते हैं।”

“एकदम उल्टे हैं–ऐसा क्यों कहते हैं? मेरे ही विचार के समान आपका भी विचार होना चाहिए। पर आपने यवनों की सेवा स्वीकार कर ली, इसका कोई उपाय नहीं है। नहीं तो आपको भी आर्यावर्त का अथवा मगध का यवनों के हाथ में जाना अच्छा न लगता।”

“ठीक ! पर इस तरह से नन्दवंश उच्छिन्न करने वालों के हाथ में सत्ता रहे, यह नन्दवंश का एकनिष्ठ सेवक कैसे पसन्द कर सकता है?”

“राक्षस जैसे नन्दवंश का सेवक है वैसे ही मगध का भी है। नन्दवंश का नाश हो जाने पर भी वह मगध का नाश नहीं होने देना चाहता।”

“मलयकेतु के मगध जीतने से मगध का नाश कैसे हो जायेगा? मलयकेतु भी तो आर्य ही है न?”

“आर्य तो है; पर वह यवनों की सेवा में रत आर्य है, और फिर वह यवनों की सहायता से मगध जीतेगा न?”

“तो क्या मगध यवनों के हाथों में चला जायेगा?”

“इसमें भी कोई सन्देह है? जो शिकारी की मदद करेगा, वह शिकार का हिस्सा लिए बिना न रहेगा? सब शिकार न ले ले, यही ग़नीमत समझो। पर सेल्यूकस पूरा शिकार लिए बिना नहीं रहेगा। सिकन्दर के समय से ही उसकी आँखें मगध पर लगी हुई हैं। मगध लेने के लिए तो वह मलयकेतु को साथ लेगा; पर जीतने पर उसे दूर क्यों न फेंक देगा? शाकलायन! सिकन्दर को इस देश में रहना नहीं था, तभी उसने पर्वतेश्वर को जीतकर अपना सामन्त बनाया और उसे राज्य लौटा दिया। पर, सेल्यूकस तो यहीं रहने वाला है।

उसका मन चक्रवर्ती बनने का है। उसकी महत्वाकांक्षा बहुत बड़ी है। यदि राजा धनानन्द विलासी न होता तो सेल्यूकस को भगाकर पंचनद और काश्मीर तक मगध-राज्य का विस्तार कर देता।"

इस पर शाकलायन बोला– "अब क्या यह सम्भव नहीं है? मलयकेतु सेल्यूकस की मदद से मगध लेकर फिर उलटे उसी के ऊपर झपट पड़ेगा।"

यह सुनते ही राक्षस ज़ोर से हँसकर बोला– "आप केवल परीक्षा लेने के लिए ये सब प्रश्न कर रहे हैं। अरे, जो सेल्यूकस इतने प्रयत्न करके आने की राह देख रहा है, वह मलयकेतु के पितामह के आने पर भी उसकी सुन सकता है? उसने उसका राज्य भी नहीं चट कर लिया, यही बहुत समझो।"

"मैं समझता हूँ कि आपके वचन का कुछ अर्थ नहीं है। यह सब छोड़िये, यह बताइये कि यदि मलयकेतु सेल्यूकस के साथ यहाँ आया, तो पुष्पपुरी के लोग चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विरुद्ध उठ खड़े होंगे, अथवा नहीं; ऐसा करने में आपकी मदद मिलेगी अथवा नहीं?"

"नहीं! यह राक्षस चन्द्रगुप्त, चाणक्य और भागुरायण से कितना भी द्वेष करता हो; पर म्लेच्छों के हाथ में मगध देश जाने में यह कभी मदद नहीं कर सकता। दो की लड़ाई से तीसरा लाभ उठाये, यह ठीक नहीं। यदि मुझे कुछ करना होगा तो उल्टा करूँगा। मुझसे हो सकेगा तो उनकी मदद करूँगा, नहीं तो चुप बैठूँगा। पर म्लेच्छाधिपति पर्वतेश्वर अथवा यवन-सेनापति सेल्यूकस के हाथ में मगध देश न जाने दूँगा। फिर अपनी आर्य-जिह्वा से आप मुझसे यह न पूछिये कि मैं अपने देश का विरोध कर सकूँगा अथवा नहीं। आप जिस स्थान से आए हैं वहीं पधार जाइये। यवनों की कुल्हाड़ी बाल भर मगध वृक्ष में न जानी चाहिए। यदि वैसा हुआ तो वे समूल वृक्ष को छेद देंगे। जाइये।"

यह सुनकर शाकलायन आश्चर्यचकित हो गया। आगे कुछ बोलने का उसका साहस न हुआ। थोड़ी देर में ही अपने साथी को लेकर वह वहाँ से चलता बना।

चालीसवाँ परिच्छेद

चाणक्य ने हाथ टेका!

चाणक्य अपनी पर्णकुटी में बैठकर सिद्धार्थक से बातें कर रहा था। सिद्धार्थक ने उससे कोई ऐसी बात कही जिसे सुनकर उसे थोड़ा आश्चर्य हुआ। थोड़ी दूर तक मौन बैठे रहने के पश्चात् वह बोला–"सिद्धार्थक, तुम्हें यह पूर्ण विश्वास है कि राक्षस ने तुम्हें नाई के भेष में नहीं पहचाना।"

"पूर्ण विश्वास! अमात्य को शंका न हो–इसके लिए मैंने पहले ही शाकलायन को कह दिया था कि यह न कहना कि चन्द्रगुप्त ने मुझे आपके पास भेजा है। अतएव शाकलायन ने इस बारे में कुछ भी न कहा। मैं भी बेवकूफ की तरह बैठा उन लोगों की बातें सुन रहा था। मैं समझता था कि यदि कुछ बोलूँगा और राक्षस पहचान जायेगा तब तो सारा खेल चौपट हो जायेगा। इसके अतिरिक्त मुझे प्रतिक्षण डर लगा रहा था कि राक्षस मुझे पहचान तो नहीं रहा है। मेरा लक्ष्य उसी ओर था, मैं देख रहा था कि राक्षस मेरी और सन्देह-भरी निगाह से तो नहीं देख रहा है? मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि वह मुझे नहीं पहचान पाया। मुझे उसने शाकलायन का सेवक ही समझा। उसने समझा होगा कि मैं भी भेष बदलकर आया हूँ, पर उसका ध्यान मेरी ओर विशेष न गया। कैसे जाता? राक्षस आपके समान कुटिल-नीति-विशारद ती है नहीं। उसे आपकी कुटिल-नीति का ज्ञान नहीं है, शाकलायन की बात सुनकर वह दंग रह गया था।" सिद्धार्थक की बात आरम्भ होने पर एक-दो क्षण ही चाणक्य का ध्यान उसकी बात की ओर रहा। यह विश्वास हो जाने पर कि शाकलायन और राक्षस की जो बातचीत हुई उसमें राक्षस को मेरे प्रति कोई सन्देह न हुआ, वह दूसरी ही बातें सोचने लगा। सिद्धार्थक की बात की और उसका चित्त न रहा। विचार करते-करते उसी के झोंके में वह यकायक उठ खड़ा हुआ और ज़ोर से हँसकर इस प्रकार बोला, मानो राक्षस सामने खड़ा हो!

"धन्य राक्षस! तेरे-जैसों के सामने मेरी कुटिलता नहीं चलेगी। यदि मैं तेरी स्थिति में होता, जिस स्थिति में मैंने तुझे ला छोड़ा है, यदि उसी में तू मुझे ला छोड़ता, तो मैं मलयकेतु से मिलकर मगध का राज्य यवनों के हाथ में देने में भी नहीं झिझकता। कुछ भी होता, अपने वैरी का सर्वनाश किये बिना मुझे चैन ही न पड़ता। यवनों को पञ्चनद के पार भगाना ही मेरा परम लक्ष्य था, उसी लक्ष्य की पूर्ति के हेतु मैं मगध में आया तो धनानन्द ने मेरा अपमान कर दिया। मैंने पहले प्रतिज्ञा की कि उसके वंश-वृक्ष को समूल सशाख उखाड़ फेकूँगा, उसे उखाड़ फेंकने के लिए कुछ भी बाकी न छोड़ा। ब्राह्मण होकर नृशंस कर्म करके अपनी प्रतिज्ञा जिस प्रकार पूर्ण की, वैसे ही अन्त में मैं यवनों की सहायता स्वीकार करके

भी तेरा सर्वनाश करता। मैं उस समय यह न देखता कि मगध यवनों के हाथ में जा रहा है। पर राक्षस! तूने नन्दवंश की भक्ति और मगध की भक्ति से मुझे जीत लिया। कुछ हर्ज नहीं। यदि कुटिलता से काम नहीं चल रहा है तो मैं तेरे पास आकर सरलता से ही ऐसी युक्ति करूँगा कि चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद तू स्वीकार कर लेगा। उसे यदि सचिव चाहिए तो तेरे जैसा एकनिष्ठ। भागुरायण के समान क्षण-भर में मन बदलने वाले सचिव से क्या काम चलेगा।"

यह बोलते हुए चाणक्य सचमुच यह भूल गया कि सिद्धार्थक पास ही बैठा है। नहीं तो वह इस प्रकार से बोलता अथवा नहीं, कोई कह नहीं सकता। चाणक्य का बोलना सुनकर कुछ देर तक तो वह चुप बैठा रहा; पर उसके मन में जो विचार आया था, उसे कहे बिना उससे चुप न रहा जाता था। अतएव वह चाणक्य से बोला, "आर्य, राक्षस को चन्द्रगुप्त का सचिव बनाने से आपका क्या हेतु है? सच कहा जाये तो उसके समान अन्धा सचिव कोई नहीं है। आपने उसकी आँखों के सामने इतना भयंकर षड्यन्त्र रचा, पर वह न जान सका। वह मन्त्रित्व क्या करेगा? आप जैसे नीति-निपुण के रहते चन्द्रगुप्त को दूसरा सचिव खोजकर लाने की क्या आवयकता है? मेरी दृष्टि में तो साचिव्य-पद के लिए राक्षस-जैसा अयोग्य और कोई नहीं है।"

चाणक्य यह सुनकर किंचित् हँसा और उत्तर में बोला–"सिद्धार्थक, तेरी समझ में कुछ नहीं आता। अरे मैंने चन्द्रगुप्त को राज्य देने और नन्द का नाश करने की प्रतिज्ञा की थी, वह पूरी हो गई। अब मैं क्या उसके पास हमेशा बैठा रहूँगा? अरे, वही प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए तो ब्राह्मण के निषिद्ध कितने ही नृशंस कर्म करने पड़े; अब वह पाप धोने के लिए हिमालय की किसी कंदरा में बैठकर तपस्या करूँगा, तभी पाप धुलने की आशा है। नहीं तो इस भवसागर में पड़कर पुनः-पुनः ऐसे ही नृशंस कर्म करने होंगे। बस, अब समझ गए न? सिद्धार्थक, तुम ही देखो, मेरे हाथ से क्या-क्या पाप हुए हैं, क्या बाकी रहा है? राजहत्या हुई, बालहत्या हुई, स्त्री हत्या हुई, असत्य बातें बोलनी पड़ीं। यह सब करके चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनकर रहने की मेरी ज़रा भी इच्छा नहीं है। इसके अतिरिक्त जो मान राज्य दिलाने पर मिलता है वह देर तक नहीं टिकता। जिस नृशंस कार्य के करने पर उसका भला किया, क्या उसके मन में यह न आयेगा कि कहीं मेरे साथ भी ऐसा न करे। अतएव वैसे प्रसंग आने के पहले ही अपने राम प्रणाम कर दें तो अच्छा। सिद्धार्थक, मैं सचमुच कोई पद नहीं चाहता। मुझे एक कौड़ी की भी ज़रूरत नहीं है। अपने अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा मैंने पूरी कर ली, अब यही इच्छा है कि इन यवनों की पराजय हो और वैसा होने का समय भी अब आ गया है। राक्षस का दृढ़ निश्चय देखा, अब और क्या चाहिए? सिद्धार्थक, राक्षस की सच्ची भक्ति मगध देश और नन्दराज पर है। यदि वह एक बार भी अपनी जिह्वा से यह कह दे कि वह चन्द्रगुप्त की भक्ति करेगा तो छुट्टी पा जाऊँ। वह यवनों को कभी भी आगे नहीं आने देगा...।"

इस पर सिद्धार्थक बीच में ही बोला–"यदि, आपको इतना पश्चात्ताप होता है तो भगवान् बुद्ध का मार्ग क्यों नहीं स्वीकर कर लेते? भगवान् वसुभूति बड़े आनन्द से आपको दीक्षा देकर विहार में रखेंगे। वृन्दमाला ने उनके पास दीक्षा ले ली, अब वह सुमतिका के

पीछे लगी है कि "तू भी मेरे ही समान योग ले ले, नहीं तो तेरा अपने पापों से छुटकारा न होगा।" यदि आप ऐसा करेंगे तो नृपहत्या का पाप छूटकर आपको निर्वाण मिलेगा। भगवान् वसुभूति एक बार आपको ऐसा उपदेश देने वाले हैं।" सिद्धार्थक की बात सुनकर चाणक्य हँस दिया।

ऊपर की बातों से पाठक जान ही गए होंगे कि शाकलायन के पास नाई रूप में जाने वाला और उसे नाई का भेष देकर राक्षस के पास ले जाने वाला कौन था। जब शाकलायन मलयकेतु की ओर से धमकी-भरा सन्देश लाया है तो यह सहज ही है कि वह यह जानने का प्रयत्न करेगा कि कोई उसकी मदद करने वाला प्रभावशाली व्यक्ति मिलता है कि नहीं। अतएव उसे फँसाने के लिए चाणक्य ने विचार किया। इसके अतिरिक्त चाणक्य यह भी जानना चाहता था कि यदि शत्रु पर्वतेश्वर के अपमान का बदला लेने यवनों की सहायता लेकर आयेगा तो राक्षस मुझसे और चन्द्रगुप्त से बदला लेने के लिए उससे मिलकर मगध देश जीतने में सहायता करेगा या नहीं? जब शाकलायन ने यह कहला भेजा कि दो दिन आराम कर लेने के पश्चात् मैं सन्देश लेकर आऊँगा तो चाणक्य ने अपना कार्यक्रम निश्चित कर लिया। सिद्धार्थक को नाई के भेष में भेजकर शाकलायन से यह कहलवाया कि राक्षस के प्रति जनमत बदल रहा है और उसे (शाकलायन को) राक्षस की सहायता लेनी चाहिए। शाकलायन ने वैसे ही किया और इसके और राक्षस के बीच हुई बात को सिद्धार्थक ने चाणक्य से आकर सुनाया। चाणक्य को सब बात सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ। राक्षस की देशनिष्ठा और स्वामिनिष्ठा इतनी विलक्षण है–चाणक्य को इसकी कल्पना तक न थी। यह जानकर उसने निश्चय किया कि "चाहे जो उपाय करना पड़े, कुटिलता से न हो तो सरलता से कार्य सिद्ध करना ही पड़ेगा, और तब मैं तपस्या करने हिमालय चला जाऊँगा।" अब सरलता के सिवा दूसरा मार्ग शेष न था।

सिद्धार्थक और चाणक्य की बात हो जाने पर, चाणक्य ने सिद्धार्थक को और काम बताया। स्वयं अपना तप्त मस्तक शान्त करने के हेतु वह हिरण्यवती नदी के किनारे चला गया। जिस काम को करने का निश्चय मनुष्य एक बार कर लेता है, जब तक वह पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक न जाने कैसी बेचैनी रहती है? और यदि उसे कर लिया, पर ठीक तरह से न किया, तो मन को बड़ा कष्ट पहुँचता है। अपना ही मन कहने लगता है कि ठीक काम नहीं हुआ। यदि वही काम अच्छा होने लगता है तो यह नहीं होता कि आनन्द अनुभव न करे। जो मनस्वी हैं, उनके मन का भी यही हाल है, पर वह बाहर प्रकट नहीं करते। अपना पश्चात्ताप वे संसार पर प्रकट करना नहीं चाहते। पर अपने मन से ही वे अपना पश्चात्ताप कैसे चुराकर रख सकते हैं? ऐसे मनस्वी जब तक दूसरों के साथ रहते हैं, अपने मन की दशा छिपा रखते हैं, पर हमेशा ऐसा नहीं हो पाता। एकाध बार ऐसा होता है कि उनकी मनोदशा दूसरों पर प्रकट भी हो जाती है। ऊपर का प्रसंग भी ऐसा ही था। चाणक्य को अपने आज तक के किए कर्मों पर पश्चात्ताप हो रहा था। मैंने जो कुछ कर्म किया अथवा करवाया वह अच्छा न था। अपना अपमान होने से कुपित होकर मैंने सारे नन्द-वंश का समूल नाश कर दिया। उसमें राज-हत्या हुई, बाल-हत्या हुई और अन्त में स्त्री-हत्या हुई–यह विचार उस ब्रह्मनिष्ठ और तपोनिष्ठ ब्राह्मण को खाने लगा।

चन्द्रगुप्त को मैंने जंगल से लाकर राजपद पर आसीन किया और अब उसके हाथों में दिग्विजय करवाकर सारा भारतवर्ष पदाक्रांत करवाना चाहता हूँ: पर यह कौतुक देखने के लिए अन्त तक बैठे रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। जहाँ उसने इतना नरमेध किया, वहाँ अब उससे थोड़े दिन भी और नहीं रहा जाता था। यही कारण था कि वह राक्षस के गले में मन्त्रि-पद बाँध देना चाहता था। अब तक चाणक्य की मनोदशा किसी पर प्रकट न हुई थी; पर आज अचानक सिद्धार्थक से बात करते-करते वह फूट निकली। यदि मन में विचार अधिक हो जाता है तो संघर्ष होने लगता है और वह अपच हुए अन्न के समान मुँह से निकल पड़ता है। चाणक्य को यह ध्यान न रहा कि वह अकेला नहीं है, अतएव उसने अपनी मानसिक दशा को शब्दों के रूप में उगल दिया। बाद में उगल देने पर उसे ज्ञात हुआ कि उसकी बुद्धि क्षीण होती जा रही है और उसे बड़ा बुरा लगा। मनुष्य का मन एक चमत्कारी यंत्र है। उसमें से कौन-सा चक्र कब घूमकर क्या गड़बड़ कर देगा, इसका निश्चय नहीं है। यही सब विचार करके चाणक्य ने पुनः निश्चय किया–अब मुझे यहाँ अधिक दिन नहीं रहना चाहिए।

हिरण्यवती के किनारे ऐसा विचार करता वह बड़ी देर तक बैठा रहा। उसने राक्षस के पास जाकर विनती करने का निश्चय किया कि आप चन्द्रगुप्त के सचिव बनें, तभी मगध-देश और नन्द-राज्य स्वतन्त्र रहेंगे, नहीं तो पता नहीं क्या हो जायेगा। मैं मगध छोड़कर हिमालय की गुफा में तपस्या करने जा रहा हूँ। 'तुम परदेशियों को मैं किसी प्रकार की सहायता न दूँगा। मगध देश में यवनों को पैर जमने देने में मैं ज़रा भी सहायक न बनूँगा।'–राक्षस का ऐसा उत्तर सुनकर चाणक्य के मन में उसके प्रति बड़ा मान उत्पन्न हो गया। परदेशियों को एक बार भीतर ले लिया तो बाहर निकालना बड़ा कठिन होता है–करीब-करीब असम्भव ही होता है। कौटिल्य से शायद वह संभव हो भी जाये, पर सबके लिए कुटिलता का प्रयोग और सर्वकाल के लिए कुटिलता का प्रयोग असम्भव है। राक्षस ने शाकलायन को साफ़ धता बता दी–उसकी महत्ता का यह प्रमाण है। वह कुटिल नीति नहीं जानता। उसने सरल नीति से काम लिया, तभी मेरी कुटिलता के फंदे में फँस गया। राज-सचिव में रात-दिन जागरूकता रहनी चाहिए, वह उसमें न थी। अपने नीचे के अधिकारियों से जितनी सौम्यता और बनावट के साथ बात करनी चाहिए वैसी उसने नहीं की। यही उसका दोष है। पर वह दोष इस नये अनुभव से चला जायेगा। जो मुख्य गुण होने चाहिए–परमनिष्ठा, स्वामिनिष्ठा और स्वदेशनिष्ठा–वह उसमें पूर्ण रूप से भरे हैं। भागुरायण में वह निष्ठा नहीं। जैसे भागुरायण मेरी कुटिल बातों में आ गया, वैसे राक्षस नहीं आने का। अतएव राक्षस को सचिव बनाने के लिए मुझे प्रयत्न करना चाहिए। मैं उसके पास जाऊँ, उससे नाना प्रकार की बातें कर अन्त में उसके मुँह से 'हाँ' उत्तर लेकर ही उठूँ। वह तैयार हो गया, तो वह और भागुरायण राज्य-रथ की धुरी कंधे पर लेकर सभी व्यवस्था कर लेंगे। वैसे चन्द्रगुप्त भी निपुण है। एक बार राज्य-रथ सुव्यवस्थित होकर चलने लगा, तो वह दिग्विजय करके रहेगा। जब मैं तपस्या के लिए बैठूँ, तो उसकी दिग्विजय का जय-जयकार सुनाई पड़ने लगे, तो अपना काम हो जाये। ऐसे अनेक प्रकार के विचार करता हुआ चाणक्य अपनी पर्णकुटी में गया। अनन्तर वह चन्द्रगुप्त के राजप्रासाद में गया। वहाँ बड़ी देर दोनों बातें करते रहे, तत्पश्चात्, चाणक्य ने साथ में एक शिष्य लेकर राक्षस के निवास-

स्थान की ओर प्रस्थान किया।

इकतालीसवाँ परिच्छेद

राक्षस और चाणक्य

राक्षस अपने घर में चुपचाप बैठा था। अपनी व्यवस्था पर प्रतिदिन उसे तरस आता था। मैं इतना अन्धा कैसे हो गया? मेरे पाटलिपुत्र में रहते इतने भयंकर षड्यन्त्र रचने वाला, मेरे आदमियों को फोड़ लेने वाला पुरुष भी कैसी बुद्धि का होगा? और उसके मन से मैं कितना दुर्बल हूँ। राक्षस के मन में रह-रहकर ऐसे ही विचार आ रहे थे। जिस दिन राजा धनानन्द मुरादेवी के महल में गया, उसी दिन से नन्दवंश का नाश प्रारम्भ हुआ। जब कुमार सुमाल्य का यौवराज्याभिषेक हुआ, तो उस दुष्ट मुरा को बन्धन-मुक्त करने में बड़ी भूल हुई। पर उसके हाथ से ऐसे कर्म की कौन आशा करता था। खैर, जो हुआ सो हुआ। पर अब आगे क्या हो? अब तक जिन यवनों और म्लेच्छों का पैर मगध की भूमि पर न पड़ने दिया था, अब उन्हें यहाँ घुस आने का मौक़ा मिलेगा क्या? पर्वतेश्वर को जाली पत्र लिखकर वह थोड़ी सेना के साथ बुलवाकर पकड़ना अलग बात है और अपने पिता के साथ विश्वासघात का बदला लेने के लिए सेल्यूकस की सहायता से आक्रमण करने वाले मलयकेतु को हराना और बात है। यह नहीं कि यह काम करने के लिए मगध में सेना नहीं है, पर अकेले भागुरायण के हाथ से सैन्य-व्यवस्था हो सकेगी अथवा नहीं, इसमें सन्देह है।

राक्षस के हाथ में अब कोई सत्ता न थी। चाणक्य ने उसे दूध में से मक्खी के समान राज्य-व्यवस्था से निकाल फेंका था। परन्तु मगध पर संकट की बात सुनते ही उसका हृदय तिलमिला उठा। उसकी समझ में ही न आता था कि क्या करे। चन्द्रगुप्त को मगधराज मानकर उसकी सहायता करना भी उसे मान्य न था। यवनों की सहायता से मगध को जीतने का स्वप्न देखने वाले मलयकेतु की सहायता का अर्थ था मगध को यवनों के जबड़े में दे देना। यह भी असम्भव था। ऐसी स्थिति में केवल चुप बैठना ही उसके वश की बात थी।

उसके मन में नाना प्रकार के विचार चल रहे थे, पर उसके समान लोगों को चुप बैठना कैसे रुचेगा? वह बिल्कुल अस्वस्थ चित्त हो बैठा था, कि इतने में ही प्रतिहारी ने सूचना दी कि आपसे कोई मिलने आया है। "कौन है?" पूछने पर उत्तर मिला कि "कोई ब्राह्मण और उसके साथ एक शिष्य।" राक्षस ने क्षणमात्र विचार किया। कौन ब्राह्मण हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता। कोई अतिथि-अभ्यागत होगा, ऐसा सोचकर उसने लिवा लाने की आज्ञा दी। प्रतिहारी ब्राह्मण को लेकर अन्दर आया। राक्षस ने उठकर ब्राह्मण को एक उच्च आसन दिया, शिष्य मृगछाला पर बैठ गया। ब्राह्मण बैठा। उसने शिष्य को बाहर जाकर खड़े रहने का संकेत किया। शिष्य चला गया। ब्राह्मण अत्यन्त तेजस्वी दिखाई पड़ा। चाणक्य के स्वरूप का वर्णन राक्षस ने सुन रखा था–क्षणमात्र उसके मन में यह विचार आया कि कहीं यह वही तो नहीं है–पर चाणक्य अपने पास क्यों आयेगा? ऐसा सोचकर उसने उस प्रश्न को मन से निकाल दिया। ब्राह्मण को आसन पर बैठता देखकर राक्षस ने पुनः

अभिवादन किया और नम्रतापूर्वक बोला– "ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं ऐसी कौन-सी सेवा करूँ कि आप प्रसन्न हो जाएँ? किस कार्यवश राक्षस के घर में आपकी चरण-रज पड़ी है?"

यह सुनते ही ब्राम्हण बोला– "अमात्यश्रेष्ठ..."

परन्तु राक्षस ने उसे बीच में ही रोककर कहा– "ब्राह्मण, मैं अमात्य नहीं हूँ। इस पुष्पपुरी में गत कुछ दिनों में जो हाहाकार हुआ, उसे आपने सुना ही होगा। तब आप मुझे अमात्य क्यों कहते हैं?" "क्यों, उस हाहाकर के होने से आपके मन्त्रित्व को क्या बाधा पहुँची ? पुष्पपुरी के सिंहासन के अमात्य आप ही हैं। अमात्य पदवी के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे आप में हैं। तब आप अमात्य क्यों नहीं हैं? मेरे लिए तो आप अमात्य ही हैं, और मैं आपको अमात्य ही कहूँगा!"

इतना कहकर ब्राह्मण किंचित् रुक गया। राक्षस उस आज्ञा के रूप में कही गई वाणी को सुनकर स्तब्ध रह गया। ब्राह्मण आगे बोला– "अमात्यश्रेष्ठ, मेरी ख्याति कुटिल करके है। लोग मुझे 'कौटिल्य' नाम से सम्बोधित करते हैं, ऐसा मैंने सुना है। जो कुटिलता से साध्य हो, वह कुटिलता से साधना चाहिए; जो सरलता से बनता हो, उसे सरलता से बनाना, यही मेरी नीति है। आपको अपने पक्ष में लाने के लिए सरलता के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है। यह मगध का राज्य आपके बिना नहीं चलेगा। उसकी धुरी के लिए आपके समान पुरुष-पुंगव की आवश्यकता है। यही समझकर मैं सरलता से बोलने आया हूँ।"

अब बोलने वाले मनुष्य के बारे में राक्षस को शंका न रही कि यह कौन है। प्रथम तो उसने विचार किया कि राजकुल का सर्वनाश करने वाले और मेरा सर्वनाश करने वाले इस व्यक्ति को मैं धकेलकर बाहर निकाल दूँ; पर तत्पश्चात् यह सोचकर कि अपने घर आये अतिथि के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये, वह ब्राह्मण की और केवल देखता रहा।

अपनी पहली बात का अच्छा परिणाम हुआ देखकर ब्राह्मण आगे बोला कि अमात्यश्रेष्ठ, तुम सीधे-साधे हो, अतएव मैं सीधेपन से बातें करने आया हूँ। नन्द ने मेरा अपमान किया, तो मैंने उसका समूल नाश किया। तुम्हारी उसके प्रति निष्ठा है, पर अब तुम वह निष्ठा चन्द्रगुप्त के लिए अर्पण करो। यह उसका सचमुच पूरा उपयोग..."।

ब्राह्मण की यह बात सुनते ही राक्षस के नेत्र कपाल पर चढ़ गये। ब्राह्मण के बारे में कि वह कौन है, अब उसे शंका थी ही नहीं। वह तत्काल बोला–"क्या राजवंश का नाश करके उस व्याधपुत्र को सिंहासन पर बैठाने वाला चाणक्य तू ही है? मेरे घर आकर इस प्रकार धृष्टतापूर्वक बात करने वाला और कौन हो सकता है? सदा कुटिलता से काम करने वाला मनुष्य सरलता की आड़ में भी कुटिलता ही करते हैं। मेरे सरलपन की इतनी प्रशंसा क्यों करता है? मुझे मेरे अन्धेपन का फल मिल गया–क्या यही कहने तू मेरे घर आया है? ठीक, पर अब मैं अन्धेपन का अनुभव कर चुका हूँ। मैं यह मानकर अब अन्धा नहीं बनना चाहता कि तू हृदय से मुझे अमात्य-पद देने आयेगा। तू क्यों आया है, यह मैं समझता हूँ। मेरी आँख से तरह-तरह में धूल झोंककर तूने मुझे अन्धा बनाया, अब मुँह से बातें करके मेरी भर्त्सना करने आया है। अच्छा है। जब मैंने ही अपनी भर्त्सना कर ली, तब तू मेरे मुँह पर उसका वर्णन कर मुझे और भी लजाने क्यों न आयेगा? पर चाणक्य, तेरे स्वयं के मुँह से मेरे

अन्धेपन का वर्णन करके जो सन्तोष न मिलेगा वह स्वयं मेरे वर्णन करने से मिलेगा। सुनो, मुरादेवी के महल में, जिसे मैंने अपना गुप्तचर बनाया उसे ही तुमने मेरे घर में गुप्तचर नियुक्त किया, उसके द्वारा तुमने मेरे हिरण्यगुप्त–नहीं, मेरी एक आँख को फोड़ दिया और उसके पास से...”।

राक्षस और भी बोलने जा रहा था कि चाणक्य ने बीच में ही रोककर कहा– “अमात्य, उन सब बातों का वर्णन करके व्यर्थ क्यों उद्वेग करते हो? मैं सचमुच इसलिए नहीं आया।”

“फिर किसलिए आपने इतना कष्ट किया?”

“आप चन्द्रगुप्त के अमात्य होकर राज्य-शकट अपने हाथ में लेकर मगध देश की पहले से भी अधिक सुव्यवस्था करें!”

“फिर जो बात त्रिकाल में भी नहीं हो सकती उसे ही कराने आप आये हैं?”ऐसा राक्षस ने कहा।

“क्यों भला? त्रिकाल में भी यह बात क्यों नहीं हो सकती?”

“राक्षस से हिरण्यगुप्त को फोड़ना और स्वयं को फोड़ना दो भिन्न बातें हैं!”

“यह मैं जानता हूँ। आप भी चाहते हैं कि मगध का राज्य यवनों के हाथ में न जाये और अब यवन आक्रमण करने की तैयार हैं।”

“जिसके हाथों में व्यवस्था है, वह सावधानी से काम लेगा।”

“वह लेगा या नहीं–यह बात छोड़िए। पर, उसे आपकी सहायता चाहिए–तभी मैं आया हूँ।”–चाणक्य ने कहा।

“नन्द के अतिरिक्त किसी भी अन्य की सेवा न करने की मेरी प्रतिज्ञा है।”

“क्या आप मगध देश की–पाटलिपुत्र की सेवा नहीं करेंगे?”चाणक्य ने कहा।”

“कदाचित् नहीं, वह यवनों को मिलेगा–कौन जाने ?”

“यह काम त्रिकाल में भी आपके हाथ से न होगा–ऐसा हमारा विश्वास है। फिर आपकी ऐसी बातों में मैं नहीं आऊँगा।”

“यह विश्वास आपको कैसे हो गया? कोई बहुत बड़ा कारण होना चाहिए।” राक्षस ने पूछा।

“कारण आपकी स्वयं की बात, और क्या ?”

“मेरी स्वयं की बात ? मैं किससे ऐसा कहने गया था ?”

चाणक्य ने कहा–“शाकलायन से।”

“क्या, क्या शाकलायन ने सब बातें आपको बता दीं। आपके पास जाकर उसने मेरे साथ की हुई बातें बता दीं, आप यह क्या कहते हैं?”

“वही अकेला कहने को थोड़े ही था ?”

“तब कहना चाहिए कि आपके चर मेरे घर में अन्दर तक हैं! अब किस का विश्वास

किया जाये? चाणक्य, तेरी भी क्या करामात है।"

"आपके घर का कोई नहीं है। व्यर्थ सन्देह न कीजिए। शाकलायन के साथ आया हुआ नाई मेरा ही आदमी था। उसी ने सब बताया। अब आगे जो कहना हो, कहिए।"

यह सुनते ही राक्षस स्तब्ध रह गया। शाकलायन के साथ का मनुष्य चाणक्य का चर था और स्वयं शाकलायन ने नहीं जाना। वाह-वाह! चाणक्य ने भी कमाल किया! ऐसे उद्गार राक्षस ने अपने मन में किये, अनन्तर उच्च स्वर से चाणक्य से बोला–"मैंने यदि शाकलायन को ही फँसाने के लिए वैसा कहा हो तो?"

"अब आपके प्रश्न का दूसरा उत्तर क्या है? वह कुछ भी हो, पर पुरानी बातों को भूलकर अब आप मन्त्रिपद स्वीकार करें। नन्द-समय के आपके अधिकार में और अबके अधिकार में कोई अन्तर नहीं पड़ने पायेगा। कुटिल नीति सदा उपयोगी नहीं होती। यदि लोकमत आपके विरुद्ध हो गया है जो शीघ्र ही बदल जायेगा। उसमें देर नहीं लगेगी। आपके विषय में किसी को द्वेष नहीं है। मेरा क्रोध नन्द पर था। अपने अपमान का बदला लेने के लिए मुझे उसके वंश का नाश करना था, वह मैंने कर दिया। अब इस राज्य के प्रति मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि आप उसे अपने हाथ में लेने को तैयार हो जायें तो मैं हिमालय तपस्या के हेतु चला जाऊँ। मेरी केवल एक इच्छा है। इन यवनों को गांधार के परे खदेड़ दें। चन्द्रगुप्त वीर है। यदि आप उसे सहायता देंगे तो यह काम सफल हुआ समझें। आप तक्षशिला में यवनों के राज्य में नहीं रहे हैं, नहीं तो जानते कि निरीह प्रजा पर वे लोग कैसे-कैसे अत्याचार करते हैं..."

अन्त में चाणक्य राक्षस से इस प्रकार धड़ाधड़ बातें करता गया मानो राक्षस ने मन्त्रिपद स्वीकार कर लिया हो। पर, राक्षस उसे बीच में ही रोककर बोला– "चाणक्य, मुझे अपने स्वामी का घात करने वाले से एक शब्द भी न बोलना चाहिए था। इतनी देर तक मैं बोला, इसी के लिए पछता रहा हूँ। जब तक तुम यवनों के विरुद्ध मगध का संरक्षण कर रहे हो, मैं तुम्हारे विरुद्ध न खड़ा होऊँगा। तुम्हें किसी प्रकार का विघ्न नहीं पहुँचाऊँगा। तुम इसलिए मुझे सचिव बनाना चाहते हो न? मैं यवनों से मिलकर तुम्हारे विरुद्ध मोर्चा नहीं खड़ा करने दूँगा, घर का भेदी भी नहीं बनूँगा, अब मेरे हाथ में है ही क्या? मेरा आश्वासन देना भी व्यर्थ है। पर तुम तीन-तीन बार आग्रह कर चुके, तभी कह देता हूँ। नहीं तो अब मेरा क्या मूल्य है?

"अमात्य, ऐसा न कहो। मैंने तुम्हें फँसाया और तुम फँस गए। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं तुम्हारा मूल्य नहीं जानता। मैं तुम्हारी योग्यता जानता हूँ, तभी एक बार भागुरायण को भी तुम्हारे पास भेजा था। फिर चन्दनदास का कपट-नाटक रचकर मित्र-स्नेह में दबकर तुमसे अमात्य-पद स्वीकार करने को कहा। फिर जब यह विचार आया कि कहीं तुम शत्रु से तो न मिल जाओगे तब सिद्धार्थक को शाकलायन के साथ तुम्हारे पास भेजकर परीक्षा की, और यह जानकर कि मगध के प्रति प्रेम और यवनों के लिए द्वेष तुम्हारे हृदय में पूर्णरूप से है, मैं स्वयं विनती करने आया हूँ। अब तुम्हीं देखो कि हम तुम्हारी योग्यता को जानते हैं कि नहीं। अब कहो, मेरी विनती के अनुसार चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करोगे न?"

“चाणक्य, मैंने एक बार कह दिया न, कि राक्षस नन्द को छोड़ और किसी की सेवा नहीं करेगा। फिर आप क्यों आग्रह करते हैं? मुझे अपनी प्रतिज्ञा से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है।”

“यह प्रतिज्ञा दृढ़ रखोगे न? यदि कोई नन्द सिंहासन पर बैठेगा, तो मन्त्रि-पद स्वीकार करोगे न?”

“यह प्रतिज्ञा दृढ़ है। जो कोई नन्द मिलेगा उसकी सेवा करुँगा। चाणक्य, तुम नीति-निपुण हो; पर मैं तुम्हारी कुटिलता से भय खाये बिना कहता हूँ कि यदि नन्द वंश का कोई छोटा-सा अंकुर भी मैं देख पाया, तो मन, वचन और कर्म से उसकी सेवा करुँगा। उसके लिए ही हर प्रयत्न करूँगा और तुम्हारे चन्द्रगुप्त को उच्छिन्न करके इस सिंहासन पर उसे बैठाकर उसका साचिव्य स्वीकार करूँगा।”

राक्षस की बात सुनकर चाणक्य किंचित् हँस दिया। राक्षस को यह देखकर बुरा लगा। वह बोला–“चाणक्य जी-भरकर हँस लो। मेरी बात को असम्भव जानकर ही तुम हँस रहे हो...।”

“छि:-छि:, तुम्हारी बात सम्भव है, तभी तो हँस रहा हूँ। असम्भव समझकर नहीं।”

“यह बात भी मेरा परिहास करने के लिए है न? कारण, आज इस समय मेरी यह बात ठीक वैसे ही असम्भव है जैसे हिरन के सींगों का धनुष धारण करके, आकाश-पुष्पों का बाण बनाकर, डोलने वाला वन्ध्यापुत्र मिलना असम्भव है। जब मुझे ही असम्भव लगता है तब तुम्हें लगता है तो आश्चर्य ही क्या है?”

“पर, मुझे तो असम्भव नहीं लगता। कहो तो सिद्ध करके बता दूँ।”

यह सुनकर राक्षस खिन्न होकर चाणक्य की ओर देखता रहा। तब चाणक्य उससे बोला–“अमात्य, अब मैं आपसे केवल एक बात पूछूँगा? क्या आपका यह निश्चय दृढ़ रहेगा कि नन्द-वंश के अंकुर के दिखाई पड़ने पर उसे सिंहासन पर बैठाकर मन्त्रित्व स्वीकार करेंगे? इस निश्चय में ज़रा भी अन्तर तो नहीं पड़ेगा?”

“नहीं, नहीं, नहीं। तीन बार कहता हूँ।”

“नन्द का अंकुर तुम्हारे सामने लाकर खड़ा करता हूँ। यदि चन्द्रगुप्त को नहीं तो उसे स्वीकार करो, और क्या। पर उसके पहले इधर देखो। यह क्या है? रक्षा-बन्धन है न ?”

राक्षस यह रक्षा-बन्धन देखते ही उछल पड़ा और बोला– “हाँ! यह रक्षा-बन्धन नन्द के घर का है। सिंहासन पर बैठे हुए राजा के पहले पुत्र होते ही इस रक्षा-बन्धन के बाँधने का रिवाज है। पर इस रक्षा-बन्धन के बारे में क्या बात है?”

चाणक्य बोला–“अभी कहता हूँ। शारद्वत अन्दर आओ।” बाहर खड़ा चाणक्य का शिष्य अन्दर आया। चाणक्य ने उसे राक्षस के सामने खड़ा किया और दायाँ हाथ फैलाने को कहा, और बोला–“राक्षस, इस बालक के हाथ पर के चिह्न देखो। तुम सामुद्रिक चिह्न पहचानते हो, तभी दिखाता हूँ। ये सब चक्रवर्ती के चिह्न हैं न?”

देखकर “हाँ, हैं तो!” इतना कहकर राक्षस किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। उसकी समझ में ही न आया कि यह सब क्या मामला है?

"राक्षस, तुम ही विचार करो। जो सच्चा राजांकुर नहीं है, उसके हाथ पर ऐसा चिह्न सम्भव है? नहीं न!"

राक्षस कुछ भी न बोला।

तब चाणक्य आगे बोला–"राक्षस, अब क्यों प्रतिज्ञानुसार नहीं कर रहे हो। यह लड़का, जो मैंने तुम्हारे सम्मुख खड़ा किया है, नन्दवंश का अंकुर है। इसके जन्मकाल के समय इसके मणिबन्ध पर यह रक्षा-बन्धन बँधा हुआ था। इसके ग्रह उत्कृष्ट थे, फिर भी एक अनिष्ट ग्रह के कारण जन्म के पहले बारह वर्ष इसे घोर दारिद्र्य में बिताने पड़े। इसकी माँ थी व्याधराज की कन्या, जिसे कि भागुरायण ने राजा को, व्याधराज को हराकर, अर्पण किया था। धनानन्द ने उससे गान्धर्व विवाह किया। उससे यह पुत्र उत्पन्न हुआ। ग्रहदशा के कारण उस पर संशय कर उसे जंगल में ले जाकर मार डालने को कहा गया। पर उसे आखिर चक्रवर्ती बनना था, इसलिए मारने वाले के दिल में दया-भाव जाग्रत हुआ, और यह बच गया। उस हत्यारे ने इसे हिमालय के एक पठार पर छोड़ दिया। वह कर्म-धर्म-संयोग से एक ग्वाले को मिल गया। ग्वाले ने उसे बारह-तेरह वर्ष ही पाला था कि वह मेरी नज़र में आ गया। उस समय मैंने उसके राज-चिह्न देख राजकुमारों की तरह उसे शिक्षा देने के लिए ग्वाले से माँग लिया। अब वह मेरे पास रहता है। इसको तुम अब अपनी प्रतिज्ञानुसार स्वीकार करो।"

यह सब सुन राक्षस की दशा विचित्र हो उठी। यह सब क्या हो गया। वह कुछ न समझ सका। वह एकदम स्तब्ध रहा। तब चाणक्य उससे फिर बोला–"अमात्य, अब क्यों नहीं बोलते ? मैंने जो कुछ कहा, वह तुम्हें असत्य मालूम होता है क्या? या यह सब-कुछ सत्य मानते हुए भी प्रतिज्ञा वापस लेने की इच्छा होती है?"

"चाणक्य, इस लड़के के सब लक्षण राज-चिह्न के दिखते हैं। यह चक्रवर्ती होगा, ऐसी रेखाएँ भी हैं। रक्षा-बन्धन भी नन्द का ही है, परन्तु उस..."

"अब परन्तु क्या ?"

"वह धनानन्द का पुत्र कैसे? जो लड़का जंगल में मार डालने के लिए भेजा गया था वही लड़का कैसे यह है?"

"जिसने इसका बारह वर्ष तक पालन किया यह पाटलिपुत्र में ही है। अगर चाहें तो मैं उसे बुला भेजूँ। पर, प्रतिज्ञानुसार अब इसको स्वीकार करने में पीछे न हटो। अपने वचन पर दृढ़ रहो।"

राक्षस ने कुछ समय तक विचार कर कहा–"चाणक्य, जिस मुरा ने प्रत्यक्ष अपने पति की हत्या की, उसके पुत्र को स्वीकार करना मुझे बिल्कुल ही नापसन्द है। फिर भी उस हालत में, जबकि नन्दवंश का कोई भी अंकुर शेष नहीं है, मैं इसको स्वीकार करता हूँ। पर मैं बलहीन–इसे हाथ में लेकर करूँगा क्या" ?

"मगध के राज-सिंहासन पर बैठा सकते हैं।"

"यह कैसे?"राक्षस ने खेद-पूर्ण हँसी से पूछा। उसे यह एक मज़ाक ही मालूम हो रहा था

कि और कुछ, कौन जाने!

“किसी की सहायता से!”चाणक्य ने उत्तर दिया।

“इस समय मेरी सहायता कौन करेगा? यह तो आगे की बात है।” राक्षस ने कहा।

“आगे की नहीं, आज की बात है। मैं तुम्हें पूरी सहायता देता हूँ।” चाणक्य ने वचन दिया।

“क्यों, चन्द्रगुप्त और आपकी लड़ाई हो गई क्या? उसे आप छोड़ देंगे?”राक्षस ने प्रश्न किया।

“छिः-छः, वैसा कुछ नहीं। इसको और उसको दोनों को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठाएँगे। तुम्हें तो कोई आपत्ति न होगी”।

“इसका अभिप्राय?”

“अभिप्राय क्या? यह चन्द्रगुप्त ही है!”

उपसंहार

चाणक्य जान-बूझकर चन्द्रगुप्त को शिष्य का भेष देकर अपने साथ लाया था। शिष्य के बारे में जो कुछ बातें उसने कहीं, वे वास्तव में चन्द्रगुप्त के बारे में थीं–ऐसा उसने राक्षस को बता दिया। राक्षस अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ और अन्त में अपने कथनानुसार उसने 'नन्दांकुर' चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद स्वीकार कर लिया। राक्षस को पुन: मन्त्री बनाने से भागुरायण थोड़ा नाराज़ हुआ। पर चाणक्य ने उसे समझा-बुझाकर शान्त कर दिया। राक्षस और चाणक्य के एक होने पर तो पूछना ही क्या था? सेल्यूकस और मलयकेतु के आक्रमण के पहले ही राक्षस ने अपनी एक प्रचण्ड सेना तैयार कराई जिसमें 6,00,000 पैदल, 30,000 घुड़सवार और 9,000 हाथी थे। ऐसी प्रचण्ड सेना और चन्द्रगुप्त जैसा पराक्रमी उसका मुखिया, फिर कहना ही क्या था? पहले ही आक्रमण में उसने सेल्यूकस और मलयकेतु की सेना की धज्जियाँ उड़ा दीं और सिर्फ वर्ष-डेढ़ वर्ष में ही सेल्यूकस को काश्मीर के पार खदेड़ दिया। अन्त में सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से सन्धि करके सिन्ध नदी के पूर्व का प्रदेश छोड़ दिया। उसने गांधार देश भी छोड़ दिया और अपनी पुत्री चन्द्रगुप्त को दे दी। उसने अपना मेगस्थनीज़ नाम का दूत चन्द्रगुप्त के पास भेजा। पर्वतेश्वर को छोड़ दिया गया। वह चन्द्रगुप्त के अधीन हो गया। राक्षस के मन्त्री बनने पर और सेल्यूकस की पराजय होने पर चाणक्य तपस्या के लिए हिमालय की गुफा में जा बैठा। चन्द्रगुप्त ने अपने पुराने साथियों को बुलाकर उन्हें सेना में स्थान दिया। अपनी माँ का अपने लिए इतना विलक्षण साहस जानकर चन्द्रगुप्त माँ के आदर के कारण अपने को "मौर्य" (मुरा का पुत्र) कहने लगा। उसने नन्द नाम छोड़ दिया, पर राक्षस उसे नन्द ही समझता था। वृन्दमाला और सुमतिका दोनों ही बौद्ध भिक्षुणियाँ बन गईं। वसुभूति के पश्चात् सिद्धार्थक विहारपति हुआ। उसने विहार का विस्तार खूब किया और परिणामस्वरूप बौद्ध-धर्म का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया।